महोपाध्याय मेघविजयगणिकृत

सप्तसन्धानः

एक समीक्षात्मक अध्ययन

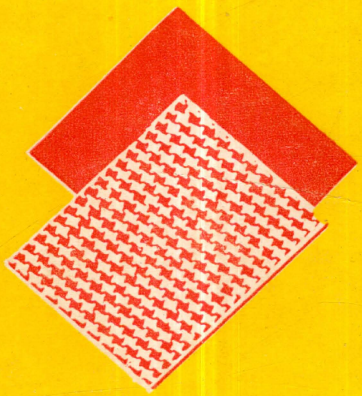

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

काव्य साहित्य के विशाल परिसर में सन्धान कोटिक काव्यों का स्वतन्त्र महत्त्व है। सप्त सन्धान श्लिष्ट काव्य की अद्भुत रचना है। इसमें सात भिन्न कथाओं प्रवाह एक साथ अविछिन्न गति से प्रवाहित हुआ है। लेखक ने अत्यन्त परिश्रम एवं गहन परिशीलन पूर्वक सप्तसन्धान महाकाव्य पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। जो सात अध्यायों में विभक्त हैं : सप्तसन्धानान्तर्गत भौगोलिक, धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली, सन्धान काव्य-ऐतिहासिक विवेचन, ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कथावस्तु/कथास्त्रोत, साहित्यिक परिशीलन, वर्णन कौशल, तुलनात्मक अध्ययन।

I.S.B.N. No. 81-7277-000-6 Rs. 150

महोपाध्याय मेघविजय 'गणि' प्रणीत

सप्तसन्धान महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध पर आधारित)

लेखक

डॉ० श्रेयांसकुमार जैन

प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,

दि० जैन पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज, बड़ौत (उ० प्र०)

1992

अरिहन्त इन्टरनेशनल

दिल्ली–110053

- ☐ भारतीय धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, भाषाविज्ञान, आयुर्वेद, योग, ज्योतिष आदि विषयों से सम्बद्ध विलुप्त हो रहे प्राचीन एवं अधुनातन मौलिक साहित्य को विश्वसनीय रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रतिबद्ध ।
- ☐ पाठकों की रुचि का संस्कार एवं स्तर निर्माण करने के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिए समर्पित ।
- ☐ देशगत किंवा जातिगत आग्रहों व व्यामोहों से मुक्त रहकर विश्वजनीन शाश्वत मूल्यों की प्रेरणा देने वाले चिन्तन को प्रसारित करने के लिए संकल्पशील ।
- ☐ स्वस्थ परम्परा और उदात्त-व्यवहार को स्थापित करने के लिए एक शालीन प्रयास की ओर अग्रसर—

अरिहन्त इन्टरनेशनल
बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-110053
द्वारा प्रकाशित

प्रमुख वितरक :
अरिहन्त इन्टरनेशनल
239, गली कुंजस, दरीबा, दिल्ली-110006
दूरभाष : 3278761

©सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित
संस्करण : प्रथम, 1992
मूल्य : एक सौ पचास रुपये
मुद्रक : सविता प्रिंटर्स, दिल्ली-110032

A Critical Study of 'Saptasandhan Mahakavya' of Mahopadhyay MeghaVijaya 'Gani'/Dr. Shreyans Kumar Jain/Rs. 150/-

आमुख

काव्य साहित्य के विशाल परिसर में संधानकोटिक काव्यों का स्वतंत्र महत्त्व है। सन्धान साहित्य का उद्भव श्लेष की प्रक्रिया से हुआ है। इन सन्धान काव्यों को उद्देश्यानुकूल चतुर्धा विभक्त किया गया है—श्लिष्टकाव्य, शास्त्रकाव्य, विलोमकाव्य और स्तोत्र काव्य (स्तुतिपरक फुटकर रचनाएँ)। चारों ही प्रकार के काव्यों में अनेकार्थत्व का प्राधान्य होता है। प्रत्येक श्रेणी के काव्य सम्प्रति उपलब्ध होते हैं। सप्तसन्धान श्लिष्ट काव्य की अद्भुत रचना है। इसमें सात भिन्न कथाओं का प्रवाह एक साथ अविछन्न गति से प्रवाहित हुआ है। आद्यन्त सभी घटनाएँ अपने मूलस्रोत 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' से सम्बद्ध हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम परिलक्षित नहीं होता है। यही कारण है कि यह काव्य सन्धान कोटि का शिरोरत्न कहा जाता है।

मेघविजयगणि ने अपनी गुरुपरम्परा में सर्वाधिक विषयों से संबंधित ग्रन्थों की रचना की है। इनमें न्याय, व्याकरण, ज्योतिष तथा आध्यात्मिक विषयों से सम्बद्ध अनेक कृतियाँ विद्यमान हैं जिनके आधार पर इनका सभी शास्त्रों का पाण्डित्य प्रकाशित है। प्रकृत काव्य में कवि ने प्रायः सभी विषयों का समावेश कर दिया है। तीर्थंकरों के पूर्वभव, गर्भ, जन्म के समय आदि शुभ मुहुर्तों की परिकल्पना गणितीय गणना के आधार पर की गयी है। इसके वर्णनीय सातों नायक क्षत्रियवंशोत्पन्न दिव्य पुरुष हैं। सातों महापुरुषों में ऋषभदेव ने भोगभूमि में जन्म लिया था, उनके ही समय में भोगभूमि समाप्त हो गई थी और कर्मभूमि का आविर्भाव हुआ था, अतएव मानव कल्याण के लिए प्रथमतः उन्होंने ही कर्म का उपदेश दिया था। ऋषभदेव सहित शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर, रामचन्द्र और श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन चरित भी इसमें अति संक्षिप्त रूप से एक साथ ही प्रतिपादित किया गया है।

एक पद से अनेकार्थ की प्रतीति श्लेषालंकार के कारण ही होती है। श्लेष का ही चमत्कारी प्रयोग सन्धान काव्य में मुख्य होता है, क्योंकि उसके बिना किसी भी काव्य में अनेकार्थत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है। अनेकार्थता ही सन्धान काव्य की हेतुभूत है। सप्तसन्धान में श्लेष के साथ ही साथ अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार भी प्रयुक्त हैं। अन्य अर्थालंकारों का भी इसमें सुन्दर सन्निवेश हुआ है, जो काव्य में कमनीयता की अभिवृद्धि करता है। माधुर्य आदि प्रायः सभी गुण रसाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं। जहाँ तक रीतियों का प्रश्न है, यथास्थान पांचाली सहित वैदर्भी आदि रीतियों का भी इसमें सम्यक् निर्वाह हुआ है।

प्रकृत काव्य के वर्णनीय नायकों के लिए मुक्तिरमा की उपलब्धि हुई है। सम्पूर्ण कर्म काव्य में मोक्ष प्राप्ति हेतु ही किये गये हैं। तीर्थंकर प्रभुओं ने राज्य-

सुख का उपभोग न कर, परमसुख प्राप्ति के लिए तपश्चरण आदि उपायों को अपनाया है। सभी नायक वैराग्य भावना से युक्त हैं, अतः इसमें 'शम' नामक स्थायी भाव की स्फुट अभिव्यक्ति हुयी है। इसीलिए सप्तसन्धान का मुख्य रस शान्त माना गया है। अन्य रस उसी के परिपोषक हैं। कवि का आग्रह श्लेष में होने पर भी वस्तु, अलंकार भाव आदि ध्वनियाँ भी विद्यमान हैं।

अलंकार बहुल इस काव्य में प्रायः दोषों का सद्भाव नहीं है। यद्यपि हाँ, ऐसे काव्यों में दोषों से सर्वथा बच पाना संभव नहीं है, तथापि मेघविजय का यह वैशिष्ट्य ही कहा जायेगा कि सप्तसन्धान में रस दोष कहीं भी नहीं आने पाये हैं जो काव्य में मुख्य माने जाते हैं। पद, वाक्य आदि दोष तो कवि की सतर्कता के बावजूद भी आ ही जाते हैं। इसीलिए कहा जा सकता है कि यह महाकाव्य साहित्यिक सभी विशेषताओं से अलंकृत है।

सप्तसन्धान का प्रकृति चित्रण सभी दृष्टियों से सुन्दर है। विविध नगर, वन नदी, पर्वत आदि वर्णनीय स्थलों का श्लिष्ट काव्यों में जैसा वर्णन होना चाहिए, उसी दृष्टि से यहाँ भी किया गया है, क्योंकि सन्धानकृतियों में वर्णनों को अधिक स्थान नहीं दिया जाता है। विविध कथानकों के संयोजन में भी कवि की दृष्टि लगी रहती है और घटना का व्यतिक्रम न हो, इसका भी ध्यान रहता है। इसलिए वर्णन संक्षिप्त ही किये जाते हैं। प्रकृति चित्रण में षड्ऋतुओं का चित्रण कवि ने माघ के समान किया है। तीर्थंकर के जन्माभिषेक काल में सुमेरू पर्वत पर एक साथ सभी ऋतुओं का आगमन वर्णित है, जो सौन्दर्यातिशय का सूचक है। श्लेष का निर्वाह करते हुए सभी ऋतुओं का पृथक्-पृथक् वर्णन भी अनुपम है, जिसे पंचम सर्ग में किया गया है। इनका यह प्रकृति चित्रण पूर्ण सजीव प्रतीत होता है।

इसका भौगोलिक वर्णन जैन भूगोल पर आधृत हैं। उसी के अनुसार इसमें भरतक्षेत्र, ऐरावत, सुमेरु पर्वत, कुरु, मगध, मध्य कौशल आदि देशों और उनके मध्य स्थित अयोध्या, हस्तिनापुर, शिवपूः, शौर्यपुर आदि नगरों तथा गंगा, सिन्धु आदि नदियों की स्थिति का चित्रण किया गया है। यहाँ इस काव्य में व्यवहृत प्राचीनकालिक स्थानों की वर्तमान में पहचान भी की गयी है।

प्रकृत काव्य की रचना एक जैन साधु कवि के द्वारा की गयी है और इसके प्रतिपाद्य मुख्यतः जैन तीर्थंकर ही हैं, अतएव यह महाकाव्य अनेक धार्मिक एवं एवं दार्शनिक विशेषताओं से संवलित है। ऋषभ आदि जिनेन्द्र प्रभुओं ने जिन दीक्षा धारणा की, उसके अनन्तर उन्होंने मुनिचर्या के अनुकूल सभी व्रत नियमों का यथोचित रीति से पालन किया। उसी प्रसंग में यहाँ आचारमीमांसा संबंधी अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि धार्मिक क्रियाओं का संक्षिप्त विवेचन

किया गया है। तपश्चरण पूर्वक तीर्थंकरों ने अन्तिम ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त किया। उनको केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर देवराज इन्द्र विशाल समवशरण की रचना करते हैं। समवशरण में सभी जाति के प्राणी शान्त भाव से बैठते हैं। उसमें जिनेन्द्र महाप्रभु उपदेश देते हैं। गणधर आदि से युक्त सभी प्राणी उन उपदेशों का श्रवण एवं मनन करते हैं तथा अपने-अपने आत्मकल्याण का उपाय सोचते हैं।

इसमें जिनेन्द्र प्रभु के उपदेशकाल के प्रसंग में ही अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का उपस्थापन किया गया है। उन्होंने स्याद्वाद किंवा अनेकान्तवाद की दृष्टि से आत्मतत्व का विवेचन किया है। यही अनेकान्तवाद सभी विषयों की आधारशिला माना जाता है। इस प्रकार सभी दार्शनिक विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए आत्मतत्व प्राप्ति की श्रेणियों (गुणस्थानों) का वर्णन भी किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का महत्त्व बतलाते हुए ऋषभ आदि जिनेन्द्र महाप्रभुओं के मोक्षपद प्राप्ति का चित्रण किया गया है। अतएव यह आचार और विचार विवेचन का एक सम्मिलित उदाहरण कहा जा सकता है।

सभी विशेषताओं से विभूषित सप्तसन्धान का अन्य समस्त सन्धान कृतियों में गौरवपूर्ण स्थान है। यह सात अर्थों की विशेषता से सम्पन्न तो है ही, साथ में अन्यचित्रण और महच्चरितों का समावेश भी हुआ है। सन्धान परम्परा में विद्यमान द्विसन्धान महाकाव्य एवं राघवपाण्डवीय ये दोनों महाकाव्य सप्तसन्धान की अपेक्षा कम चमत्कार के उद्भावक हैं। सन्धानकाव्य जगत का यह अलौकिक महाकाव्य है। यही कारण है, यह विद्वत् समाज में अधिक समादृत हुआ है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लेखक डॉ० श्रेयांसकुमार जैन ने अत्यन्त परिश्रम एवं गहन परिशीलन पूर्वक सप्तसन्धान महाकाव्य पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय 'संबंधित काव्य : ऐतिहासिक विवेचन' तो अद्यावधि प्राप्त सन्धान संशोधित ग्रन्थों के विश्लेषणात्मक परिचय से ओत-प्रोत हैं, जो इनकी गहन अध्ययनशीलता का परिचायक है। शेष ६ अध्याय तो मेघविजय गणि, उनके ग्रन्थ और सप्तसन्धान महाकाव्य से संबंधित है और सांगोपांग विवेचित हैं। कुछ संशोधन पूर्ति के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं। पृष्ठ ५०—ये लघु खरतरगच्छ के प्रवर्तक जिनसिंहसूरि के शिष्य हैं। आचार्य जिन प्रभु मुहम्मद तुगलक के प्रतिबोध दाता भी हैं और 'विविध तीर्थकल्प' जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों के निर्माता भी। पृष्ठ ८२—शीलविजय गणि ही थे, आचार्य पद पर अभिषिक्त नहीं थे।

सन्धान काव्यों में एक कृति का उल्लेख नहीं हो पाया है। वह कृति है—'अविदयद शतार्थी' इसके कर्त्ता हैं विनयसागरोपाध्याय। ये खरतरगच्छ की

पिप्पलक शाखा के सुमति कलश गणि के शिष्य थे और इनका समय १७वीं शताब्दी है। इसकी एकमात्र प्रति राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान शाखा कार्यालय कोटा में प्राप्त है।

लगभग २४, २५ वर्ष पूर्व मैंने 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' शीर्षक से शोधपूर्ण लेख लिखा था जो उस समय 'मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित हुआ था। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि एक अन्तराल के बाद उन्हीं मेघविजय गणि प्रणीत 'सप्तसन्धान महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अध्ययन' पुस्तक पर भूमिका लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। चिन्तन-मनन पूर्वक लेखन के लिए डॉ० श्रेयांसकुमार जैन बधाई के पात्र हैं।

महोपाध्याय विनयसागर
निदेशक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

प्राक्कथन

संस्कृत के विशाल वाङ्मय में काव्य का सर्वोपरि महत्त्व है। काव्य का सृजन युगानुरूप हुआ करता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न समय में काव्य के भिन्न-भिन्न स्वरूप, उसकी पृथक् मान्यताएं एवं उसकी विविध विधाएं परिलक्षित होती हैं। सन्धान काव्य सदृश विधा की रचनाएं भी युगानुरूप ही हुई हैं। इस काव्यविधा का साहित्य जगत में स्वतन्त्र अस्तित्व विद्यमान है। सन्धान शैली में लिखे गये अनेक काव्य सम्प्रति उपलब्ध होते हैं। इन काव्यों की एक लम्बी परम्परा होने पर भी काव्यशास्त्रियों ने काव्यभेदों के अन्तर्गत सन्धान नामक काव्य-विधा का कहीं भी स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा उस काव्य विधा का प्रत्यक्ष निर्देश न होने पर भी सन्धान काव्यों का अस्तित्व एवं महत्त्व है।

सन्धान काव्यों का मूलाधार प्रधान रूप से श्लेष है, क्योंकि काव्य-जगत् में उपलब्ध फुटकर श्लिष्ट पदों के द्वारा ही श्लेष प्रधान रचनाओं का उद्भव प्रतीत होता है। ऐसी ही रचनाओं ने धीरे-धीरे स्वतन्त्र काव्य का स्वरूप धारण कर लिया और कालान्तर में वे ही सन्धान काव्य के रूप में प्रख्यात हुयीं।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का विषय 'सप्तसन्धान महाकाव्य— एक समीक्षात्मक अध्ययन' मैंने कई कारणों को ध्यान में रखकर चयन किया। प्रथमतः धर्म से जैनमतानुयायी होने के कारण जैनसाहित्य के साथ निकट का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। द्वितीय बात यह है कि संधानसाहित्य जैन संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है, किन्तु इस साहित्य का वास्तविक स्वरूप अभी तक विद्वानों के समक्ष पूर्ण रूप से उपस्थित नहीं हो पाया है। इन गरिमामय साहित्यिक कृतियों में अनेकार्थता की प्रधानता है, जिसके कारण इनका अध्ययन कुछ दुष्कर-सा प्रतीत होता रहा है। सम्भवतः यही कारण है कि साहित्य की ऐसी महत्त्वपूर्ण विधा पर अद्यावधि विशेष कार्य नहीं हो पाया है। इस साहित्य की ८वीं शती से १९वीं शती पर्यन्त विशेष अभिवृद्धि हुई है।

लगभग १७वीं, १८वीं शती में जबकि हिन्दी साहित्य में रीतिकालीन कवियों का पूर्ण प्रभाव था और प्रायः सम्पूर्ण वातावरण ही शृंगारमय प्रतीत हो रहा था। ऐसे समय में महनीय पुरुषों के आदर्श चरित को काव्य में उपनिबद्ध करना ही एक महान् कार्य है, किन्तु जहां सात-सात महापुरुषों के जीवन चरित को श्लिष्ट शैली में एक साथ उपनिबद्ध किया गया है, वह तो निश्चयतः एक महान् प्रयास है, जो यदि एक ओर उन काव्यकारों के पुरुषार्थ का परिचायक है, तो दूसरी ओर महापुरुषों के असाधारण स्वरूप का प्रकाशक भी है। अतः इन काव्यकारों की रचनाओं द्वारा उन महापुरुषों के उपदेशामृत का पिपासु मैंने सप्तसन्धान महाकाव्य को ही अपने शोध का प्रतिपाद्य निश्चित किया।

सन्धान साहित्य पर समीक्षात्मक अध्ययन अब तक अत्यल्प ही हुआ है, क्योंकि सन्धान कृतियां या तो पूर्ण प्रकाश में नहीं आ सकीं अथवा अब भी सन्धान साहित्य का अधिकांश भाग पाण्डुलिपियों के रूप में ही ग्रन्थागारों की शोभा बढ़ा रहा है। इस परम्परा में द्विसन्धान, त्रिसन्धान, चतु संधान, पंचसन्धान, सप्तसन्धान और चतुर्विंशतिसंधान जैसे काव्य तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही इसके अन्तर्गत एक शब्द, एक वाक्य और एक श्लोक से एक सौ से भी अधिक अर्थ प्रकाशित करने वाली कुछ रचनाएं उपलब्ध होती हैं। समयसुन्दरगणि ने तो 'राजानो ददते सौख्यम्' इस वाक्य मात्र के आठ लाख अर्थ करके 'अष्टलक्षी' नामक रचना सदृश अद्भुत कार्य किया है। ऐसे विशाल साहित्य से सम्पन्न इस विषय पर अब भी पर्याप्त कार्य अपेक्षित है और जिस पर अनेक शोध कार्य किये जा सकते हैं। मेरा यह शोध कार्य तो इस दिशा में एक निदर्शन मात्र ही कहा जा सकता है।

पं० अगरचन्द्र नाहटा, बीकानेर के प्रति आभार व्यक्त करता हूं, जिनके माध्यम से शोध प्रबन्ध से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई। आदरणीय डॉ० रामायण प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में मुझे कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन, उनके सतत उत्साहवर्धन एवं वात्सल्य से ही यह कार्य पूर्ण हो सका। सम्मान्य गुरुवर डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य, प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, डॉ० श्रीनारायण मिश्र, आचार्य पं० रतिराथ झा, प्रो० मोहनलाल मेहता एवं पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री का भी ऋणी हूं, जिनसे समय-समय पर अनेक सुझाव प्राप्त हुए। सप्तसन्धान की अनेकार्थता सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने और सातों पक्षों में अर्थों की संगति बैठाने में पं० झा जी का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण महाकाव्य का हिन्दी अनुवाद करने में मुझे सफलता मिली।

अग्रज श्री सतीश चन्द्र जैन, परमस्नेही डॉ० जयकुमार जैन एवं डॉ० कपूर चन्द जैन, सहधर्मिणी श्रीमती ज्योति माला जैन आदि के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूं, जिन्होंने इस शोध कार्य में अनेक प्रकार से सहयोग दिया। साथ ही उन समस्त साहित्यविदों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूं, जिनके ग्रन्थों एवं लेखों से मैंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता प्राप्त की है।

अन्त में महोपाध्याय श्री विनय सागर जी निदेशक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के सक्रिय सहयोग का उल्लेख, मात्र औपचारिकता नहीं है, वरन् हार्दिक कृतज्ञता का ज्ञापन है। मैं मेघ प्रकाशन को हार्दिक धन्यवाद देता हूं, इन्होंने सुरुचिपूर्ण स्तरीय ग्रन्थ प्रकाशन के दायित्व को बड़ी तत्परता से निभाया है। अनेक त्रुटियां सम्भाव्य हैं, जिनके सुधीजनों द्वारा निर्दिष्ट होने पर लेखक अपने को अनुगृहीत समझेगा।

—श्रेयांसकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

सप्तसंधानान्तर्गत भौगोलिक, धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली : 3

सन्धानकाव्य ऐतिहासिक विवेचन : 17

काव्य-स्वरूप, सन्धान का अर्थ, प्रयोग तथा परिभाषा, श्लेष विचार, सन्धान काव्य का वैशिष्ट्य, सन्धान काव्य का उद्देश्यानुकूल विभाजन, श्लिष्ट काव्य—दण्डी विरचित सन्धान काव्य, धनंजयकृत द्विसंधान महाकाव्य, ऋषभनेमि काव्य, नाभेयनेमिकाव्य, रामचरित, पार्वतीरुक्मिणीयम्, श्रुतकीर्तिकृत राघव-पाण्डवीय, हेमचन्द्र सूरिकृत सप्तसंधान, नलयादवराघवपाण्डवीय, रसिक रंजनम्, अबोधारकम्, कौशल-कोसलीयम्, नैषधपारिजातम्, जगन्नाथ विरचित सप्तसंधान, कलिदूषणम्, राघव-यादव-पाण्डवीय, यादव-राघव-पाण्डवीय, राघव-नेषधीयम्, **शास्त्रकाव्य**—भट्टिकाव्य, कवि रहस्यम्, रावणार्जुनीयम्, द्वयात्रममहा- काव्य, श्रेणिक चरितद्वयात्रयकाव्य, धातुकाव्य, वासुदेव विजय, पाणिनीय द्वयात्रय विज्ञप्ति लेख, प्रथमपत्र, द्वितीय पत्र, **विलोम काव्य**—रामकृष्ण विलोम काव्य, शब्दार्थ-चिन्तामणि, श्री राघवयादवीयम्, अनुलोम प्रतिलोम पद्य, कंकणबन्ध रामायण प्रथम, कंकणबन्ध रामायण द्वितीय, **प्रकीर्ण काव्य**—अष्टोत्तरशतार्थी गाथा शतार्थीपद्य, षोडशोत्तरशतार्थी पद्य, पंचार्थकश्लोक, शतार्थी पद्य, पंचशतार्थी पद्य शतार्थ विवरण, दशोत्तरशतार्थी, दोससयशब्द के अर्थ, त्रिसन्धान स्तोत्र, पंचपरमेष्ठिनमस्कारस्मरण, उवसग्गहरस्मरणम्, अष्टलक्षी, काव्यद्वयर्थकरणपार्श्वस्तव, पार्श्वस्तव, विविधार्थमयसर्वज्ञस्तोत्र, विविधार्थमयविवरण, चतुर्विंशतिसन्धान काव्य, पंचविंशतिसन्धानकाव्य, श्रीमहावीरजिनस्तव, परागशब्दगर्भजिनस्तव, नमस्कार प्रथम-पदार्थाः, षष्ठपंचाशतार्थक-शब्द, एकचत्वारिंशतार्थक शब्द, सतार्थक शब्द, चतुःषष्ट्यर्थक वाक्य, मेघदूत के प्रथम पद्य के तीन अर्थ, हरिशब्दार्थगर्भितवीतरागस्तव, गोशब्द-काव्यम् ।

ग्रन्थकार और ग्रन्थ : 78

ग्रन्थकार का परिचय, स्थान निर्णय, समय निर्धारण, गुरुपरम्परा, उपाधि, प्रतिभाशाली कवि, दार्शनिक, वैयाकरण, ज्योतिषी, आध्यात्मज्ञानी, शंखेश्वर-भक्त, भाषा-शैली, मेघविजय नाम के दो कवि, **साहित्य**—दिग्विजयमहाकाव्य, सप्तसंधान महाकाव्य भविष्यदत्तचरित, पंचाख्यान, पंचमीकथा, **समस्यापूर्ति-काव्य**—मेघदूतसमस्यालेख, किरातसमस्यालेख, शान्तिनाथचरित, देवानन्द महाकाव्य, विज्ञप्तिपत्र, पाणिनीयद्व्याश्रयविज्ञप्तिपत्र प्रथम, द्वितीय पत्र, विज्ञप्तिका चित्रकोशकाव्य, विज्ञप्तिपत्र(1से4), **टीका ग्रन्थ**—विजयदेवमहात्म्य-विवरण, वृत्तमौक्तिकदुर्गमबोध, भक्तामरटीका, **व्याकरण**—चन्द्रप्रभा, हेमशब्द चन्द्रिका, हेमशब्द प्रक्रिया, **दर्शन**—मणिपरीक्षा, युक्ति प्रबोध नाटक,

धर्ममंजूषा, ज्योतिष—वर्ष प्रबोध, प्रश्नसुन्दरी, उदयदीपिका, जन्मपत्रीय पद्धति, रमलशास्त्र, हस्तसंजीवन, वीसयन्त्रविधि, आध्यात्म—अर्हद्गीता, ब्रह्मबोध, मातृका प्रसाद, ऐतिहासिक—तपागच्छ पट्टावली सूत्रवृत्थनुसन्धान, स्तोत्र एवं फुटकर रचनाएं—श्री रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र, पञ्चतीर्थ स्तुति, आदिजिनस्तोत्र, चतुर्विंशतिजिनस्तव, देवप्रभोस्तवनावचूरि, शब्द चन्द्रिका, गुर्जर भाषा की रचनाएं—कुमतिनिराकरण हुण्डीस्तवन, पार्श्वनाममालास्तवन, विजय-देव निर्वाणस्वाध्याय, विजयरत्नसूरिस्वाध्याय, कृपाविजयनिर्वाणरास, मक्सीपार्श्व-नाथस्तवन,

कथावस्तु/कथास्रोत : 126

कथावस्तु—प्रथम सर्ग, द्वितीय सर्ग, तृतीय सर्ग, चतुर्थ सर्ग, पंचम सर्ग, षष्ठ सर्ग, सप्तम सर्ग, अष्टम सर्ग, नवम वर्ग, कथावस्तु का मूलस्रोत—ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, तुलना—ऋषभ-नाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, रचना का उद्देश्य।

साहित्यिक परिशीलन : 150

सप्तसंधान का महाकाव्यत्व, अलंकार योजना, शब्दालंकार—अनुप्रास, यमक—मुखसंज्ञक यमक, पुच्छनामकयमक, पंक्तिनामकयमक, युग्मकनामक यमक, श्लोकार्धावृत्तियमक, शब्दश्लेष, शब्दार्थोभयश्लेष, श्लेष से विविध अर्थों का चमत्कार, अर्थालंकार—उपमा, लुप्तोपमा, रूपक, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तुल्योगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, समासोक्ति, व्याजस्तुति, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, परिसंख्या, अतद्गुण, उदात्त, संकर, अंगांगिभाव-संकर, संसृष्टि, छन्दो-विधान—उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवंशा, वंशस्थ, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, हरिणी, अनुष्टुप, स्वागता, शिखरिणी, द्रुतविलंबित, रस-भाव-विमर्श शान्तरस विचार, शृंगार, वीर, ध्वनि-अलंकार से वस्तुध्वनि, वस्तु से अलंकार ध्वनि, वस्तु से वस्तुध्वनि, अलंकार से अलंकार ध्वनि, भावध्वनि, गुणदोषविवेचन-माधुर्य, ओज, प्रसाद, दोष, अवाचकत्व, अप्रयुक्तत्व, अक्रमत्व, अपुष्टार्थत्व, च्युतसंस्कृति, क्लिष्टत्व, निरर्थकत्व, विरुद्धमतिकृत्व, विसंधित्व,

वर्णन कौशल : 196

भरत क्षेत्र, नगर, वन, पर्वत, नदियाँ, ऋतुवर्णन—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर, दिग्विजय, स्वप्न, नारी सौन्दर्य, दुर्जननिन्दा सज्जन प्रशंसा।

तुलनात्मक विवेचन : 225

सप्तसन्धान और द्विसन्धान महाकाव्य सप्तसन्धान और राघवपाण्डवीय।

सहायक ग्रन्थ सूची 232-240

सप्तसन्धानान्तर्गत
भौगोलिक, धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली

आर्यभाग (1/19) आर्यभाग का मात्र एक बार उल्लेख मिलता है। षट्खण्ड वाले भू-भाग में आर्यखण्ड स्वामी आदिनाथ के कारण सुशोभित होता है और वह वैताढ्य पर्वत से युक्त होने से भरतक्षेत्र रूप राजा के मुख के समान है। जैन भूगोल के अनुसार—गंगा व सिंधु नदियों तथा विजयार्ध पर्वत से भरतक्षेत्र के छः खण्ड हो गये हैं। उत्तर और दक्षिण भरतक्षेत्र में प्रत्येक के तीन-तीन खण्ड हैं। इनमें से दक्षिण भरतक्षेत्र के तीन खण्डों में मध्य का आर्य भाग है।

ऐरवत/ऐरावत (1/27) इसका प्रसिद्ध नाम ऐरावतक्षेत्र है। यह जम्बूद्वीप का प्रसिद्ध भाग है। ग्रन्थकार ने इसे सुमेरूपर्वत के बाएं भाग में स्थित माना है। इसमें इरावती नदी बहती है, जिसका जल रक्तवर्ण का होता है। इरावती नदी के कारण ही इस क्षेत्र का ऐरवत अथवा ऐरावत हो गया है। जैन भूगोल के अनुसार — शिखरीपर्वत के उत्तर और जम्बूद्वीप की जगती के दक्षिण भाग में भरतक्षेत्र के सदृश ऐरावतक्षेत्र स्थित है।

जम्बूद्वीप (1/16) यह सबसे विशाल द्वीप है। द्वीप समुद्रों के मध्य में सूर्यमण्डल के सदृश गोल और लक्ष योजन प्रमाण विष्कंभ व आयाम सहित जम्बूद्वीप कहा गया है। जम्बूद्वीप का क्षेत्रफल सातसौनब्बे करोड़ छप्पन लाख चौरानबे हजार एकसौपचास योजन प्रमाण है। तत्वार्थ सूत्र में इसका विष्कंभ एक लाख योजन बताया है। आठ योजन ऊंची विशाल दिव्य निर्मल वज्रमयवेदिकाजम्बूद्वीप को चारों ओर से वेष्टित करके स्थित है। इसके चारों ओर चारगोपुर द्वार हैं। सात क्षेत्रएक मन्दर-शिखरी (सुमेरू) एवं साथ में छः उन्नत कुलगिरि हैं। काव्यमीमांसा में भी जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अनेक देशों का उल्लेख हुआ,इसके मध्य में भरतक्षेत्र है।

महाविदेह(1/16)निषध पर्वत के उत्तर में और नील पर्वत के दक्षिण में विदेह क्षेत्र स्थित है। इसके मध्य में मन्दराचल विद्यमान है। इस क्षेत्र का विष्कम्भ 33684+4/19 तथा मध्य भाग में जीवा (माप विशेष) एक लाख योजन प्रमाण है। ग्रन्थकार ने कहा है कि 'स्वर्णाचल ने भरतक्षेत्र की सर्वानुकूलता को विचार कर महाविदेह को पूर्व और पश्चिम दिशा में स्थित कर भरत क्षेत्र को दक्षिण दिशा में ही स्थित किया। इससे स्पष्ट है कि सुमेरू पर्वत के पूर्व और पश्चिम दिग्भाग में महाविदेह विद्यमान है। यह भरतक्षेत्र से भी अधिक विस्तृत है।'

श्रीभारतम् 1/23 इसका विस्तार (526+6/19) भाग है। ग्रन्थकार ने इसे षट्खण्डों का पालन करने वाला कहा है। इसमें गंगा और सिन्धु नाम की नदियां हैं। यह सुमेरू पर्वत के दक्षिण भाग में स्थित है।

कुरू (1/28,4/15) कुरुवंशीय राजाओं से प्रसिद्धि को प्राप्त होने वाला भरत क्षेत्र का प्रदेश कुरुदेश था। कौरव वंश के मूल पुरुष कुरु नामक श्रेष्ठ राजा की प्रसिद्धि से कुरू नाम का देश कहलाया। इसमें हस्तिनापुर, शौरिपुर और द्वारका स्थित है। यह शान्ति, नेमि और श्रीकृष्ण का अवतार स्थल है। बौद्ध साहित्य के अनुसार यमुना के समीपवर्ती क्षेत्र में इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के आसपास का प्रदेश कुरु-जनपद था। इसकी राजधानी इन्द्रप्रस्थ थी। यह अपने आचार और शील में प्रसिद्ध था, किन्तु कहीं-कहीं हस्तिनापुर को ही इसकी राजधानी कहा गया है। जैन साहित्य में कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर ही मानी गयी है। वर्तमान दिल्ली के आसपास का प्रदेश ही कुरु-देश था।

कुशावर्त(1/22)ग्रन्थकार ने इसके लिए देश संज्ञा दी है और भरतक्षेत्र की नाभि के रूप में वर्णित किया है। मध्य-देश को कवि ने मध्यमांग कहा है। इससे स्पष्ट है कि कुशावर्त भरतक्षेत्र में मध्यदेश के ऊपर का भाग है। बौद्ध साहित्य में जैतवन के समीप सुदर्शन नाम का सुन्दर नगर माना गया है। इसी का अन्य ग्रन्थों में कुशावती नाम भी मिलता है। महापुराण में भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड के एक देश का नाम कुशवर है, यही कुशावर्त होना चाहिए। इसकी राजधानी सौरियपुर (शौरीपुर) *थी। वर्तमान बटेश्वर के पास सूर्यपुर* या सूरजपुर ही सौरीपुर है।

कौशल (1/28) यह एक जनपद था। इसकी प्राचीन राजधानी अयोध्या थी। प्राचीन बौद्धकाल में इसकी राजधानी श्रावस्ती कही गयी है। कौशल दो भागों में विभक्त था जिसके मध्य सरयू नदी विभाजक रेखा थी। उत्तर की ओर स्थित भाग को उत्तर कौशल और दक्षिण भाग को दक्षिण कौशल कहा जाता था। सप्तसन्धान में कौशल को एक देश रूप में वर्णित किया गया है। यह युग के आदि में उत्पन्न होने वाले आदिनाथ और श्रीराम की अवतार भूमि है। वर्तमान अयोध्या के आसपास का भाग ही प्राचीन कौशल था।

जंगल (1/22) यह देश गहन वनों से युक्त था। सप्तसन्धान में भरतक्षेत्र के कण्ठ-भाग के रूप में स्थित माना गया है। इसमें स्पष्ट है कि यह कुशावर्त से ऊपर का भाग और आर्यक्षेत्र से नीचे का भाग है क्योंकि आर्यक्षेत्र को टीकाकार ने भरतक्षेत्र का मुख माना है। वर्तमान में इसकी स्थिति का निर्णय नहीं हो पाया है।

मगध (1/28, 5/15, 8/5)ग्रन्थकार ने मगध को एक देश रूप में चित्रित किया है।इसकी राजधानी राजगृह थी। जरासन्ध इसका राजा था, प्राचीन राजगृह वर्तमान राजगृही है। मगध का विस्तार 300 योजन था, इसमें 80,000 गांव थे। मगध वर्तमान गया और पटना जिलों के अन्तर्गत फैला हुआ था। उसके उत्तर में गंगानदी पश्चिम में सोननदी, दक्षिण में

विन्ध्याचल का भाग और पूर्व में चम्पा नदी थी। कवि ने कहा है कि—मगध देश के राजगृह में अपने प्रतिकूल जरासन्ध को अपने क्रोध का लक्ष्य बनाकर वासुदेव श्रीकृष्ण राजगृह से चले गये थे। जिनेन्द्र प्रभु मगध देश के पुण्यस्थान राजगृह में क्रोधमुक्त होकर कायोत्सर्ग में अवस्थित हुए। टीकाकार विजयामृतसूरि को ब्राह्मणकुण्डनगर की सँभावना है।

मध्यदेश (1/22)हिमालय और विन्ध्य के मध्य, विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम के देश को मध्यदेश कहा गया है। वाराणसी मध्यदेश के अन्तर्गत ही स्वीकार की गयी है। बौद्ध साहित्य के अनुसार—मध्यदेश को पूर्व में पुण्डवर्धन नगर तक, दक्षिण में सरावती नदी तक, पश्चिम में स्थूण तथा उपस्थूण ब्राह्मण ग्रामों तक एवं उत्तर में उशीरगिरि तक विस्तृत है। ग्रन्थकार ने इसे भरतक्षेत्र का मध्यमार्ग भी कहा है।

विदर्भ(3/28)ग्रन्थकार ने एक देश के रूप में विदर्भ का वर्णन करते हुए कहा है—इसमें विवाह के पूर्व कुमारी के कर्त्तव्य का पालन करने वाली सुन्दर सुनन्दा नाम की कन्या थी। नैषधकार श्री हर्ष ने भी विदर्भ देश की कन्या दमयन्ती का सुन्दर चित्रण किया है। यह आधुनिक वरार है।

अयोध्या 1/39, 1/42 यह नगरीकौशल की राजधानी थी। इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं से सदा विभूषित रही है। तीर्थंकर ऋषभदेव एवं बलदेव राम के जन्म की कारणभूत होने से इसका नाम सार्थक है। वहाँ के लोग अभिमानी कामकन्दर्प के सौन्दर्य को पराजित करने वाले थे। वर्तमान उत्तरप्रदेश में सरयूनदी के तट पर बसी हुई उत्तरकौशल की राजधानी के रूप में प्रसिद्ध है। इसे साकेत भी कहा जाता है।

द्वारावती(5/18)द्वारावती का अपरनाम द्वारका या द्वारकापुरी भी है। इसमें श्रीकृष्ण रहते थे। यह समुद्र से घिरी हुई थी। जैनागम के अनुसार साढ़े पच्चीस आर्य देशों में द्वारका को सौराष्ट्र जनपद की राजधानी माना गया है यह नगर नौ। योजन चौड़ा और बारह योजन लम्बा था। इसके ईशानकोण में रेवतक गिरि है। ग्रन्थकार ने कहा है कि कृष्ण की अनुपस्थित में भी शत्रु इस पर आधिपत्य स्थापित नहीं कर पाये थे। इसलिए समुद्र इसकी परिखा बनकर इसकी रक्षा करने लगा। विहारकाल में जिनेन्द्र प्रभु के द्वारावती आने पर सम्पूर्ण नगर की शोभा बढ़ गई थी। वर्तमान गुजरात में इस नगर की स्थिति मानी जाती है।

ब्राह्मणकुण्ड(5/25)इसका मूल नाम कुण्ड ग्राम था। इसके दो भाग थे (1) क्षत्रियकुण्ड (2) ब्राह्मणकुण्ड। गण्डकी नदी के पश्चिम तट पर दोनों ही कुण्डग्राम स्थित थे। दोनों ही एक-दूसरे के पूर्व पश्चिम में पड़ते थे। यह मगध देश के मध्य में स्वीकार किया जाता है। यह वर्तमान में बसाढ़ या

वासुकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है।

मथुरा (1/40) इस नगरी में भावी तीर्थंकर कृष्ण वासुदेव का जन्म हुआ था। जैन एवं बौद्ध साहित्य में मथुरा का मदुरा, मधुरा तथा मथुरा नाम से बहुश: उल्लेख मिलता है। मथुरा शूरसेन की राजधानी थी तथा उत्तरापथ का महत्त्वपूर्ण नगर था। वर्तमान में प्राचीन मथुरा की पहचान आधुनिक मथुरा से दक्षिण पश्चिम 5 मील की दूरी पर स्थित वर्तमान 'माहौली' से की जाती है।

लंका (5/7) भारत के दक्षिण में स्थित सिंह अथवा सीलोन के प्रदेश को लंकापुरी कहा गया है। जहां जहाज द्वारा आवागमन होता था और वह राक्षसों के लिए प्रसिद्ध था। ग्रन्थकार ने कहा है कि हनुमान ने लंका की अशोक वाटिका में बैठी हुई सीता को खोजा था। यहां का आधिपति रावण था।

शिवपू (1/39) यह सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ की जन्मभूमि है। मध्यदेश के अन्तर्गत इस नगरी की स्थिति मानी गयी है। वर्तमान वाराणसी और उसके आसपास का क्षेत्र ही प्राचीन शिवपू: (शिवपुर) था। इसके 3 कोस दूरी पर स्थित सिंहपुरी में श्रेयांशनाथ और 16 मील दूरी पर चन्द्रावती नगरी में चन्द्रप्रभु ने जन्म लिया था। यह गंगा तट पर बसी हुई है और विश्वेश्वर के नगरी के रूप में विख्यात है।

शौर्यपुर (1/40) शौर्यपुर मध्यदेश के अन्तर्गत ही था। मध्यदेश की राजधानी भी इसको ही कहा गया है। हिमालय और विन्ध्य के मध्य, विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम के देश को मध्यदेश कहा गया है। यह नेमिनाथ तीर्थंकर की जन्मभूमि है। प्राचीन शौर्यपुर की वर्तमान शौरीपुर जिला काठियावाड़ (गुजरात) से पहचान की जा सकती है।

हास्तिनस्थान (1/39) यह कुरुदेश की राजधानी थी। इसे गजपुर नाम से भी कहा गया है। यह सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की जन्मभूमि है। वर्तमान मवाना तहसील में मेरठ से 22 मील उत्तर पूर्व में यह नगर है। जिनप्रभसूरि ने इसकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है—"ऋषभ के सौ पुत्र थे उनमें एक का नाम कुरु था, जिसके नाम से कुरु जनपद प्रसिद्ध हुआ। कुरु के पुत्र का नाम हस्ती था, उसने हस्तिनापुर नगर बसाया था। इस नगर के राजा श्रेयांस ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रथम पारणा करायी थी। यह भगवती भागीरथी के जल से पवित्र है।"

कोटिशिला (8/7) इससे करोड़ों संख्या में मुनिप्रवरों को मुक्ति प्राप्त हुई थी। इसीलिए इसको चक्रवर्ती भरत ने दिग्विजय के प्रसंग में ऊपर उठा लिया था। इसके विषय में कहा जाता है कि जो इसे उठावेगा वही रावण को मार सकता है। एक विशाल शिला होने के कारण यह कोटिशिला तीर्थ नाम से विख्यात हुआ। यह भरतक्षेत्र के मध्य मगधदेश में विद्यमान था। यह सिद्ध

क्षेत्र कहा जाता है।

प्रभास (1/20) यह काठियावाड़ में दक्षिण समुद्र तट पर स्थित सुप्रसिद्ध प्रभासपाटन या सोमनाथपाटन है। इसका वर्णन महीपाल के काल के नासिकगुहालेख (119-124 ई०) में हुआ है। ग्रन्थकार ने इसकी भरतक्षेत्र के चरण रूप में कल्पना की है।

मगध (मागध) (1/20) कवि ने प्रभास मागध नामक तीर्थों को भरतक्षेत्र के चरण रूप में कहा है। प्रभास तीर्थ की स्थिति गुजरात में स्वीकार की गयी है। इसकी स्थिति का निर्णय प्राप्त नहीं है। इसकी अधिक सम्भावना मगध देश के अन्तर्गत की जा सकती हैं।

दण्डक (5/19, 5/30) कालिदास ने दण्डक (दण्डकारण्य) का उल्लेख किया है, जो कलिंग देश की सीमाओं तक फैला हुआ एक विस्तृत जंगल था। श्रीरामचन्द्र ने अपने बनवास काल का अधिकांश समय यहीं व्यतीत किया था। इसका अनेक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। वर्तमान दक्षिण के विशाल प्रदेश को, जो नर्मदा एवं गोदावरी नदियों के मध्य में स्थित है, दण्डक वन माना जाता है।

नन्दन (3/2, 3/7) यह पांच सौ योजन प्रमाण विस्तार से सहित सुवर्णमय वेदिकाओं से वेष्ठित तथा क्षुद्रद्वारों के साथ चार तोरण द्वारों से संयुक्त है। इसके बाह्य भाग में 9954+6/11 योजन विस्तार है तथा बाह्य भाग की परिधि का प्रमाण 21479 योजन से अधिक है। इसकी स्थिति सुमेरूपर्वत पर मानी है। यह देवोद्यान भी कहा जाता है।

पाण्डुक (3/2) यह एक वनखण्ड है, जो सुमेरूपर्वत के शिखर पर स्थित है। सुमेरू के शिखर का विस्तार एक हजार योजन और उसकी परिधि इकतीस सौ बासठ योजन से कुछ अधिक है और रत्नमय प्रासाद है। वेदी के मध्य भाग में पर्वत की चूलिका को चारों ओर से वेष्ठित किये हुए पाण्डुक नामक वनखण्ड है। पाण्डुकवन में वन खण्डों की उत्तर दिशा में तटवन वेदी से युक्त अर्धचन्द्रमा के समान आकार वाली पाण्डुक शिला है। इसके ऊपर बैठाकर देवराज इन्द्र तीर्थंकर का जन्माभिषेक करते हैं।

भद्रशाल (3/2) सुमेरू पर्वत पर प्रसिद्ध एवं अत्यन्त पवित्र श्री भद्रशाल नामक वन है। इसका विस्तार क्रम से पूर्व व पश्चिम में 22 हजार योजन तथा दक्षिण व उत्तर में दोसौपचास योजन प्रमाण है। इस वन में चारों ओर एक-एक जिन मन्दिर है।

सौमनस—यह भी सुमेरू पर्वत पर ही स्थित है। यह पाण्डुक वन के नीचे छत्तीस हजार योजन जाकर मेरू को वेष्ठित करके स्थित है तथा पांच सौ योजन प्रमाण विस्तार से सहित सुवर्णमय वेदिकाओं से वेष्ठित चार गोपुरों से संयुक्त और क्षुद्र द्वारों से रमणीय है।

अष्टापद (3/6) जिसमें आठ धातुओं

का निवास है और जो रामचन्द्र के जन्मोत्सव का आश्रयस्थान है, वह अष्टापद नामक पर्वत है। इसे कैलास पर्वत से समीकृत किया गया है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार—अनेक ऋषियों और ऋषभदेव के पुत्रों ने यहां निर्वाण प्राप्त किया था।

ऋषभकूट (8/10) यह हिमालय पर्वत की श्रेणी विशेष का नाम है। अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त करने के अनन्तर भरत चक्रवर्ती ने इसके ऊपर चक्रवर्तियों की पंक्ति में अपने नाम का लेखन कराया था।

गोवर्धन (3/6) श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव प्रसंग में इस पर्वत का उल्लेख हुआ है। इसका श्रीकृष्ण के साथ अटूट सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण इस पर्वत पर अनेक वार गये। यह वर्तमान मथुरा नगरी के समीप विद्यमान है।

मेरू (1/26, 1/27, 1/43) ग्रन्थकार ने इसको अनेक नामों से अभिहित किया है यथा हेमाद्रि, देवगोत्र, अष्टापद, देवशैल और कांचनाद्रि। यह जम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थित है। इसकी नींव 1000 योजन और ऊंचाई 99000 योजन प्रमाण कही गयी है। कुल 1,00,000 विष्कम्भ वाला है। मेरू पर्वत की पहचान वर्तमान पामीर से की जाती है।

रजताजल (8/19) भरतक्षेत्र के बहुमध्य भाग में रजतमय और नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीय यह पर्वत स्थित है। यह पर्वत पच्चीस योजन ऊंचा; पचास योजन मूल में विस्तारयुक्त, सवा छः (ऊंचाई का एक बटा चार) नींव से सहित पूर्वापर समुद्र को स्पर्श करने वाला और तीन श्रेणियों में विभक्त कहा गया है। इसमें 50 योजन लम्बी, 8 योजन ऊंची और 12 योजन विस्तार से युक्त दो गुफायें हैं। ग्रन्थकार ने कहा है कि वैताढ्यपर्वत भरतक्षेत्र का मुख और उसकी श्रेणियां श्रोष्ठस्थानीय हैं, इससे स्पष्ट है कि भरतक्षेत्र में इसकी प्रधानता है।

वरदामगिरि (1/20) कवि ने भरतक्षेत्र के नितम्ब रूप में इसका वर्णन किया हैं। इससे भरतक्षेत्र के मध्य पश्चिम भाग में इसकी स्थिति की सम्भावना की जा सकती है।

शत्रुंजय (5/50) यह पर्वत प्राचीन काल से ही जैन तीर्थ स्थान माना जाता रहा है। इसका उद्धार करने वाला जितशत्रु नाम का राजा था। इसलिए यह शत्रुंजय नाम वाला हुआ। गौतम गणधर एवं अनेक मुनि इस पर्वत से मोक्ष गये हैं तथा रामचन्द्र ने भी इसी पर्वत से मुक्तिरमा का वरण किया था। यह सर्वाधिक प्राचीन जैन तीर्थ है। वर्तमान शत्रुंजय पर्वत सूरत के उत्तर पश्चिम में 70 मील की दूरी पर तथा भावनगर से 34 मील दूर काठियावाड़ जिले में स्थित है। इस पर्वत पर करीब साढ़े तीन हजार श्वेताम्बर जैन मन्दिर हैं।

समेतगिरि—यह पर्वतराज श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों का पूज्य तीर्थ स्थान है। इस पर्वत से

(ऋषभ, वासुपूज्य, नेमि और महावीर को छोड़कर) वीस तीर्थंकरों ने मुक्ति प्राप्त की थी। वर्तमान बिहार के हजारीबाग जिले में विद्यमान है। 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम पर इसके समीप की स्टेशन का नाम पारसनाथ है।

तमिस्रा (8/17)वैताढ्य पर्वत से आठ योजन ऊंची, पचास योजन लम्बी और बारह योजन विस्तृत दो गुफाएं हैं। इनमें वज्रमय उत्तम कपाटों से संयुक्त एवं नाना मणियों व रत्नों के परिणाम रूप तमिस्र गुफा पूर्व में और खण्ड-प्रपाता पश्चिम में है। विजयामृतसूरि लिखते हैं—"भरतचक्रवर्ती सेतुरूप पद्धति से उन्मग्न और निमग्न नाम की दो नदियों के साथ वैताढ्य पर्वतस्थ तमिस्र गुफा को लांघकर उत्तर दिशा में बढ़े।" वैताढ्यपर्वत के पूर्व में यह गुफा स्थित है।

खण्डनिपातिनी (8/11) इसका दूसरा नाम खण्डप्रपाता है। यह वैताढ्यपर्वत के पश्चिम में स्थित है। आठ योजन ऊंची, पचास योजन लम्बी और बारह योजन चौड़ी है। भरत ने दिग्विजय के प्रसंग में इस गुफा को पार किया था।

गंगा(1/17, 1/29)यह पद्मद्रह के पूर्व तोरणद्वार से निकलकर पांच सौ योजन प्रमाण पूर्व की ओर जाकर गंगाकूट को न पाकर अर्धयोजन पूर्व से दक्षिण की ओर मुड़ जाती है। पुनः पांच सौ तेईस योजन और अर्धकोश से अधिक जाकर हिमवान पर्वत के अन्त में वृषभाकार मणिमय उत्तमकूट के मुख में प्रवेश करके सौ योजन ऊंचे से चन्द्र के समान धवल गंगा नदी की धारा नीचे गिरती है। यह भारतवर्ष (भरतक्षेत्र) में प्रवाहित होती है। उक्त वर्णन के आधार पर वर्तमान गंगा से यत्किंचित साम्य परिलक्षित होता है पर ग्रन्थकार द्वारा किए गये वर्णन से भौगोलिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

रेवा (1/21) मेघविजय ने कहा है—'सहस्रार्जुन ने एक बार अपनी स्त्री के साथ जलक्रीड़ा करते हुए रेवा नदी के प्रवाह को अपनी हजार भुजाओं से अवरुद्ध कर दिया था।' कालिदास ने यक्ष को अलकापुरी का रास्ता बतलाते हुए कहा है—"आम्रकूट से चलकर विन्ध्याचल की पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ तलहटी में बिखरी हुई रेवा को हाथी के अंग पर बनी हुई चित्रकारी की की रेखाओं के समान देखोगे।" वर्णन वर्तमान नर्मदा का परिचायक है। वस्तुतः रेवा का दूसरा नाम ही नर्मदा है, जो विन्ध्याचल की अमरकंटक नामक श्रेणी से निकलकर पश्चिम में बहती हुई सम्भात खाड़ी में गिरती है।

रोहित (1/21) यह महापद्महृद से निकलकर हैमवतक्षेत्र में प्रवाहित होती है। इसको 56000 योजनप्रमाण जानना चाहिए। कवि ने इसको भरत क्षेत्र की चूड़ामणि कहा है। भरतक्षेत्र के पूर्व में हैमवतक्षेत्र से इसका विशेष सम्बन्ध है।

सिन्धु (1/18, 1/19, 1/21, 1/23, 8/9) यह पद्महृद से निकलकर

आगे की ओर बढ़ती जाती है। अपने जल प्रवाह के संसर्ग से वारुणी पश्चिम दिशा में प्रवाहित है। कवि द्वारा किये हुए अलंकृत वर्णन से इसकी भौगोलिक जानकारी नहीं होती है। किन्तु यह निश्चित है कि यह भरत क्षेत्र में बहती है। इसकी चौदह हजार परिवार नदियां हैं। वर्तमान सिन्धुनदी से इसका साम्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

अनशन (5/7) साधुओं की उपवास क्रिया को अनशन और निरशन दो शब्दों से कहा गया है। यह तप का एक प्रकार है। संयम की पुष्टि, राग का उच्छेद, कर्मनाश और ध्यानसिद्धि के लिए भोजन का त्याग करना अनशन रूप तप हैं। इस प्रसंग में अनशन का उद्देश्य यश अथवा ख्याति प्राप्ति नहीं।

अनेकान्त (6/1) यह जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यही जैनधर्म और दर्शन की आधार भित्ति है। यह अनेक और अन्त इन दो शब्दों के मेल से बना है। अनेक का अर्थ एक से भिन्न अर्थात् दो और अन्त शब्द का अर्थ है धर्म। इसे हम दो विरुद्ध धर्मों का पुंज कह सकते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने अनेकान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है—"जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है, जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है, जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु के वस्तुत्व के कारणभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन अनेकान्त है।" इसी प्रकार देवागम अष्टशती में भी कहा गया है—"वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है। इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण करने का नाम अनेकान्त है।" इन परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि अनेकान्त में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो-दो धर्मों के जोड़े (युगल) वस्तु में प्राप्त होते हैं, जैसे घट सत् है और असत् भी है। अर्थात् घट अपनी अपेक्षा से सत् है और पट आदि अन्य पदार्थों की अपेक्षा से असत् है। घट है भी और नहीं भी हैं इसमें विरोध अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु यह विरोध वास्तविक न होकर आभास मात्र है।

अर्हत्(1/44) जैनधर्म में तीर्थंकर आदि परमात्माओं को अर्हत् पद से अभिहित किया जाता है। ग्रन्थकार ने भी ऋषभ आदि तीर्थंकरों के लिए अर्हत् शब्द का प्रयोग किया है। अर्हत् को ही अर्हन्त अथवा अरिहन्त कहते हैं। अतिशय पूजा के योग्य होने से उन्हें अर्हन्त कहा गया है। जैन धर्म एवं दर्शन के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश करके स्वयं परमात्मा बन जाता है। ऐसे परमात्मा की दो अवस्थाएं होती हैं—प्रथम शरीर सहित जीवन्मुक्तावस्था द्वितीय शरीर रहित मुक्तावस्था। प्रथम अवस्था को अर्हन्त और द्वितीय को सिद्ध कहा जाता है। अर्हन्त भी दो प्रकार के होते हैं। तीर्थंकर और

सामान्य। विशेष पुण्यशाली जिनके कल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं, तीर्थंकर कहलाते हैं और शेष सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं।

आगम (5/5) आचार्य परम्परा से चले आ रहे शास्त्रों को आगम कहा जाता है। आगम प्रामाणिक होते हैं, क्योंकि आप्त के द्वारा कहा हुआ, जिसका वादी प्रतिवादी द्वारा खण्डन न किया जा सके। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से विरोध रहित हो, सम्पूर्ण जीवों का हित करने वाला; मिथ्यामार्ग का खण्डन करने वाला आगम कहलाता है। यह श्वेताम्बर क्षौर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों का पृथक्-पृथक् विद्यमान है। इसमें केवल शब्दों का महत्त्व नहीं है, अपितु भाव ज्ञान की भी प्रधानता है। इसके अर्थ जानने की विधि—शब्दार्थ, नयार्थ, भूतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ पांच प्रकार की बताई गई है।

आप्त (6/25) जिसमें राग, द्वेष और मोह का सर्वथा अभाव है, उसे आप्त कहते हैं। यह आप्त हितोपदेशी सर्वज्ञ वीतरागी ही होता है, इसलिए अर्हत आप्त कहलाते हैं क्योंकि सिद्ध हितोपदेशी नही होते, उनकी सशरीर मुक्ति केवल ज्ञान के साथ ही हो जाती है।

कायोत्सर्ग (5/5) साध्वाचार की विशिष्ट क्रिया कायोत्सर्ग है। सप्तसन्धान में कहा गया है कि कायोत्सर्ग की क्रिया में जिनेन्द्र महाप्रभु ने पूर्व शत्रु कामक्रोधादि को जीत लिया। इससे स्पष्ट है कि कामक्रोधादि जीतने के लिए कायोत्सर्ग क्रिया की जाती है, इसकी विधि इस प्रकार है—दोनों चरणों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए दोनों हाथों को नीचे लटकाकर निश्चल खड़े होना और शरीर से ममत्व न रखना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग क्रिया शयन; बैठकर और खड़े होकर तीनों तरह से भी होती है। जैसा कि कहा है—शयन करने, बैठने और खड़े रहने के समय शरीर को इधर-उधर न हिलाकर स्थिर रखना कायोत्सर्ग तप है।

केवल (6/37, 6/42, 6/59, 6/63) केवल से केवलज्ञान जानना चाहिए। इस ज्ञान में किसी की अपेक्षा नहीं रहती। यह अकेला ही होता है, इसीलिए केवल शब्द से व्यवहृत है। यह जीवन्मुक्तावस्था में इन्द्रिय और आलोक की अपेक्षा से रहित है। इस ज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों में और उनकी समस्त पर्यायों में होती है।

केवली (6/32,6/42)जिसे केवलज्ञान हो जाता है, वह केवली कहलाता है। केवली का ज्ञान आवरणरहित होता है। यह आत्मचिन्तन में तल्लीन रहते हैं। केवली तीर्थंकर और सामान्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं, जो साक्षात् पुण्यशाली और उपदेश आदि के द्वारा धर्म की प्रभावना करते हैं, वे तीर्थंकर और शेष सामान्यकेवली होते हैं। ऋषभ आदि वर्णनीय तीर्थंकरों ने अपनी अन्तिम अवस्था में केवलीपद को धारण किया।

गुणस्थान (6/42) भगवान जिनेन्द्र ने मोहरूपी महाशत्रु का निराकरण करने के लिए अनिवृत्तिकरण (आत्मविकास की अवस्था) का अवलम्बन करके कर्मक्षय जनित उद्यम किया। गुणस्थान विशिष्ट गुणों के स्थानों को कहा गया है। 'गुणानां स्थानानि इति गुणस्थानानि' यहां गुणों का अर्थ है आत्मविकास की शक्तियां और स्थान से तात्पर्य है आत्मविकास की क्रमिक अवस्थाएं या श्रेणियां। जीव के स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप गुणों के उपचय और अपचय से उनके स्वरूप में जो भेद होता है। आत्मिक गुणों के विकास की क्रमिक अवस्थाएं ही गुणस्थान कहलाती हैं। ये आत्मा के विकास की अवस्थाएं (गुणस्थान) 14 होती हैं। प्रथम में आत्मा का प्रकाश अत्यन्त मन्द होता है, धीरे-धीरे 14वें गुणस्थान पर आत्मा पूर्णतया स्व-स्वरूप की प्राप्ति कर लेती है।

गुप्ति(3/23, 5/4)ग्रन्थकार ने ऋषभ आदि द्वारा आचारित गुप्ति आदि रूप क्रियाओंका उल्लेख किया है। 'गुप्ति' संवर को रोकने का उपाय है। संवर में कर्मों का आना रुक जाता है। इन कर्मों का आना गुप्ति आदि क्रियाओं से रुकता है। योगों का भलीभांति निग्रह करना ही गुप्ति है। कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का प्रशस्त निग्रह ही गुप्ति है।

जिन (1/1, 2/16, 4/14, 4/39, 4/42, 5/1, 5/50, 6/ 49, 6/59, 7/36) अनेक जन्मरूप अटवी को प्राप्त कराने के हेतुभूत समस्त मोह, राग-द्वेष आदि को जो जीत लेता है वह जिन है। अर्थात् जिसने कर्म और इन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली है, वह जिन कहलाता है। जिन के भी दो भेद होते हैं (1) सकलजिन (2) देशजिन। जिनके द्वारा घातियाकर्मों को नष्ट कर दिया गया है,वे सकल जिन अरिहन्त और सिद्ध हैं, तथा तीव्र कषाय इन्द्रिय एवं मोह के जीत लेने के कारण आचार्य उपाध्याय और साधु देशजिन हैं।

तीर्थंङ्कर(4/41)संसार सागर को स्वयं पार करने तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष तीर्थंकर कहलाते हैं। प्रत्येक कल्प में इनकी 24 संख्या मानी गयी है। इनके गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मुक्ति इन पांचों अवसरों पर इन्द्रादि द्वारा महान उत्सव मनाये जाते हैं, जिन्हें पंचकल्याणक कहते हैं। काव्य में वर्णित ऋषभ आदि तीर्थंकर हैं।

द्रव्य (6/6) द्रव्य को धारण करने वाले जिनेन्द्रप्रभु हुए। संसार में जितने पदार्थ हैं सम्पूर्ण सद् रूप हैं अर्थात् सभी का अस्तित्व है, इसीलिए द्रव्य का लक्षण सत् किया गया है, ये द्रव्य अनन्त होते हुए भी एक ही है।

धर्म (1/69, 4/22, 4/33, 5/3, 5/27, 5/49) सप्तसन्धान में धर्म शब्द सामान्य अर्थ का बोधक है। धर्म के संबंध में अनेक मत हैं किन्तु यहां जैन धर्म के अनुसार धर्म का संक्षिप्त स्वरूप

है—'धरतीति धर्मः' जो संसार के दुःखों से निकाल कर उत्तम सुख धारण करावे, वह धर्म है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप ही धर्म होता है। इन्हीं के द्वारा मनुष्य परमसुख मुक्ति को प्राप्त करता है। धर्म दस प्रकार का कहा गया है।

परिग्रह (6/58, 812) जैन धर्म में परिग्रह को पाप की संज्ञा है। किसी भी पर पद्रार्थ को ममत्वभाव से ग्रहण करना परिग्रह है। ममत्व, मूर्च्छा या लोलुपता को ही परिग्रह कहा जाता है। इसके कारण अत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर राग-द्वेष के वशीभूत हो जाती है। यह परिग्रह सर्वथा हेय होता है इसलिए सप्तसन्धान में भी कहा गया है—जिनेन्द्र महाप्रभु परिग्रह को छोड़कर आत्मस्वरूप में लीन हुए। इसके त्याग से साधु अपरिग्रह महाव्रत का धारक होता है।

पारणा (5/12) पारणा शब्द दीक्षा के बाद साधु प्राप्त होने वाले आहार के लिए जैनाचार में प्रयुक्त होता है। सप्तसन्धान में उल्लिखित है कि जिनेन्द्र प्रभु की दीक्षा ग्रहण के अनन्तर हस्तिनापुर के नरेश ने ऋषभदेव की रस पारणा करायी थी। अन्य राजाओं के द्वारा शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की भी पारणा करायी गयी थी।

प्रायश्चित प्रायश्चित का अर्थ व्रत में लगने वाले दोषों के लिए समुचित दण्ड है। श्रमणसंघ के साधुओं के आचार में कोई दोष उपस्थित होने पर संघ का आचार्य प्रायश्चित देता है। प्रायश्चित से साधु अपने दोषों से दूर हो जाता है। दोषों की शुद्धि होने के साथ-साथ ही नये दोषों के आने में कमी होती जाती है। यही प्रायश्चित की उपयोगिता है। यह दस प्रकार का है—आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाय पारांचिक। सप्तसन्धान में इसे पापशोधन करने वाला तप कहा है।

मनःशुद्धि (5/5) सप्तसन्धान में ऋषभ आदि तीर्थंकरों के द्वारा की गयी मनःशुद्धि का उल्लेख है। साधु दीक्षा के अनन्तर तपस्या को करते हुए मनःशुद्धि करने का प्रयत्न करता है, क्योंकि मन की शुद्धि से ही आत्मा में निर्मलता आती है। आत्मा में निर्मलता आ जाने पर परमात्मा हस्तामलकवत् दृष्गिोचर होने लगता है। इसलिए जब तक साधु मन की शुद्धि नहीं करता तब तक अभीष्ट फल प्राप्त नहीं कर पाता।

महाव्रत (4/39) ऋषभ आदि तीर्थंकरों के द्वारा महाव्रतों को ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। एक देशव्रत का ग्रहण अणुव्रत और सर्वदेशव्रत का ग्रहण महाव्रत कहलाता है। अणुव्रत का पालन श्रावक करते हैं, और महाव्रत का पालन साधु करते हैं। ये महाव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्याग।

मार्गणा (6/44) मेघविजय ने आत्मविकास की अवस्थाओं के अन्वेषण की पर्यायों को मार्गणा कहा है। जैसा

सप्तसंधान में कहा है—'जिस प्रकार जिनेन्द्र के ज्ञान में देखे गये हों उस ही प्रकार से जीव आदि पदार्थों का जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों में विचार किया जाय, वे ही मार्गणा हैं। इन मार्गणाओं को आत्म विकास की अवस्थाओं की पर्याय कहा जा सकता है। इनकी संख्या 14 निर्धारित है।

व्रत (4/28, 4/40, 5/23, 5/41, 8/13, 9/14, 9/18) सप्तसन्धान में यह सामान्य और विशेष दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। आशाधर ने व्रत के स्वरूप को बतलाते हुए कहा है—सेवनीय विषयों का संकल्प पूर्वक यम या नियम रूप से त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्यों को छोड़ना अथवा पात्र दान आदि प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त होना व्रत है। आध्यात्मिक शक्ति की उपलब्धि करने और उपयुक्त दिशा में ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतों की अत्यन्त आवश्यकता रहती है।

व्यसन (3/40, 4/9, 4/32, 5/6, 5/49, 7/9, 8/14) व्यसन शब्द का व्यवहार कवि ने सामान्य कुप्रवृत्तियों और विषय भोगों के त्याग के सन्दर्भ में किया है। जैनाचार में सप्त व्यसन माने जाते हैं। साधु उन सप्त व्यसनों का पूर्ण त्यागी होता है।

बादर संगति(6/20)ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने तपश्चरण करते हुए आत्मविकास की नवम श्रेणी के आरोहण के अनन्तर दशम श्रेणी को प्राप्त किया। यह आत्मविकास की नवीं श्रेणी है। इसमें भावोत्कर्ष की निर्मल विचारधारा और तीव्र हो जाती है। फलतः समसमयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं। इस गुणस्थान में संज्वलन चतुष्क के उदय की मन्दता के कारण निर्मल हुयी परिणति से क्रोध, मान, माया एवं वेद का समूल नाश हो जाता है।

वीतराग (1/3, 6/22) सप्तसन्धान में ऋषभ आदि तीर्थंकरों के लिए वीतराग शब्द का प्रयोग किया गया है। संसार की विषय वासना या अभिलाषा समाप्त हो गयी है, वह वीतराग कहलाता है।

वैयावृत्य (6/45) साधुओं द्वारा जिनेन्द्र प्रभु की वैयावृत्ति (सेवा) का उल्लेख किया गया है। यह तप का एक प्रकार है। आहार पान आदि के द्वारा (ग्लानि के बिना) गुरुजनों की यथाशक्ति शुश्रूषा करना वैयावृत्य नामक तप है। गुरुजनों की सेवा करना साधु का प्रतिदिन का सामान्य कार्य है। दीक्षा गुरु आदि सेवा योग्य पात्रों (व्यक्तियों) की अपेक्षा से इस तप के दस भेद है।

श्रमण (5/10) सप्तसन्धान में श्रमण शब्द सामान्य साधु के लिए प्रयुक्त है। जो शत्रु और मित्र में, सुख और दुख में, निन्दा और प्रशंसा में, स्वर्णऔर पाषाण में तथा जीवन और मरण में समभाव रखता है वही श्रमणरूप धर्म ही श्रमणत्व कहलाता है।

शौच धर्म (6/14)लोभ के आत्यन्तिक त्याग का नाम शौच धर्म है। जिनेन्द्र

प्रभु ने इस धर्म का पूर्णतया पालन किया। धर्म के 10 प्रकारों के अन्तर्गत इसे माना जाता है। इसका तात्पर्य आन्तरिक पवित्रता से है। जब लोभ कषाय का पूर्ण संवरण हो जाता है, तभी शौच धर्म का परिपालन होता है।

संवर (8/18, 8/25) सप्तसन्धान में संवर प्राप्ति का उल्लेख है। आस्रव का निरोध करना ही संवर है। आस्रव का जितने भाग में निरोध होगा उतने ही भाग में संवर कहा जायगा। आध्यात्मिक विकास का क्रम आस्रव निरोध के विकास पर आश्रित है। अतः जैसे-जैसे आस्रव निरोध बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ही आत्मविकास की अवस्थाओं की भी वृद्धि होती जाती है।

समवसरण (6/37, 7/1) मेघविजव ने कहा है,'अनेक प्रकार के आयुधों से विभूषित अनेक देवयोनि विशेष के प्राणियों ने विपक्षियों के पक्ष को अथवा विघ्न करने वाले अर्थात निश्छल भक्ति और प्रीति का जिनेन्द्र प्रभु के समवसरण में निर्देश किया है। तीर्थंकर के केवल ज्ञान होने पर इन्द्रादि द्वारा समवसरण की रचना होती है।' जिनसेन ने लिखा है—'सुर, असुर, पशु पक्षी और मनुष्य आदि आकर दिव्य-ध्वनि (तीर्थंकरोपदेश) की प्रतीक्षा करते हुए इसमे बैठते हैं, इसीकारण इसे समवसरण कहा जाता है। इसकी विशिष्ट रचना प्रणाली है। इसका प्रमुख उद्देश्य मनुष्यों में ही नहीं, अपितु पशु पक्षी में भी सभ्यता और संस्कृति का न्यास करना है। यह मनुष्यों के लिए उचितानुचित का विवेक कराने के लिए रचा जाता है। तीर्थंकर इसमें समाज रचना का आधार अहिंसा का प्रतिपादन, अनेकान्त आदि सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हैं।

समिति 5/4,5/31,5/32,6/39 ऋषभ आदि जिनेन्द्रप्रभुओं के द्वारा समितियों का पालन किया गया है। प्रत्येक साधु को समितियों को धारण करना पड़ता है तभी वह मोक्षमार्ग का पथिक बन पाता है। 'प्राणीमात्र के लिए कष्ट न हो' इस भावना से भली प्रकार देखकर प्रवृत्ति करने को समिति कहते हैं। इस प्रकार की समितियां पाँच होती हैं—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति तथा उपसर्ग समिति।

सर्वज्ञ (3/13) ऋषभ आदि तीर्थंकर ही सर्वज्ञ कहे गये हैं। सर्वज्ञ तीनों लोकों की बातों को जानते हैं। वह सर्वज्ञ क्षुधा तृषा व भय से हीन, रागद्वेष व मोह से परित्यक्त तथा चिन्ता व जरा आदि से रहित होते हैं। सर्वज्ञ शब्द बौद्ध और जैन दर्शन में बहुशः प्रयुक्त है।

सूक्ष्मसंपराय (6/20) जिनेन्द्र महाप्रभु ने नवमगुणस्थान के अनन्तर आत्मविकास की दसवींअवस्था को प्राप्त किया। इसकी प्राप्ति के अनन्तर संसार के मोहादि नष्ट हो जाते हैं। जब मात्र अत्यन्त सूक्ष्म लोभ की दशा रहती है तब साधक इस अवस्था को प्राप्त करताहै। कहा गया है—मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त कषाय को नष्ट कर देता है। सूक्ष्मलोभ का ही उदय रह जाता है तो आत्मा की उत्कर्ष स्थिति का नाम सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान है।

सौम्यदृष्टि (7/36) जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है और जो उसका यथानुकूल आचरण करता है, वही सम्यग्दृष्टि है। सप्तसन्धान में कहा गया है—सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र महा प्रभु, जो केवलज्ञान को प्राप्त हो चुके हैं उन्होंने जनकल्याण के लिए उपदेश दिए।

सुषमासुषमा (4/4) उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी के क्रम से कालों का परिवर्तन होता है। अपसर्पिणी में मनुष्य एवं तिर्यन्चों की आयु शरीर की ऊंचाई

और विभूति आदि घटते हैं, और उत्सर्पिणी में क्रमशः बढ़ते हैं। प्रत्येक के छह भेद हैं। ग्रन्थकार ने अपसर्पिणी के प्रथम सुषमाकाल का उल्लेख किया है। इस काल में भूमि धूलि धूम कंटक हिम आदि कष्टकारक वस्तुओं से रहित होती है और सभी व्यक्ति सर्व प्रकार से सम्पन्न रहते हैं। इस काल के समान ही ऋषभ आदि के राज्य में सभी सुख-समृद्धि से सम्पन्न थे। इस काल का प्रमाण चार कोड़ाकोडी सागरोपम है।

स्थानत्रयी (6/5) ग्रन्थकार ने अविरत सम्यग्दृष्टि; संयतासंयत (देशविरत), प्रमत्तसंयत नामक तीन गुणस्थानों के समूह को स्थानत्रयी शब्द से व्यवहृत किया है। सामान्यतया छठे गुणस्थान तक साधु में प्रमाद का अस्तित्व रह सकता है इसीलिए कहा गया है कि जिनेन्द्र प्रभु ने स्थानत्रयी को छोड़कर 'तुर्यं मण्डलमानयत' अर्थात् 'सप्तम' अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त किया।

स्याद्वाद (6/27) सप्तसन्धान में समग्र प्रभुता को प्राप्त समस्त विश्व के प्रभु और अनेकों प्रकार के अलंकारों से अलंकृत समवसरण भूमि में अधिष्ठित होकर जिनेन्द्र प्रभु ने स्याद्वाद पद्धति से जैन शासन का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त दार्शनिक क्षेत्र में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। स्यात् और वाद इन दो पदों के मिलने से स्याद्वाद पद बनता है। स्यात् शब्द निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। स्यादस्ति इस वाक्य में अस्ति पद अस्तित्व धर्म का वाचक है और स्यात् शब्द नास्तित्व आदि शेष अनन्त धर्मों का द्योतक होता है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि वस्तु में अस्तित्व के अतिरिक्त नास्तित्व आदि अन्य धर्म भी सत्ता रखते हैं। वह सन्देह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है। जैन आगम आप्तमीमांसा, स्याद्वादमंजरी आदि ग्रन्थों के आधार पर यही कहा जा वह एकान्त का निराकरण करके अनेकान्त का प्रतिपादन करता है। यह 'कथंचित' का पर्यायवाची है। इसके द्वारा एक निश्चित अपेक्षा की अभिव्यक्ति होती है। इसका अर्थ अनिश्चय या संशय नहीं है। जो लोग स्यात् शब्द को संशयपरक मानते हैं उन्हें एक बात और ध्यान में रखना चाहिए कि 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करते समय उसके साथ 'एव' शब्द भी लगा रहता है, जैसे स्यादस्त्येव घटः। 'एव' शब्द के द्वारा संशय होना तो दूर रहा इसके प्रतिकूल वस्तु के विषय में दृढ़ निश्चय हो जाता है। यह स्याद्वाद सिद्धान्त पूरी वस्तु पर एक ही धर्म के पूर्ण अधिकार का निषेध करता है। इसके अनुसार वस्तु विशेष पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार है। विशेषता केवल इतनी है कि जिस धर्म के प्रतिपादन की जिस समय आवश्यकता होती है उस समय उस धर्म को पकड़ लेते हैं और शेष धर्मों को ढीला कर देते है जैसे कि दधि मन्थन करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है तो दूसरे को ढीला करती है। इस प्रकार वह रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण के द्वारा दधि का मन्थन कर इष्ट तत्व घृत को प्राप्त करती है। स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार ही एक धर्म के आकर्षण और शेष के शिथलीकरण के द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ की सिद्धि होती है। जो तात्पर्य स्याद्वाद का है वही अनेकान्तवाद का है। दीपक से आकाश पर्यन्त सभी छोटी बड़ी वस्तुएं स्याद्वाद मुद्रा से अंकित है। यह सर्वथा एकान्त का निराकरण करके अनेकान्त की सिद्धि करता है। □

सन्धान काव्य—ऐतिहासिक विवेचन

आनन्दानुभूति के लिए समग्र प्राणी उन्मुख हैं, किन्तु बुद्धिजीवी मानव उस आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रारम्भिक काल से ही नाना प्रकार के साधनों का अनुसन्धान करता रहा है। इसी मानवीय प्रयत्न के कारण कला का भी आविर्भाव हुआ है। कला के आविष्कार से मनुष्य आमोद-प्रमोद की भूमिका में अवस्थित होने लगा था, साथ ही आध्यात्मिक जगत में अनेक साधनों—विशेषतः यौगिक साधनों का प्रयोग इसी आनन्द के लिए किया गया। जहां अनेक प्रकार से नवीन आविष्कार परायण मानव आनन्दानुभव के लिए नित्य नये-नये आविष्कार करता रहा, वहीं काव्य भी सम्भवतः इसी प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए आविष्कृत हुआ।

मनुष्य संवेदनशील प्राणी है, जिसमें जितनी मात्रा में सम्वेदनशीलता रहती है, वह उतना ही अधिक भावुक होता है। इसी भावुकता का जब उद्रेक आदि कवि में हुआ तो प्रिय वियोग से कातर क्रौञ्ची की सहानुभूति में अकस्मात् उसका हृदय कविता के रूप में प्रस्रवित हो गया। इतिहास इसका साक्षी है, कि संवेदन की सान्द्रता विभिन्न भंगियों से प्रतिविम्बित होते रहने पर भी काव्य उसका सर्वोत्तम माध्यम माना गया है।

कवि-कर्म ही काव्य है। इस सन्दर्भ में इस प्रकार कहा गया है—'कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा कविः।' शब्दकल्पद्रुम में 'कु शब्दे' धातु से 'अच इ' सूत्र द्वारा 'इ' प्रत्यय करने पर कवि शब्द की सिद्धि की गयी है।[1] अतएव यह

अर्थ निकलता है कि काव्य रचना करने वाला व्यक्ति कवि है। 'कवयति इति कविः तस्य कर्म इति काव्यम्' ऐसी व्युत्पत्ति भी की जाती है। अभिनवगुप्त ने कवनीयं काव्यम् तस्य भावश्च काव्यत्वम्' ऐसा कहा है।[2] वर्णन करने वाले अथवा जानने वाले को कवि और उसके कर्म या कृति को काव्य कहते हैं।

इस काव्य की काव्याचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। भामह ने शब्द और अर्थ को काव्य कहा है।[3] किन्तु ये तो काव्य के शरीर मात्र हैं, इसलिए दण्डी ने काव्य-स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए काव्य के शरीर को अलंकृत करने वाले अलंकारों को अधिक महत्व दिया है।[4] आनन्दवर्धन के अनुसार—जिस रचना में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कृतिपूर्ण होता है, वही उत्कृष्ट काव्य है।[5] वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।[6] आचार्य मम्मट ने दोष रहित, गुणवाली अलंकारयुक्त तथा कभी-कभी अलंकार रहित शब्दार्थमयी रचना को काव्य कहा है।[7] इन्हीं के मतानुयायी हेमचन्द्रसूरि ने—'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' इस सूत्र की वृत्ति में 'चकारो निरलंकारयोरपि शब्दार्थयोः क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थः' लिखा है।[8] वाग्भट भी इन्हीं के समान काव्य की परिभाषा देते हैं।[9] जयदेव ने काव्य में अलंकारों को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है,[10] जबकि विश्वनाथ रस (ध्वनि) को ही काव्य का मुख्य तत्त्व मानते हैं।[11]

उपर्युक्त काव्य-परिभाषाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य जगत में प्रधान रूप से दो सम्प्रदाय चल रहे थे। एक तो काव्य में अलंकार को सर्वस्व मानने वाला और दूसरा रस को काव्यात्मा स्वीकार करने वाला। ये दोनों ही सम्प्रदाय पृथक्-पृथक् दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, किन्तु रस की चर्वणा आन्तरिक आनन्द की जनक होने के कारण द्वितीय सम्प्रदाय को समाज ने सर्वाधिक रूप से अंगीकार किया है।

इस प्रकार अलंकारप्रधान तथा रसप्रधान काव्यों की सुदीर्घ परम्परा हमें प्राप्त होती है। हमारा प्रतिपाद्य अलंकारप्रधान रचना का विश्लेषण है, इसलिए हम इसी संबंध में विशेष चर्चा कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

अलंकारप्रधान रचनाओं में अलंकार के ही भेदों के अनुसार शब्दालंकारपरक तथा अर्थालंकारपरक रचनाएं बहुधा निर्मित हुयी हैं, किन्तु अर्थालंकारों की रचना में किसी एक अलंकार पर निर्भर रहना संभव नहीं है। जबकि शब्दालंकार का प्रयोग किसी एक पूरे काव्य में अवश्य होता रहा है। शब्दालंकारों की भी दो विधाएं महाकाव्यों के लिए अधिक चमत्कारिक मानी गयीं हैं, जिनमें यमक और श्लेष प्रधान काव्यों की गणना विशेष रूप से होती है।

श्लिष् धातु से निष्पन्न श्लेष शब्द का सामान्य अर्थ चिपकना या जोड़ है। एक के साथ अनेक की संगति है, अर्थात् जहां एक ही शब्द में अनेक अर्थ चिपके

हुये पाये जाते हैं, तो वहां श्लेष कहा जाता है। जो अर्थ श्लेष से लिया जाता है, प्रायः वही अर्थ सन्धान का भी है। इस प्रकार श्लिष्टकाव्य और सन्धानकाव्य समानार्थी हुए। इस दृष्टि से सन्धानकाव्यों का अपरिमित श्लेष काव्य में समावेश होता है। यदि श्लेष काव्यों का सूक्ष्म समीक्षण किया जाय तो निम्नलिखित दो वर्ग हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं—

प्रथम वर्ग वह होगा, जिसमें अनायास कवि की वाणी इस प्रकार व्यक्त होती है कि उसके शब्द अपने लक्ष्य की पूर्ति तो करते ही हैं, साथ ही वैदुष्यपूर्वक अर्थानुसन्धान करने से अन्य अर्थ भी उपलब्ध हो जाते हैं, जिन्हें प्रधानता टीकाकार ही स्पष्ट करते हैं।

द्वितीय वर्ग वह है, जिसे कवि स्वयं निर्माण से पूर्व ही अपनी दृष्टि को निश्चित कर लेता है और रचना के समय ऐसे ही विभिन्नार्थ शब्दों का प्रयोग करता है जिनसे विभिन्न अर्थों को विभिन्न रूप से भिन्न-भिन्न कथानकों के साथ समन्वित किया जा सके। सन्धानकाव्य विशेष रूप से इसी कोटि में परिगणित किए जाते हैं। इन सन्धानकाव्यों की रचना के लिए कवि प्रयत्न साध्य भी कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। ऐसे सन्धानकाव्यों की प्रेरणा हमें प्राचीन भारतीय वाङ्मय से प्राप्त होती है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर श्लिष्ट (अनेकार्थक) मन्त्र विद्यमान हैं[12] और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग मिलता है यथा-हितशद आहित तथा हितकर, वर्ष शब्द वृष्टि और संवत्सर एवं महिषी शब्द राजमहिषी और भैंस के अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।[13] रामायण और महाभारत में यत्र तत्र श्लेषात्मक पद्य दृष्टिगोचर होते ही हैं। प्राचीन शिलालेख में हरिषेण द्वारा लिखित 'साध्व-साधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य' पदावली प्राप्त होती है। यहां हरिषेण ने श्लेष के माध्यम से समुद्र की तुलना ब्रह्म से की है।[14] रघुवंशीय मंगल श्लोक 'वागार्थाविवसम्पृक्तौ' के अन्तिम चरण 'पार्वतीपरमेश्वरौ' में पार्वती-परमेश्वरौ तथा पार्वतीप + रमेश्वरौ ऐसा भंग करके श्लेष सिद्ध किया गया है। भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' में "कथाप्रसंगेन जनैः" इत्यादि पद्य का प्रासंगिक अर्थ के अतिरिक्त विषवैद्य सम्मत अर्थ किया गया है।[15] इसके अतिरिक्त किरातार्जुनीय में अर्थत्रयवाची भी पद्य उपलब्ध होते हैं।[16] महाकवि माघ के शिशुपाल वध में द्वयर्थक[17] तथा अर्थत्रयवाची[18] अनेक श्लोक प्राप्त होते हैं। सुबन्धु[19] तथा बाण[20] तो स्पष्ट शब्दों में श्लिष्ट प्रयोग का कथन करते हैं।

श्लेष में यद्यपि व्याकरण व्युत्पत्ति और शब्द प्रयोग का वैचित्र्य ही अपेक्षित है, तो भी वह अधिकांश में काव्य का आक्षिप्त मार्ग है एवं यमक की अपेक्षा काव्यसंज्ञा का उपयुक्त अधिकारी है। इसीलिए श्रीहर्ष ने माघ की भांति दुष्कर यमक का निबन्धन न कर द्वयर्थक पद्य ही नहीं बल्कि श्लेष युक्त पांच-पांच अर्थों

वाला काव्य लिखने में संकोच नहीं किया।[21]

शनैः शनैः श्लिष्टकाव्य रचना की प्रवृत्ति की ओर कविगण अग्रसर होते जा रहे थे और पाण्डित्य प्रदर्शन तथा बौद्धिक आयामों का क्षेत्र बढ़ता जा रहा था, जो कवियों के कौशल का परिचायक सिद्ध हुआ। इसका प्रधान कारण कवियों का राजाश्रय था। राजसभा में अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा वैशिष्ट्य प्रदर्शित करके वे यश और अर्थ की उपलब्धि चाहते थे। इस युग में काव्य जगत में चमत्कार को अधिक प्रश्रय दिया गया। ऐसे ही युग के लिए महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—'न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यम्' अतएव शब्द और अर्थ के वैचित्र्य से सम्पन्न काव्यों की सर्जना आरम्भ हुयी। यद्यपि वह भी शब्द प्रयोग वैचित्र्य ही था। शब्द प्रयोग वैचित्र्य होने पर भी भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होने के कारण श्लेष में उक्ति-वैचित्र्य और प्रतीयमानता का संस्पर्श होता है, यमक में वह सम्भव नहीं है। जहां तक कवि कर्म द्वारा रचना करने का प्रश्न है, श्लेष दुष्कर मार्ग है। इन स्थलों पर रचनाकार कवि ही भाव विवक्षा से शून्य-सा प्रतीत होता है। काव्य में भाव संस्पर्श अपेक्षित होता है, वह श्लेष के प्रयोग से नष्ट नहीं होता। इसी श्लेष प्रयोग की शैली से काव्य में दो, तीन, चार, पांच, सात और अधिक भी कथाएं अनुस्यूत की जाने लगीं। कालान्तर में इसी श्लेष प्रयोग की शैली ने नानार्थ या सन्धान इस संज्ञा को ग्रहण कर लिया था।

इस दृष्टि से सन्धान शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा का विचार आवश्यक है।

सन्धानम्:

सन्धानम् (क्ली०) सन्धीयते यदिति (सम्+धा+ल्युट्) मद्यसज्जीकरणमिति नयनानन्दः। तत् पर्य्यायः। अभिषवरित्यमरः। सन्धानी ३। सन्धिका इति शब्द रत्नावली। सन्धीयते सन्धानं वंशाकुरफलादीन-बहुकालैः सन्धाय यत् क्रियते इति भरतः। संघट्टनमिति मेदिनी। काञ्जिकमिति हलायुधः। मदिरा, अवदंशः, सौराष्ट्रम् इति राजनिघण्टुः। धनुषि बाण नियोजनं समवेतः।[22]

इसी प्रकार हलायुद्ध कोश में भी सन्धान शब्द के अर्थों को संगृहीत किया गया है जो निम्न रूप में दृष्टिगत होते हैं—

सन्धानम् (क्ली०) सन्धीयते यत् इति (सम्+धा+ल्युट्) मद्यसज्जीकरणम्। अभिषवः। सन्धानी। सन्धिका। धान्यावलम्। आरवालम्। काञ्जिकम्। सौवीरः अवन्तिसोमः। तुषोदकम्। शुक्तम्। संघट्टनम्।[23]

उक्त अर्थों में से किसी न किसी अर्थ में संबंधित सन्धान शब्द का प्रयोग काव्यों में प्राप्त होता है—

एवं कृते तु सन्धाने वृत्रः प्रमुदितोऽभवत् ।
यत्नः समभवच्चापि शक्रो हर्षं समन्वितः ।।[24]

सन्दधाति—सम्+धा+ल्युट् धारकेः—मधु तु मधुरं कषायानुरसं, हृर्षं सन्धानं शोधनं रोपणमिति ।[25]

कालिदास ने भी सन्धान शब्द का व्यवहार किया है—

मुखेन सा पद्मसुगन्धिनानिशि, प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षत पद्मसम्पदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ।।[26]

अभिज्ञानशाकुन्तल में 'धनुषि बाण नियोजने' अर्थ में सन्धान शब्द का प्रयोग किया गया है ।[27]

'लक्ष्यानुसारीणिलक्षणानि भवन्ति' इस प्रसिद्धि के अनुसार लक्ष्यग्रन्थ एवं विभिन्न शब्दगत अर्थों के विश्लेषण से सन्धानकाव्य की एक निष्कर्षात्मक परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—

जिस कृति में कवि के द्वारा वर्णित अभीष्टार्थ के अतिरिक्त जिन अन्य विशिष्टार्थों की सन्धानवलेन (श्लेष की प्रक्रिया द्वारा) उपलब्धि हो जाती है, उसे सन्धानकाव्य कहा गया है ।

प्रस्तुत परिभाषा में सन्धीयमान अर्थों की उपलब्धि हेतु श्लेष की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया गया है और वस्तुतः सन्धानकाव्य श्लेष की भूमिका पर ही निर्मित होते रहे हैं । इसलिए श्लेष की प्रक्रिया अथवा श्लेषालकार का विश्लेषण करना भी आवश्यक प्रतीत होता है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—श्लेष, श्लिष् (श्लिष्यति) धातु से व्युत्पन्न है और इसका अर्थ होता है चिपकाव या जोड़ । जब एक में शब्द द्वारा अनेक अर्थों की प्राप्ति होती है तो उसे श्लिष्ट कहा जाता है । एक में अनेक का संश्लेष ही तो श्लेष की श्लिष्टता है । अश्लेष शब्द शृंगार के सन्दर्भ में मूलतः इसी अर्थ में प्रयुक्त है । विश्लेष ठीक इसके विपरीत अर्थ का वाचक है । भाषा में जहाँ यह तत्त्व उपलब्ध होता हैं, वहाँ कला की दृष्टि से एक असाधारणता चली आती है ।

भाषा के दो पक्ष होते हैं—शब्द और अर्थ । श्लेष की उत्पत्ति उस स्थिति में होती है, जहाँ दो वस्तु शब्दशक्ति (अभिधा) से प्रकाशित हों ।[28] शब्द में पाये जाने वाले श्लेष को शब्दश्लेष कहते हैं और अर्थ में पाये जाने वाले श्लेष को अर्थश्लेष कहते हैं, किन्तु उक्त दोनों परिस्थितियों में श्लेष भाषा की एक सामान्य विधा बनी रहती है । अलंकार के रूप में परिणत नहीं होता । अलंकार के रूप में इसका परिणमन चमत्कारी होने पर प्रतीत होता है ।

काव्यशास्त्रों में श्लेष गुण और अलंकार दोनों रूपों में प्रतिष्ठापित है । सर्वप्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में श्लेष गुण का स्वरूप प्रतिपादित है, उनका कहना है—अभीष्ट अर्थ से परम्परा सम्बद्ध जो पदों की श्लिष्टता है उसे श्लेष

कहते हैं ।[29] इसी सन्दर्भ में आचार्य आगे कहते हैं कि जो प्रत्यक्षतः स्फुट जान पड़ता है, किन्तु वस्तुतः गहन विचार से युक्त होता है, वह श्लिष्ट कहा जाता है ।[30]

आचार्य भरत के परवर्ती दण्डी, वामन, जयदेव, भोज, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि आचार्य नाट्यशास्त्र के अनुगामी ही हैं किन्तु वामन और भोज ने श्लेष गुण का विवेचन शब्द और अर्थ की दृष्टि से किया है ।

आलंकारिकों के मध्य जहाँ यह गुणरूप में प्रतिष्ठा को प्राप्त है, वहीं अत्यन्त चमत्कारी और शोभावर्धक होने से अलंकार पद को भी सुशोभित करता है । इसे अलंकारों के मध्य स्वीकार करने वाले प्रथम मनीषी भामह हैं । इन्होंने इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए इसको श्लिष्ट शब्द से व्यवहृत किया है—यदि गुण क्रिया और नाम से उपमान के साथ उपमेय का तादात्म्य स्थापित किया जाय तो श्लिष्ट अलंकार माना जाता है ।[31] इसके आधार पर रूपक में अतिव्याप्ति की सम्भावना का निराकरण करते हुए भामह कहते हैं कि श्लिष्ट में उपमान और उपमेय का एक साथ ही प्रयोग अभीष्ट है ।[32] दण्डी अपनी परिभाषा में उपमानोपमेय का निर्देश नहीं करते, उनका कहना है कि एक रूप में स्थित वाक्य के द्वारा अनेक अर्थों का होना श्लिष्ट है ।[33] वामन की श्लेष गुण के विषय में तो नवीन उद्भावना है, किन्तु अलंकार में भामह के ही अनुगामी हैं। वामन के बाद रुद्रट का स्थान आता है, जिन्होंने श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में पृथक्-पृथक् प्रतिपादित किया । शब्दश्लेष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—जहाँ पदों के अच्छी तरह प्रयुक्त होने, कष्ट कल्पना रहित होने तथा अनेक प्रकार के एकीभाव से युक्त अनेक वाक्य का एक बार विधान हो वह शब्दश्लेष है ।[34] यह शब्दश्लेष—वर्ण, पद, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति और वचन के भेद से आठ प्रकार का है । अर्थश्लेष का विवेचन करते हुए कहते हैं कि जहाँ अनेकार्थ पदों से रचित एक वाक्य अनेक पदों का निश्चय करता है उसे श्लेष (अर्थश्लेष) कहते हैं ।[35] अर्थश्लेष में अविशेषश्लेष, विरोधश्लेष, अधिकश्लेष, वक्रश्लेष, व्याजश्लेष, उक्तिश्लेष, असम्भवश्लेष, अवयवश्लेष, तत्त्वश्लेष और विरोधाभास श्लेष को भी मानते हैं । रुद्रट ने स्वतंत्र उदाहरण सहित इनके लक्षणों का विवेचन किया है ।[36]

रुद्रट जिसे श्लेप शब्द से व्यवहृत करते हैं, उसी को आचार्य उद्भट भामह और दण्डी के द्वारा श्लिष्ट शब्द से कहा गया है । श्लिष्ट का विश्लेषण करते हुए उद्भट ने कहा है—अनेक अर्थ रखने वाले उक्त शब्दों का, जिनका उच्चारण एक जैसा ही हो और स्वरित आदि गुणों से भिन्नता होने पर भी एक प्रयत्नोच्चार्यता, जिसमें विद्यमान हो, ऐसे शब्दों का एकशेष विधा से एक ही वार प्रयोग किया जाना श्लेष हैं, अर्थात् काव्य में ऐसे शब्द का प्रयोग, जिससे अनेक अर्थों की उपलब्धि होती है, वह श्लिष्ट कहलाता है ।[37]

यह श्लिष्ट मूलतः दो प्रकार का होता है—अर्थश्लिष्ट और शब्दश्लिष्ट। अर्थश्लिष्ट वहाँ होगा, जहाँ एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों का अनेकार्थ बोध कराने की इच्छा से कवि ने प्रयोग किया हो। एक प्रयत्नोच्चार्य शब्दों का तन्त्र द्वारा अनेक अर्थों के बोध कराने के लिए आवृत्तिमूलक प्रतीति हो जाया करती है। एक प्रयत्नोच्चार्य से उद्भट का अभिप्राय है कि जिन शब्दों के स्वर, व्यंजन, स्थान, प्रयत्न आदि में एकरूपता हो या अभिन्नता हो, उन्हें एक प्रयत्नोच्चार्य कहते हैं। ऐसे ही शब्दों में तन्त्रविद्या प्रयोग से अर्थश्लेष होगा, किन्तु जहाँ एक प्रयत्नोच्चार्य स्वर, व्यंजन, स्थान, प्रयत्न तथा उदात्त आदि में भिन्नता होने पर भी एक प्रयत्नोच्चार्य शब्द के समान शब्द का प्रयोग होता हो, वहाँ तन्त्र (श्लेष) प्रयोग नहीं हो पाता। फलतः वहाँ शब्द श्लिष्ट बनकर अर्थान्तर की प्रतीति कराता है।

उद्भट शब्दश्लिष्ट और अर्थश्लिष्ट इन दो भेदों को मानते हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थश्लिष्ट उपमा, रूपक, विरोध आदि अलंकारों के विशेष भेद में मिलता है। उन स्थलों में उपमा आदि अलंकारों का व्यवहार न होकर श्लेष का ही व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि वे उपमा आदि अलंकार तद्भिन्न स्थल में सावकाश होकर जीवित रहेंगे, किन्तु श्लेष निरवकाश हो जायेगा। अतएव उन स्थलों में अपवाद बनकर श्लेष अपना व्यवहार प्रवर्तित करेगा।

महिमभट्ट ने श्लेष के शब्द और अर्थ रूप से दो भेदों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि जहां दो वस्तुओं का ऐसा सादृश्य जो न कम हो और न अधिक, वह केवल शब्द द्वारा कहा जाता हो, उसे शब्दश्लेष कहते हैं। उक्त स्वरूप के प्रतिपादन के अनन्तर श्लेष के प्रतिपादक कर्तृत्व और कर्मत्व आदि कारकभाव से 'नित्ययुक्त' शब्द दो प्रकार के बताये हैं— (क) धर्मिवाचक, (ख) धर्मवाचक। इस प्रकार की अभिव्यक्ति दुतरफा हो, इसके लिए दोनों ही श्लेषों में कोई न कोई कारण देना ही होता है, नहीं तो कवि का श्रम व्यर्थ हो जाता है।[38]

भोज ने शब्द व अर्थ उभयरूप से अलंकारों का विभाजन किया है। उन्होंने श्लेषालंकार को शब्दगत और उभयगत भेदों में समाविष्ट किया है। शब्दश्लेष के सम्बन्ध में उनका कहना है कि एक ही रूप वाले वाक्य द्वारा अनेक संबंधों के एक रूप में होने से, जो दो अर्थों का कथन होता है, उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।[39] भोज इसे छः प्रकार से विभाजित करते हैं—दो प्रकृति तथा प्रत्यय से उत्पन्न, दो विभक्ति तथा वचन पर आश्रित, दो पद तथा भाषा से समुत्पन्न।[40] उभयालंकार के रूप में मानते हुए उनका कहना है कि एक ही पद से अनेकार्थ का कथन ही श्लेष है।' इसे भी छः प्रकार से विभाजित किया है।[41]

आचार्य रुय्यक ने भामह, दण्डी, उद्भट आदि विद्वानों के सदृश श्लिष्ट शब्द का ही व्यवहार किया है। स्वरूप की अपेक्षा, इनका वैशिष्ट्य श्लेष के विभाजन में निहित है। उन्होंने आश्रय के आधार पर श्लेष को शब्द, अर्थ और

उभयगत स्वीकार किया है। उनका कहना है कि शब्दश्लेष में पदभंग से दो अर्थ निकलते हैं। उन शब्दों में उच्चारण प्रयत्न तथा उदात्त आदि स्वर की भिन्नता रहती है, अतएव वे पद परस्पर स्वतंत्र होते हैं। वे तत्वतः अलग-अलग शब्द होने पर भी एकरूपता का आभास मात्र कराते हैं। इन दोनों का सबंध जतु-काष्ठ सम्बन्ध के समान होता है, जैसे लकड़ी में चिपकी लाख उससे पृथक होती है, उसी प्रकार संभगपदश्लेष अर्थात् शब्दश्लेष में दो स्वतंत्र शब्द एक समान प्रतिभासित होते हैं। अर्थश्लेष में एक ही शब्द, जिसके उच्चारण, प्रयत्न, स्वर आदि एक ही होते हैं, दो अर्थों का वाचक होता है। इसमें एक शब्द में दो अर्थ एक वृन्त में लगे दो फल के समान रहते हैं। उभयश्लेष उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों वाला होता है।[42] उन्होंने सभंगश्लेष को शब्दालंकार और अभंगश्लेष को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने श्लेष के संबंध में अपनी तर्कपूर्ण प्रतिभा का प्रयोग किया है। उन्होंने शब्दपरिवृत्तिअसहत्व को शब्दश्लेष और शब्दपरिवृत्तिसहत्व को अर्थश्लेष के विभाजन में नियामक माना है। मम्मट शब्दश्लेष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'अर्थ का भेद होने से भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक समानाकार भिन्न-भिन्न शब्द एक एक साथ उच्चारण के कारण जब परस्पर मिल जाते हैं, तो वहां श्लेष नामक शब्दालंकार होता है।[43] शब्दश्लेष के आठ भेदों के लिए मात्र रुद्रट का अनुसरण किया है।

मम्मट आश्रयाश्रयी भाव पर आधृत श्लेष की शब्दालंकारता और अर्थालंकारता को अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दाश्रित कर देते हैं, क्योंकि उन्होंने आश्रयाश्रयी सम्बन्ध को ही अलंकारालंकार्य सम्बन्ध माना है। अतएव उनके द्वारा मान्य सभंगता और अभंगता पर आधृत शब्दश्लेष और अर्थश्लेष शब्दालंकार के अन्तर्गत ही आयेंगे। मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक की कसौटी पर आश्रयाश्रयी सम्बन्ध को उतारकर शब्दालंकार और अर्थालंकार का विभाजन किया है।

इनके अन्वय-व्यतिरेक का तात्पर्य यह है कि शब्द विशेष के विद्यमान होने पर किसी गुण, अलंकार अथवा दोष की सत्ता रहती है। उस शब्द का परिवर्तन कर उसी का पर्याय रख देने से वह गुण अलंकार अथवा दोष न रहे, तो यह अवश्य मान लेना चाहिए कि वह गुण दोष अथवा अलंकार तत् शब्द-निष्ठ है। अतएव उसे शब्दनिष्ठ गुण अथवा अलंकार स्वीकार किया जायेगा और जहां किसी शब्द को हटाकर उसके स्थान पर उसी का समानार्थी शब्द रख देने पर भी उपस्थित गुण अथवा अलंकार की सत्ता समाप्त नहीं होती है तो वहां गुण अथवा अलंकार अर्थनिष्ठ ही होगा।[44]

मम्मट की उपर्युक्त अन्वयव्यतिरेक की धारणा ही श्लेष के शब्दालंकारत्व

और अर्थालंकारत्व के निर्धारण के लिए पर्याप्त है। इसके आधार पर सभंग और अभंग दोनों प्रकार का श्लेष शब्दालंकार ही है।

हेमचन्द्र (काव्यानुशासन में) मम्मट का ही अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इनकी नवीन उद्भावना श्लेष के सम्बन्ध में परिलक्षित नहीं होती, किन्तु इन्होंने एक वैशिष्ट्य उपस्थित किया है कि ये रुद्रट और मम्मट द्वारा मान्य सभंगश्लेष के आठ भेदों को अभंगश्लेष के भी मानते हैं।[45] जैनाचार्य नरेन्द्रप्रभसूरि ने भी श्लेष के सम्बन्ध में कोई नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं किया।[46] इसी सम्बन्ध में वाग्भट प्रथम का कहना है कि जहां उन्हीं पदों से अथवा एक ही वाक्य अनेक अर्थों को व्यक्त करता है वहां श्लेष अलंकार होता है।[47] वाग्भट द्वितीय श्लेष को शब्दालंकार नहीं मानते। अर्थश्लेष के संबंध में इनका कहना है कि एक ही वाक्य में अनेक अर्थों का होना श्लेष है।[48] अरिसिंह और अमरचन्द्रयति ने श्लेष का लक्षण नहीं दिया, किन्तु श्लेष साधन के अनेक उपायों का उल्लेख किया है तथा जिन शब्दों से श्लेष की रचना होती है उन शब्दों का संग्रह भी किया है। अमरचन्द्रयति के संगृहीत शब्द शब्दश्लेष रचना में पूर्णतया सहायक हैं। कर्णपूर एवं विश्वेश्वर ने भी श्लेष को शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार सन्धान काव्य का आधार श्लेष पर विचार प्रस्तुत किया गया। इसके पहले कि सन्धान काव्य कृतियों का उद्देश्यानुकूल विभाजन किया जाय, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सन्धान काव्य का वैशिष्ट्य, जिनकी ओर विविध सन्धान काव्यकारों ने निर्देश किया है, उस पर भी विचार किया जाए।

महाकवि धनन्जय ने द्विसन्धानमहाकाव्य के प्रारम्भ में ही सन्धान विद्या में भी काव्य तत्वों का निर्देश किया है। इन्होंने सन्धान काव्य में भी काव्योचित गुणों को आवश्यक माना है। यथा—

चिरन्तने वस्तुनि गच्छति स्पृहां,
विभाव्यमानोऽभिनवैर्नवप्रियः।
रसान्तरेश्चित्तहरैर्जनोऽधसि,
प्रयोगरम्यैरुपदंशकैरिव ।।१/३।।

स जातिमार्गों रचना च, साऽऽ कृतिस्तदेव सूत्रं सकलं पुरातनम्।
विवर्तिता केवलमक्षरैः कृतिर्न, कञ्चुकश्रीरिव वर्ण्यमृच्छति ।।१/४।।
कवेरपार्था मधुरा न भारती, कथेव कर्णान्तिमुपैति भारती।
तनोति सालंकृतिलक्षणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः ।।१/५।।[49]

अर्थात् चित्त के लिए आकर्षक तथा क्रमानुसार विकसित फलतः नवीन शृंगार आदि रसों तथा शब्दालंकार और अर्थालंकारों से युक्त सुन्दर वर्णों द्वारा गुम्फित रचना प्राचीन होने पर भी आनन्दप्रद होती है।

उपजाति आदि छन्द रहते हैं, पर वाक्य विन्यास भी पूर्वपरम्परागत होता है, गद्यपद्य मय ही आकार रहता है और सबके सब वही पुराने अलंकार नियम रहने हैं, तो भी केवल अक्षरों के विन्यास को बदल देने से ही रचना सुन्दर हो जाती है ।

जो वाणी अर्थयुक्त, माधुर्यादि गुणों से समन्वित अलंकार शास्त्र और व्याकरण के नियमों से युक्त होती है, वही सज्जनों को प्रमुदित करती है। इन काव्यों में यत्र तत्र विशेषणों का परिवर्तन और कभी-कभी उपमान उपमेय का परिवर्तन भी हो जाता है । अनेकार्थक शब्दों की योजना इसका प्रधान लक्ष्य होता है । इसी सन्दर्भ में कविराज कहते हैं—

प्रायः प्रकरणैक्येन विशेषणविशेष्ययोः ।
परिवृत्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमेययोः ।।
क्वचित् पदैश्च नानार्थैः क्वचिदुक्तिभंगिभिः ।
विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम् ।।

—राघवपाण्डवीय १।३७-३८

अर्थात् बहुलतया प्रकरण की एकता से, कहीं-कहीं विशेषण और विशेष्य के रद्दोबदल कर देने से, इसी प्रकार कहीं कहीं उपमान और उपमेय के परिवर्तन से, कहीं अनेकार्थक शब्दों से, कहीं अन्य तात्पर्य ग्रहण के तरीके से मेरे द्वारा अर्थात् कविराज पण्डित के द्वारा यह रामायण महाभारतरूपी राघवपाण्डवीय काव्य बनाया जाएगा ।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सन्धान काव्यों में अक्षर विन्यास विचित्र पदरचना, और काव्यकृति के लिए आवश्यक गुणों पर विशेष बल दिया गया है। ये ही सन्धानकाव्य के लिए आवश्यक तत्व कहे जा सकते हैं ।

सन्धानकाव्य कृतियों की रचना विभिन्न उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर की गयी है। अतएव इनका उद्देश्यानुकूल विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

श्लिष्टकाव्य
शास्त्रकाव्य
विलोमकाव्य
प्रकीर्ण—स्तोत्रकाव्य एवं स्तुत्यर्थक फुटकर रचनाएं ।

प्रथम—श्लिष्टकाव्य के अन्तर्गत वे रचानाएं हैं, जिनमें दो, तीन, चार, पांच, सात या अधिक कथाएं एक ही काव्य के माध्यम से श्लिष्ट पदों द्वारा वर्णित है ।

द्वितीय—शास्त्रकाव्य वे ग्रन्थ हैं, जो शास्त्र भी हैं और काव्य भी, अर्थात् इनमें एक ही काव्य के माध्यम से विशिष्ट कथा के अतिरिक्त व्याकरण आदि की शिक्षा को सरस रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

तृतीय—विलोमकाव्यों में केवल शब्दसन्निवेश की विशेषता है। प्रथम पंक्ति में संयोजित वर्णों को ही विपरीत क्रम देकर द्वितीय पंक्ति की रचना होती है। इस प्रकार केवल शब्द संयोजन वैशिष्ट्य ही इन रचनाओं का गुण है।

चतुर्थ—इन स्फुट रचनाओं का अधिकांश भाग जैन कवियों द्वारा निर्मित स्तोत्रकाव्य हैं। इनमें एक ही श्लोक द्वारा अनेक महापुरुषों की स्तुति की गई है। इनमें कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं, जिनमें स्तुति के अतिगूढ़ तत्वों का भी प्रतिपादन है।

श्लिष्टकाव्य

श्लिष्टकाव्यों का सन्धानकाव्यों में विशिष्ट स्थान है। संख्या की दृष्टि और काव्यगुणों की अपेक्षा से ये अपनी श्रेणी में सर्वप्रमुख हैं। शिल्प की दृष्टि से चाहे एक श्लोक की एक—अनेक व्याख्याओं से संचलित रचना हो, चाहे पूर्ण महाकाव्य हो, सभी में श्लेषालंकार अपरिहार्य है। श्लेष का प्रयोग तो आद्य रचनाओं से सभी में उपलब्ध है, किन्तु शनैः शनैः इसका काव्य में बाहुल्य दृष्टिगोचर होने लगा। यह अवस्था अलंकृति को काव्य का अपरिहार्य अंग मानने वाले युग में ही सन्धानकाव्यों की हुई और इन काव्यों का विकास हुआ। इन काव्यों का प्रधान काल ८ से १९ वीं शती तक है।

समय क्रम की दृष्टि से श्लेषकाव्यों में प्राचीनतम रचना श्री संघदास गणि की 'वसुदेवहिण्डी' में लिखित 'चत्तारि अट्ठगाथा' है, जिसके चौदह अर्थ किये गये हैं। विद्वानों ने इस रचना का समय ५-६ शताब्दी स्वीकार किया है।[50] जैसाकि गत पृष्ठों में वर्णन किया गया है कि श्लेष अलंकार का प्रयोग छिटपुट यत्र तत्र सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु अनेकार्थ काव्य निर्माण का बीड़ा उठाने वाले जैन मनीषी ही हैं। जैन मनीषियों द्वारा विरचित आद्य सन्धान रचनाएँ ही उपलब्ध हैं। उक्त 'चत्तारि अट्ठगाथा' के अतिरिक्त द्विसन्धानमहाकाव्य है, जिसकी रचना ८वीं शती में महाकवि धनंजय ने की थी। इसके पूर्व जैनेतर महाकवि दण्डी विरचित द्विसन्धान काव्य का उल्लेख मिलता है, जिसके ऊपर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है—

दण्डी विरचित—द्विसन्धानमहाकाव्य :

द्विसन्धानकाव्यों की परम्परा में दण्डीकृत द्विसन्धानकाव्य का उल्लेख मिलता है। भोज ने कहा कि दण्डी ने रामायण और महाभारत की कथा पर

आधृत द्विसन्धानकाव्य की रचना की थी।[51] । महोपाध्याय वासुदेव विष्णुमिराशी ने भी दण्डी को द्विसन्धान काव्य का रचयिता माना और उसी को प्रथम द्विसन्धान काव्य स्वीकार किया है। उनका कहना है कि धनंजय का द्विसन्धानमहाकाव्य आदि द्विसन्धान रचना नहीं है, इसके पहिले ७वीं शताब्दी में दण्डी ने भी रामायण महाभारतीय कथाओं का एकीकरण सूचक द्विसन्धानकाव्य रचा है।[52] राजशेखर ने भी दण्डी के तीन प्रबन्ध स्वीकृत किये हैं।[53] काव्यादर्श को छोड़कर दण्डी के तीन प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत द्विसन्धानकाव्य उनकी तृतीय रचना स्वीकृत की गई है। इसका समर्थन डा० हीरालाल जैन एवं आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने भी किया है, उनका विचार है कि काव्यादर्श और दशकुमारचरित के अतिरिक्त द्विसन्धान ही दण्डी की तृतीय रचना थी।[54] प्रो० मिराशी का दण्डीकृत 'द्विसन्धान काव्य' के सम्बन्ध में ऐसा विचार है कि यद्यपि उक्त काव्य उपलब्ध नहीं है तो भी काव्यादर्श के समान ही प्रसादगुण सम्पन्न एक प्रबन्ध द्विसन्धान था। इस बात की पुष्टि उन्होंने श्रृंगारप्रकाश में उद्धृत पद्य के आधार पर की है—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः।
धर्मप्रभाव इत्यासीत्ख्यातोभरतपूर्वजः॥

—रामायणमहाभारतयोदण्डीद्विसंधानमिति।

उक्त श्लोक में श्लेष-योजना द्वारा राम और युधिष्ठिर का वर्णन किया गया है।

रामायण पक्ष—प्रजा की आनन्द वृद्धि करने वाला उदार महिमा से युक्त और भरत का ज्येष्ठ बन्धु राम सबको धर्म नियम सिखाने वाले इस रूप में प्रसिद्ध थे।

महाभारत पक्ष—प्रजा की आनन्द वृद्धि करने वाला उदार महिमा का आश्रय (दुष्यन्त पुत्र भरत) जिसका पूर्वज था, ऐसे यमधर्मा के पुत्र युधिष्ठिर विख्यात थे।[55]

सम्प्रति यह काव्य किसी रूप में भी उपलब्ध नहीं है किन्तु इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि उक्त विवरण तथ्यपूर्ण हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि भोज जैसा विद्वान जिसका उल्लेख कर रहा हो तथा उपर्युक्त विद्वान समीक्षक जिसका समर्थन कर रहे हों, वह सर्वथा असत्य हो ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है।

धनंजयकृत-द्विसन्धानमहाकाव्य :

इसका अपर नाम राघवपाण्डवीय है, जो प्रतिपाद्य विषय के आधार पर दिया गया है क्योंकि इसमें रामायण और महाभारत की कथा एक साथ कुशलतापूर्वक संयोजित की गयी है। प्रत्येक पद्य के दो दो अर्थ हैं, प्रथम अर्थ द्वारा रामचरित का निर्देश है और दूसरे अर्थ से पाण्डवचरित का। समस्त कथावस्तु १८ सर्गों में

विभक्त है। इस महाकाव्य की रचना के समय का उल्लेख न होने से रचयिता के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

डा० के०बी० पाठक ने धनंजय का समय ११२३-११४० ई०के मध्य स्वीकार किया है, जो पाश्चात्य इतिहासविद् ए०बी० कीथ सदृश विद्वानों को भी मान्य है,[56] किन्तु उक्त समय द्विसन्धानकर्ता धनंजय का स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ११वीं शती के पूर्वार्द्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक दार्शनिक ग्रन्थ में द्विसन्धानमहाकाव्य का उल्लेख किया है।[57] वादिराज ने १०२५ ई० में लिखित अपने पार्श्वनाथचरित में धनंजय तथा एक से अधिक सन्धान में उनकी प्रवीणता का उल्लेख किया है।[58] कल्हण ने राजशेखर के नाम से सूक्ति-मुक्तावली में धनंजय के विषय में एक श्लोक उद्धृत किया है।[59] यह राजशेखर काव्यमीमांसा के रचयिता ही हैं, जिनका समय १०वीं शती निश्चित है। अतः धनंजय का समय १०वीं शती से पूर्व होना चाहिए। डा० हीरालाल जैन ने षड्खण्डागम की भूमिका में सूचित किया है कि वीरसेन ने धवला टीका में अनेकार्थ-नाममाला का अधोलिखित श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत किया है—

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययः।
प्रादुर्भावे समाप्तं च इति शब्दं विदुर्बुधाः॥[60]

वीरसेन ने धवलाटीका की ८१६ ई० में पूर्ण किया था। 'धनंजय' ने 'नाममाला' में अकलकदेव का भी स्मरण किया है।[61] अकलंक का समय ७-८वीं शती के मध्य निश्चितप्राय है। अतएव धनंजय को ८०० ईसवी से परवर्ती नहीं माना जा सकता है।

पं० दामोदर झा द्विसन्धानमहाकाव्य के निर्माता धनंजय को ही दशरूपककार धनंजय स्वीकार करते हैं। उनका कहना है, "दशवी शताब्दी के पूर्वार्ध में राजा मुंज की सभा के सदस्य धनंजय का बनाया हुआ भी एक राघवपाण्डवीय नाम का महाकाव्य है। यह काव्य १८ सर्गों में विभक्त है। इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त में धनंजय शब्द आया है, इसलिए इस काव्य का नाम धनंजयकाव्य है। दशरूपक का उद्धरण देते हुए झा जी ने कहा है—

विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन,
विद्वन्मनोराग निबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुंजमहीशगोष्ठी,
वैदग्धभाजा दशरूपमेतत्॥

उक्त कवि मुंज राजा की सभा के सदस्य थे। यह बात स्वयं उन्होंने अपने ग्रन्थ दशरूपक में स्पष्ट की है।[62]

पंडित झा जी को सबसे बड़ा भ्रम तो यह है कि वे द्विसन्धानमहाकाव्य (राघवपाण्डवीय) के रचयिता और दशरूपककार को एक ही व्यक्ति मानते हैं,

जबकि दोनों भिन्न व्यक्ति थे और दोनों धनंजय का समय भी अलग-अलग है। द्विसन्धान (राघवपाण्डवीय) के रचयिता का ८वीं शती समय समीक्षकों द्वारा निश्चित किया जा चुका है। अतएव इस द्विसन्धानमहाकाव्य की रचना ८वीं शती में अवश्य हुई होगी।

ग्रन्थकार ने मंगलाचरण में मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का स्मरण किया है। इसके अनन्तर सरस्वती की स्तुति की है। जम्बूद्वीप के मध्य विराजमान भरतक्षेत्र गंगा-सिन्धु आदि नदियों से सुशोभित है। भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नाम की नगरी है, उसमें पाण्डव और अयोध्या में रामचन्द्र का अवतार हुआ। लेखक ने दोनों पक्षों की घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा विशिष्ट वर्णनों पर अधिक बल दिया है। काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार की भरमार है। अन्तिम सर्ग (१८) में कवि ने पूर्णरूप से चित्रालंकारों की संयोजना की है। सर्वगतप्रत्यागत का प्रयोग द्रष्टव्य है—

ततसारतमास्थासु सुभावानभितारधीः।
धीरताभिनवाभासु सुस्थामा तरसातत॥

—द्विसन्धान १८।१४३।

गतागतबन्ध का उदाहरण—

हरितो हरितो विभ्युराभ्यो राभ्यो विनारयः।
तेभ्यस्तेभ्यः स्वदेशेभ्यः केवलं केऽवलन्न वा॥

—द्विसन्धान १८।१११

शब्दालंकारों में श्लेष का ही प्रधान वर्णन है। कहीं-कहीं श्लेष दुष्कर भी हो गया है। यथा—

बहुधातुगणाकीर्णान्सुमहावागुणादिमान्।
शब्दागम इवोद्देशान्देवलोको न मुंचति॥

—द्विसन्धान ७।५५

व्याकरण शास्त्र के समान गेरू आदि समस्त धातुओं से भरपूर (भवादिक्रिया-गणों से पूर्ण) ऊ (शिव)+आ (ब्रह्मा)+अ (विष्णु) वा अर्थात् महेश ब्रह्मा विष्णु के गुणों से युक्त (उणादि प्रकरणों सहित) अत्यन्त तेजस्वी (शुद्ध तथा आर्य वाक्यों के जनक) ऊँचे स्थलों को (प्रकरणों को) देव लोग नहीं छोड़ते हैं।

युधिष्ठिरपक्ष—

हे धर्मराज। वीर्य शौर्य आदि गुणों के धारक, सुन्दर उत्सवों में सम्मिलित होने के लिए आतुर, अठारह प्रकृति के लोग सोना आदि धातुओं से पूर्ण इस उत्तम देश को नहीं छोड़ते हैं।

अर्थालंकारों का भी बाहुल्येन प्रयोग है। उत्प्रेक्षा की योजना करते हुए कवि लिखता है—

अनिधनेन रसातलवासिना विगलितो निबडं वडवाग्निना।
इह मुहुः शफरीपरिलंघनव्यतिकरात्कथ्यतीव सरित्पतिः ।।

—द्विसन्धान ८/४

अर्थात् समुद्र के नीचे धधकती अनातन बडवानल के द्वारा निरन्तर जला गया यह समुद्र मछलियों की उछल-कूद के बहाने मानों बार-बार उबल रहा है।

यह द्विसन्धानमहाकाव्य शास्त्रीय सभी लक्षणों से संचलित है। इसमें अलकारों का प्रचुर प्रयोग तो है ही किन्तु रसवत्ता भी सहृदयों को आह्लादित करने के लिए पर्याप्त है। कवि ने सम्पूर्ण काव्य में ३१ छन्दों का प्रयोग किया है, जो प्रायः नियमानुकूल पर्याप्त है। काव्य में अनुष्टुप् की सुन्दर योजना परिलक्षित होती है।

ग्रन्थकार ने इसमें सुन्दर-सुन्दर सूक्तियों की योजना भी की है जो ग्रन्थ की चारुता बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती हैं। यह काव्य सभी दृष्टियों से सुन्दर है। इसका काव्य जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान भी है।

ऋषभनेमिकाव्य :[63]

इसका अपर नाम 'नेमिनाभेयद्विसन्धान' काव्य भी है। इसके रचयिता ओघनिर्युक्त पर टीका लिखने वाले तथा अभयदेवसूरि की आगमिक वृत्तियों का संशोधन करने वाले राजा भीमदेव के संसारपक्ष के मानव, द्रोणाचार्य के संसार पक्ष के भतीजे और साधुपक्ष के शिष्य श्री सुराचार्य हैं। इनके पिता का नाम संग्रामसिंह था। बाल्यावस्था का इनका नाम महीपाल था। ये द्रोणाचार्य के पास अभ्यास कर शब्दशास्त्र, प्रमाणशास्त्र और साहित्यशास्त्र में निष्णात हुए थे। शिष्यों को शास्त्रों में प्रवीण करना ही इनका लक्ष्य था, इन्होंने भोज राजा के पण्डितों को पराजित किया था। इसकी रचना विक्रम संवत् १०९० में की गयी थी। इस बात की पुष्टि प्र०च० शृंग १४ श्लोक २५४ की सूचना से भी होती है कि सुराचार्य ने ऋषभदेव और नेमिनाथ इन दोनों तीर्थंकरों के चरित्र से युक्त द्विसन्धानकाव्य की रचना की है।[64] मोहनलाल वलीचन्द्र देसाई का कहना है कि गद्यपद्यमय नेमिचरितकाव्य ही यह ऋषभनेमिकाव्य है।[65]

नाभेयनेमिकाव्य :[66]

यह स्वोपज्ञ टीका युक्त एक द्विसन्धान काव्य है, इसके रचयिता मुनिचन्द्रसूरि के प्रशिष्य तथा अजितदेवसूरि के शिष्य हेमचन्द्रसूरि हैं। इस काव्य का संशोधन श्री सिद्धराज तथा कुमारपाल राजाओं के समकालीन कवि श्रीपाल ने किया था। इसमें भी श्री ऋषभदेव तथा नेमिनाथ का चरित श्लेष के माध्यम से चित्रित किया गया है। इस काव्य की पाण्डुलिपियाँ बड़ौदा और पाटण के पुस्तक भंडारों

में सुरक्षित हैं[67]। प्रस्तुत काव्य की रचना का समय बारहवीं शताब्दी होना चाहिए क्योंकि हेमचन्द्रसूरि का समय बारहवीं शती का उत्तरार्ध स्वीकार किया गया है।

रामचरित :

इस काव्य की रचना संध्याकरनन्दी ने ई० १०८४-११३० के मध्य पालवंशीय नरेश रामपाल के आश्रय में रहकर की थी। काव्य में उत्तर बंगाल की क्रान्ति का विवरण दिया गया है जो पालवंशीय राजा महीपाल के राज्यकाल ११वीं शती के अन्त में हुयी थी। इसमें राजा के छोटे भाई रामपाल ने राज्य की रक्षा की थी।

संध्याकरनन्दी पौंड्रवर्धन के निकटवर्ती बृहद् वटुग्राम के रहने वाले थे। ये नन्दी कुल के थे। इनके पितामह का नाम पिनाक और पिता का नाम प्रजापति था, जो सन्धि विग्रहिक पद को सुशोभित करने वाले थे। कवि ने अपनी विद्वत्ता का परिचय भी प्रशस्ति में दिया है। ये काव्य कला कुल निलय, गुणमणिमेस मनीषियों के स्वामी साहित्यविदों की सीमा, समस्त सभाओं के ज्ञाता थे।[68]

रामचरित ४ सर्गों में विभक्त है, इसमें लगभग २०० पद्य हैं। रामचन्द्र और रामपाल की कथा श्लेष से वर्णित है अन्त में २० पद्य प्रशस्ति रूप में हैं।

कथा के वर्ण्यविषय राजा रामचन्द्र और रामपाल के नाम प्रायः समान है। रामचन्द्र की 'जनकभूः' सीता है तथा रामपाल की 'जनकभूः' पैतृक भूमि है, जिसका अपहरण किया गया। इसी साम्य को आधार बनाकर काव्य की सर्जना हुयी है। कवि ने काव्य को रामायण के समान श्रेष्ठ और स्वयं को कलिकाल का वाल्मीकि माना है। काव्य में काव्यत्व का अभाव-सा परिलक्षित होता है, किन्तु कवि ने अपने काव्य को रस प्रधान कहा है।[69]

इसमें रामचन्द्र की सीता के अपहरण और रामपाल की पैतृकभूमि अपहरण हो जाने पर रामचन्द्र द्वारा सीता की रक्षा का वर्णन और रामपाल द्वारा पैतृकभूमि की रक्षा का वर्णन प्रायः समान है किन्तु यत्र तत्र अप्रसिद्ध अर्थों को देने वाले शब्दों का संकलन हुआ है यथा निम्न पद्य में 'सुनु' शब्द 'पुत्र' के अर्थ में व्यवहृत हुआ है—

तत्र स राजा निवसन्नानाकविषयसन्निवेशेन।
सुनुसमर्पितराज्योरामः कान्तासखाश्चिरं रेजे ॥

—रामचरितम् ४।१।

यहां रामपाल के पक्ष में तो 'सुनु' शब्द का अर्थ पुत्र ही है, पर रामचन्द्र के पक्ष में 'सुनु' का व्यवहार भाई के लिए हुआ है।

पार्वतीरुक्मिणीयम् :

चालुक्यवंशीय शासक सोमदेव के आश्रित कवि विद्यामाधव (११२० से

११३८) ने इसकी रचना की थी।[70] यह काव्य अद्यावधि अप्रकाशित है इसकी हस्तलिखित प्रतियां तन्जौर और मद्रास के ग्रन्थालयों में विद्यमान हैं।[71] यह नव सर्गात्मक काव्य है। इसमें पार्वती और रुक्मिणी के विवाह प्रसंग का श्लिष्ट शब्दों में एक साथ वर्णन किया गया है। प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ निकलते हैं एक पार्वती पक्ष में, दूसरा रुक्मिणी पक्ष में। अतएव इसे द्विसन्धानकाव्यों की कोटि में ही परिगणित किया गया है। सन्धान शैली का यह एक सरल और सरस निदर्शन है।[72]

श्रुतकीर्तिकृत राघवपाण्डवीय :

द्विसन्धान पद्धति में राघवपाण्डवीय नाम की अनेक रचनाओं का उल्लेख विविध कोशकारों एवं इतिहासकारों ने विभिन्न स्थानों पर किया है, उनमें श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के द्वारा रचित राघवपाण्डवीय का भी उल्लेख मिलता है।[73]

श्रुतकीर्ति एवं उनके समय निर्णय के संबंध में मतैक्य नहीं है। महोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी का कहना है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ने राघवपाण्डवीय काव्य की रचना की थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है और साथ में श्रवणवेलगोला के लेखक भी अस्वीकृत करते हैं।

यह बात इसलिए विचारणीय हो जाती है, कि दण्डी के द्विसन्धान का भी तो भोज द्वारा किया गया उल्लेख मात्र मिलता है।[74] श्रुतकीर्ति के समय निर्णय एवं उसकी स्थिति के संबंध में महत्वपूर्ण लेख एवं उल्लेख मिलते हैं। शिलालेख-प्राचीन समय में राजाओं की देखरेख में लिखे जाते थे। इसलिए प्राचीन शिलालेखों की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती और न पम्परामायण से ही इसे गलत ग्रहण किया। हां मिराशी महोदय ने कविराज का एक श्लोक उद्धृत किया और कहा है कि यदि श्रुतकीर्ति कोई श्लेष रचनाकार हुए होते तो कविराज उल्लेख अवश्य करते। श्लोक निम्नलिखित है—

> **सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।**
> **वक्रोक्तिमार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ॥**
>
> राघव पाण्डवीय १/४१

इनमें कविराज ने धनंजय और दण्डी जैसे श्लेष प्रधान काव्यकारों का उल्लेख नहीं किया तो उनका भी अभाव माना जा सकता है। श्रुतकीर्ति की स्थिति काल के संबंध में विविध प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

नागचन्द्र या अभिनवपम्प ने अपने कन्नड में लिखित रामचन्द्रचरित पुराण (पाण्डुलिपि) या पम्परामायण (१/२४-५ बंगलौर १९२१) में लिखा है—

आर्वों वादिकथात्रयप्रवण दोले विद्वज्जनं मेच्चे
विद्यावष्टंभमनप्पुकैटवु परवादिक्षोणिभृत्पक्षभं ।
देवैद्यं कडितंदर्दिदे कडिदं स्याद्वादविद्यास्त्रिंदं
त्रैविद्य श्रुतकीर्ति दिव्यमुनिवोल् विख्यातीयं तालिदवं ॥२४॥
श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रति राघवपाण्डवीयमं विबुधचमत्—
कृतियेनिसि गतप्रत्या—
गतवि तेल् दमलकीर्तियंप्रकटिसिद ॥२५॥

उक्त पद्य श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख संख्या ४० सी ६४, सन् ११६३ ई० में उद्धृत है।[75] इन श्रुतकीर्ति त्रैविध उल्लेख तेरदाल के ११२३ ईसवी के एक शिलालेख में है—पतु परवादीमपंचाननर सधर्म्मरु। श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रतिपर षटुतर्ककर्कश परवादिप्रतिभाप्रदीपपवनरजतदोषद नेगल दरखिल भुवनान्तरदोलु।[76]

नागचन्द्र ने उन्हें व्रती कहा है। उसी तरह तेरदाल शिलालेख में भी। अर्थात् ११२३ ईसवी में वे व्रती थे, किन्तु ११३५ ईसवी में एक आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे विद्वानों की राय में (आर० नरसिंहाचार्य कर्नाटक कवि विरचित भाग १ बैंगलोर १९६१, पृ० ११० ई०) नागचन्द्र ११०० ई० के लगभग हुए।[77]

उक्त विवरण के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य नाम के कवि और आचार्य हुए थे जिनका अनुमानित समय ११०० ई० से ११५० ई० के मध्य होना चाहिए। उन्होंने राघवपाण्डवीय श्लिष्ट काव्य की रचना भी की थी किन्तु अभी तक उक्त काव्य की पाण्डुलिपि भी प्राप्त नहीं हुयी है।

सप्तसन्धान :

हेमचन्द्रसूरि ने सप्तसन्धान की रचना की थी।[78] यह सप्तसन्धान नाम का काव्य सम्प्रति समुपलब्ध नहीं है किन्तु इस बात का भी पूर्ण रूप से निषेध नहीं किया जा सकता है कि हेमचन्द्रसूरि के द्वारा सप्तसन्धान काव्य की रचना नहीं की गयी थी क्योंकि मेघविजयगणि ने लिखा है कि मैं अपना यह सप्तसन्धान महाकाव्य कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि के सप्तसन्धान—काव्य के अभाव की पूर्ति हेतु लिख रहा हूं।[79] इससे सिद्ध होता है कि हेमचन्द्रसूरि ने सप्तसन्धान काव्य की रचना अवश्य की थी।

नलयादवराघवपाण्डवीय :

यह काव्य 'चतुस्सन्धान' नाम से विद्वानों द्वारा उल्लिखित किया गया है।[80]

यह सम्भवतः १२वीं शती में रचा गया था।[81] नलविलास परिचय में रामचन्द्र ने इसका उल्लेख किया है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और ग्रंथकार में उल्लेख मिलता है, इससे यह ज्ञात होता है कि यह काव्य लिखा अवश्य गया होगा किन्तु पाण्डु-लिपि ही काल कवलित हो गयी हो।

राघवपाण्डवीयम् :

यह त्रयोदश सर्गात्मक महाकाव्य संस्कृत सन्धान काव्यों के अन्तर्गत एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इस ग्रन्थ के विषय में सम्पूर्ण संस्कृत समाज परिचित है। इस काव्य के रचयिता के नाम के संबंध में मतैक्य नहीं है। पुरातत्व के अन्वेषक के० बी० पाठक के विचार से इस कवि का व्यक्तिगत नाम माधवभट्ट था, कविराज इसकी उपाधि थी,[82] किन्तु डाक्टर सुब्बैया ने राघवपाण्डवीयम् के निम्न उद्धरण—

तस्यावदातैः कविसूक्तिसूत्रैः संस्यूतनानागुणरत्नराशेः।
विनोदहेतोः कविराजसूरिर्निबन्धनद्वन्द्वमिदं विधत्तेः॥

—राघवपाण्डवीयम् १/३५।

के आधार पर कविराज इसका नाम और सूरि शब्द नाम के अन्त में जोड़ा गया है, यह सिद्ध किया है।[83]

धनंजय के समान कविराज ने सभंग अभंग श्लेष के आश्रय से रामकथा एवं पाण्डवकथा को एक काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। अपने काव्य की विशेषता को बतलाते हुए कवि ने कहा है कि 'महाभारतरूपी स्वर्ण में जड़ा हुआ श्री रामायणरूपी माणिक्य किसका मन आश्चर्यचकित नहीं कर देता।'[84]

कवि ने केवल आश्रयदाता का ही उल्लेख किया है। प्रथम सर्ग में कदम्ब-वंशीय राजा की प्रशंसा में प्रभूत श्रम किया गया है। कविराज के आश्रयदाता चालुक्यवंशीय नरेश सोमेश्वर चतुर्थ के महामण्डलेश्वर थे।[85] अतः कामदेव के सभा पण्डित का समय १२वीं शती होना निश्चित है। कवि ने स्वयं कामदेव की धारा नरेश मुंज से तुलना की है।[86] कृष्णमाचारि ने कविराज को कीर्ति नारायण एवं चन्द्रमुखी का पुत्र और गौतमगोत्रीय ब्राह्मण कहा है।[87] कवि का वैदुष्य निःसन्देह है। कवि अपनी विद्वत्ता के विषय में कहता है कि सुबन्धु बाण और कविराज के अतिरिक्त कोई वक्रोक्ति मार्ग में प्रवीण नहीं है।[88]

'राघवपाण्डवीयम्' महाकाव्य के समस्त लक्षणों से समलंकृत है। श्लेष के चमत्कार का आद्योपान्त निर्वाह हुआ है। इसमें राम-रावण और युधिष्ठिर-दुर्योधन का वर्णन किया है किन्तु कुछ स्थानों पर विरोधी क्रम भी अपनाया गया है। जैसे रावण द्वारा जटायुवध का वर्णन, भीम द्वारा जयद्रथ की दुर्दशा का वर्णन[89]

मेघनाद द्वारा हनुमान बन्धन का, अर्जुन द्वारा विराटनगर में दुर्योधन की पराजय का वर्णन।[90] रावणपुत्र की मृत्यु के साथ अभिमन्युवध का वर्णन किया गया है।[91]

काव्य में प्रायः सभंग और अभंग दोनों श्लेषों का आश्रय ग्रहण किया गया है, किन्तु कुछ स्थलों पर बिना श्लेष के दोनों पक्षों में समान वर्णन किया गया है। जैसे—

असन्ततेः सन्ति कुतः सुखानीत्यसौ विचिन्त्यप्रतिपन्नमन्युः।
सार्धं स्वदारैर्नियतः सुतार्थे राजा सुरप्रार्थनतत्परोऽभूत॥

—राघवपाण्डवीय १/६२

अर्थात् निःसन्तान व्यक्ति को सुख कहां? ऐसा विचार करके शोकयुक्त वह राजा दशरथ अथवा पाण्डु अपनी स्त्रियों के साथ नियम पालन करते हुए पुत्र प्राप्ति के लिए देवताओं की स्तुति करने में तत्पर हो गये।

कविराजसूरि ने वर्णन चारुता का पूर्ण ध्यान रखा है। कवि हाथियों द्वारा अपने ऊपर फैंकी गयी धूलि का कारण उत्प्रेक्षा अलंकार से अलंकृत करते हुए कहता है—

गमनमलसयानैः कुम्भलक्ष्मीं कुचाभ्या-
मविकलकरशोभामुत्कटाण्डद्वयेन।
यदियमहरदेषां हेतुना तेन नूनं,
निजवपुषि करीन्द्राः पांसुपूरं क्षिपन्ति॥

—राघवपाण्डवीय २/१८

अर्थात् इस सीता ने दूसरे पक्ष में द्रौपदी ने इन हाथियों की गमन शोभा अपने मन्द गमन से, मस्तक की शोभा दोनों स्तनों से, सम्पूर्ण शुण्ड की शोभा दोनों ऊरुदण्डों से छीन ली है। इस कारण से निश्चित ये हाथी अपने शरीर पर अनादर की बुद्धि उत्पन्न होने से धूलियों का ढेर डाल लेते हैं।

कवि ने प्रस्तुत काव्य में उपमा का सुन्दर प्रयोग किया है—

कन्यां निधानकलसीमिव कार्मुकं च,
भीमं भुजंगामिव तत्प्रतिबन्धरूपम्।
दृष्ट्वा विलोलमतयः कतिचित्क्षितीशा,
नादातुमुज्झितुमपि क्षमतामवापुः॥

—राघवपाण्डवीय २/२२

खजाने के घड़े के समान उस कन्या सीता को दूसरे पक्ष में द्रौपदी को तथा उसके प्रतिबन्धक स्वरूप भयंकर सर्प के समान उस धनुष को देखकर कन्या प्राप्ति

के लोभ से तथा धनुष चढ़ाने की अक्षमता के भय से विचलित बुद्धि वाले कुछ राजा लोग न तो धनुष को पकड़ने में और न त्याग करने में समर्थ हुए अर्थात् लोभ और भय के कारण धनुष छूने तथा छोड़कर हट जाने में से कुछ भी निर्णय न कर सके।

इस काव्य में युद्ध वर्णन विस्तार के साथ वर्णित है। आठवें सर्ग में दोनों पक्षों के युद्धों को मिलाते हुए वर्णन किया गया है, फिर श्लेष के द्वारा राम-रावण सैनिकों के तथा युधिष्ठिर, दुर्योधन सैनिकों के प्रधान वीरों के नामोल्लेख करते हुए बहिन पुत्र सेनापति नील का बहिन प्रभव सेनापति धृष्टद्युम्न से सम्मेलन कर वर्णन किया गया है।

अश्विनीकुमार के पुत्र मैन्द द्विविद को अश्विनीकुमार के पुत्र नकुल सहदेव से मिलाते हुए, वायु के पुत्र हनुमान को वायुपुत्र भीम से सम्मेलन कराकर युद्ध वर्णन किया गया है। नवम सर्ग में दोनों-दोनों सेनाओं को मिलाते हुए युद्ध का विस्तृत वर्णन करके सुग्रीव से मानभंग प्राप्त करके सायंकाल रावण के लंकानगर में प्रवेश करने को अर्जुन के द्वारा किरीट-खण्डित होने के बाद सायंकाल कर्ण के शिविर प्रवेश से मिलाया गया है। इसके बाद के युद्ध में कुम्भकर्ण से मिलाकर भगदत्त को युद्ध करने के लिए भेजा गया है। कुम्भकर्ण के युद्ध से भगदत्त के योजनपाल हाथी के भयंकर युद्ध में मिलाकर वर्णन किया गया है। युद्ध में सुग्रीव और भीम की बुरी दशा हो गयी। रामचन्द्र और अर्जुन कुम्भकर्ण और भगदत्त के मोर्चे पर उपस्थित हुए। राम ने कुम्भकर्ण को और अर्जुन ने भगदत्त को मार डाला।

इस प्रकार कवि के द्वारा युद्ध का विस्तृत वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण काव्य कुल ६६४ श्लोकों में निबद्ध है। अधिक विस्तार न होने पर भी काव्य में महाकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण समाविष्ट हैं और सभी वर्णन यथोचित ढंग से सुनियोजित किए गए हैं। काव्य सरल और सुन्दर होने से मनोहारी बन पड़ा है।

रसिकरंजनम् :

इस काव्य की रचना लक्ष्मण भट्ट के पुत्र श्री रामचन्द्र भट्ट ने १५४२ ई० में की थी।[92] उन्होंने शृंगार तथा वैराग्य की भावना के प्रकाशनार्थ द्विसन्धान पद्धति के इस काव्य को लिखा। इसमें १२८ श्लोक हैं, जिनमें सभंग श्लेष के आश्रयण से शृंगार एवं वैराग्यपरक भावनाएं उपनिबद्ध की गयी हैं।

यह काव्य मुक्तक रूप में लिखा गया है। इसमें कथा विशेष का वर्णन नहीं है। स्वतंत्र भावों को पृथक्-पृथक् पक्षों में अभिव्यक्त किया गया है। इस काव्य

में श्लिष्टता की अपेक्षाकृत दुर्बोधता कम है और रसानुभूति अधिक है, किन्तु शब्द श्रवण मात्र से ही रसानुभूति नहीं हो पाती है कवि ने दोनों (शृंगार एवं वैराग्य) भावनाओं का चित्रण स्वाभाविक रूप में किया है—

वेति सारतयात्मानं परं चेन्न कदाचन ।
संसाररसमग्नत्वं तत्कथं विजहात्वसौ ॥

रसिकरंजनम् श्लोक-१०५

इसका वैराग्यभावनापरक अर्थ इस प्रकार है—जब तक मनुष्य परमात्मा को एक मात्र सार के रूप में नहीं जानता, तब तक वह कैसे संसार मग्नता को छोड़ेगा ?

शृंगार भावनापरक अर्थ—जब वह स्त्री रतिकाल में अपने को एवं पर-पुरुष को आनन्द मग्नतावश भूल जाती है, तो संसार सौख्यमग्नता को कैसे छोड़े ?

इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह काव्य संवलित है और अपनी द्विविध रसानुभूति के द्वारा यह विद्वत्त समाज को आनन्दित करता है। काव्य के अन्त में कवि ने अपना वंशानुगत परिचय भी दिया है।[93]

अबोधाकरम् (घनश्याम १७२८ ई० से १७३५ ई०) :

तंजोर के राजा तुकोजी के मन्त्री घनश्याम ने नल, कृष्ण और हरिश्चन्द्र के भिन्न-भिन्न चरितों को इस काव्य में एक साथ ग्रथित किया है। काव्य की टीका स्वयं ग्रन्थकार ने ही लिखी है। यह त्रिसन्धान पद्धति की प्रौढ़ रचना है। ग्रन्थकार ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

तनुरुचि यो न श्यामः कवीनां सपदि घनश्यामः ।
कवनेकधैनश्यामः किमसूर्याभिर्मुधैवघनश्यामः ॥

कौसलभोसलीयम् (शेषाचल कवि १८वीं शती) :

छह सर्गों का यह द्वयर्थीकाव्य तंजौर के भोसलेवंशीय एकौजी के पुत्र शाह जी तथा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के चरितों से संवलित है। इन दोनों चरितों को कवि ने श्लेष द्वारा एक ही साथ बड़े कौशल से संयोजित किया है। यह कवि शाह जी भोसले का आश्रित था।[94] इसकी अन्य रचनायें भी उपलब्ध होती हैं।

नैषध-पारिजातम् (कृष्णदीक्षित, १८वीं शती) :

प्रस्तुत काव्य में राजा नल तथा पारिजातहरण की कथा का एक साथ वर्णन करते हुए द्विसन्धानकाव्य की परम्परा का निर्वाह किया गया है।[95]

जगन्नाथ विरचित सप्तसन्धान :

इसका भी इतिहास ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि पं० जगन्नाथ ने भी सप्तसन्धान की रचना की थी। इस काव्य पर पुष्पसेन की टीका है।[96]

कलिदूषणम् (घनश्याम, १८वीं शती) :

इस काव्य में संस्कृत और प्राकृत भाषा रूप उभयाश्रित श्लेष काव्य का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कवि ने कलिकाल के दूषणों का उल्लेख किया है।

घनश्याम कवि ने संस्कृत भाषा में ६४ और प्राकृत भाषा में २० ग्रन्थों की रचना की है। इनकी रचना में पण्डितराज जगन्नाथ जैसी निर्भीकता परिलक्षित होती है। एक स्थान पर इन्होंने लिखा है—

पुत्रो रोदितुं सम्प्रदर्श्य जठरं ज्ञातान्नमित्यन्वहं,
भार्यामूर्खदरिद्रपुंगव गृहाद् गच्छति संक्रध्यतु।
इन्द्रोऽसि द्रुहिणोविष्णुरसिभोः शर्वोऽति साक्षादिति,
वृत्वा केचन पामरं न च वयं याचामहे कांचनम् ॥[97]

राघवयादव-पाण्डवीय :

इसमें राम, कृष्ण और पाण्डवों के चरित्र का वर्णन कवि ने बड़ी चतुराई से किया है। इसका रचयिता चिदम्बरसुमति, विजय नगर के राजा व्यंकट के सभा पण्डित थे। अतः इनका समय १५८६-१६१४ ई० के मध्य स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि विजयनगर के राजा के समय का उक्त उल्लेख ही प्राप्त होता है।

यह काव्य त्रिसन्धान पद्धति का काव्य कहा जायेगा। इसमें शब्दावली कहीं कठिन और कहीं सरल है। इसका एक पद्य उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है—

अस्त्यंचिता या मधुरा, समानैरनेक शोभारत-वासभूमिः।
परैर्वदालंकरणैः प्रवीरैः पूर्हस्तिनामास्पदभूदयोध्या ॥[98]

यादवराघवपाण्डवीय :

मैसूर प्रान्त के उदयेन्द्रपुरवासी पं० अनन्ताचार्य ने इस त्रिसंधान पद्धति के काव्य की रचना की है जो भागवत, रामायण और महाभारत की कथाओं से सम्बद्ध है।[99]

राघवनैषधीयम् :

यह काव्य सन्धान परम्परा का अन्तिम श्लेषकाव्य है, इसकी रचना हरदत्त-

सूरि ने की है। इन्होंने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्तिम दो श्लोकों में दिया है, है, जिससे ज्ञात होता है कि कवि गार्ग्यवंशीय जयशंकर का पुत्र था।[100] इनके स्थान और समय का निर्णय नहीं हो सका है। ग्रन्थकार स्वयं इस काव्य के टीकाकार भी हैं। इन्होंने टीका में वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित का उल्लेख किया है।[101] भट्टोजिदीक्षित का समय १६३० ई० है। इससे स्पष्ट है कि हरदत्त सूरि भट्टोजिदीक्षित के पश्चात्वर्ती हैं। १८वीं शती इस काव्य की उपलब्धि का समय है। अतएव इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित कहा जा सकता है।

स्वल्पकाय इस काव्य के प्रथम सर्ग में १२६ श्लोक और द्वितीय सर्ग में २२ श्लोक हैं। प्रथम सर्ग में राम और नल की कथाएं श्लेष के माध्यम से वर्णित हैं। द्वितीय सर्ग में सभी ऋतुओं का वर्णन है। काव्य में स्वरूप कलेवर के अनुसार राम और नल की विस्तृत घटनाओं का संक्षिप्त रूप दिया गया है। ग्रन्थ का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण ढंग से दो कथाओं का एकत्र निबन्धन है, इसका उल्लेख स्वयं टीका में किया है।

सभंगश्लेष के माध्यम से काव्य का निर्माण हुआ है, जिससे काव्य में कुछ क्लिष्टता परिलक्षित होती है। यथा—

अयं सुतः स्याद्भरतो हि राज्यं,
बम्भ्रम्यमाणो विपिने वसीवेत्।
वधूसमेतो वरदानतः पुरा
राजानमित्याह कनिष्ठमाता॥[102]

अपने पुराने वरदान को मांगते हुए कैकेयी ने दशरथ से कहा कि मेरे पुत्र भरत का राज्याभिषेक हो और राम पत्नी सहित वन में भ्रमण करें।

इस प्रकार रामपक्षीय अर्थ तो स्पष्ट है परन्तु नल पक्ष में भी अर्थ करना आवश्यक है। भरत और कनिष्ठमाता शब्दों की विशिष्ट व्याख्या करके नल-पक्षीय व्याख्या ग्रन्थकार ने स्वयं लिखी है।[103]

काव्य में अनेक सरस प्रसंग भी उपलब्ध होते हैं जिनके द्वारा काव्यत्व की अभिवृद्धि होती है।

रामचन्द्र द्वारा सीता वरण के प्रसंग को सरस रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है, साथ में नल के द्वारा दमयन्ती के पास भेजे जाते हुए हंस से दमयन्ती के सौंदर्य का चित्रण कराया है। जनक के यहां से शतानन्द राजा दशरथ के यहां सन्देश ले जाते हैं कि आप सीता का राम के साथ विवाह कराकर मिथिला को प्रसन्न करें। स्वर्णमय हंस दमयन्ती से प्रस्ताव रखता है कि राजा नल से तुम्हारा विवाह हो,

तभी विदेह भू: की सार्थकता है।[104]

राम का सीता के साथ विवाह सम्पन्न हुआ, राम का परशुराम के साथ युद्ध और नल का कलिसेना के साथ युद्ध हुआ। सत्य के पालन हेतु राम और नल दोनों बन को गये। राजा नल तपश्चरण करते हैं, राम बन में रहते हुए रावण को मारकर सीता को वापस लाये हैं। राम ने शम्बूक का वध किया था, इत्यादि वर्णन के साथ प्रथम सर्ग की समाप्ति की गई है। द्वितीय सर्ग में षड्ऋतु का वर्णन मनोरम रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मनोरम कल्पनाओं से संवलित काव्य सन्धान कोटि का एक अनुपम निदर्शन सिद्ध होता है।

यहां तक उन प्रमुख सन्धानकाव्यों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया जो सन्धानकाव्य के प्रथम भेद (श्लिष्टकाव्य) के अन्तर्गत आते हैं। सम्प्रति सन्धानकाव्य के द्वितीय भेद (शास्त्रकाव्य) से सम्बद्ध रचनाओं का संक्षिप्त समीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

शास्त्रकाव्य

इन काव्यों में एक ही काव्य के माध्यम से विशिष्ट कथा के अतिरिक्त व्याकरण आदि की शिक्षा को सरस रूप में प्रस्तुत किया गया है, अर्थात् जिस प्रकार नीति शिक्षा के लिए पंचतंत्र और हितोपदेश कोमलमति पाठकों के लिए लिखे गए हैं, उसी प्रकार व्याकरण और अलंकार की शिक्षा के लिए नीरस व्याकरण ग्रन्थों के दुरूह मार्ग को काव्य छाया से सुखद बनाया गया है। ये शिल्प की दृष्टि से असाधारण नहीं है किन्तु इनमें व्याकरण के धातु, प्रत्यय आदि का संकलन विशिष्ट प्रकरण के उदाहरणों के रूप में ही किया गया है, जिससे काव्य का जिज्ञासु कथा के साथ-साथ व्याकरण को भी सीख लेता है। इन शास्त्रकाव्यों का विशेष महत्व है, क्योंकि व्याकरण को साहित्य के अध्ययन के लिए जानना आवश्यक है।

सन्धानकाव्यों में अनेकार्थता तो आवश्यक ही है। इस दृष्टि से शास्त्रकाव्यों को सन्धान काव्य कहने में थोड़ा संकोच होता है, क्योंकि भट्टिकाव्य आदि में रावणवध वृतान्त को ही मुख्यत: अन्य वर्णनों के साथ वर्णित किया गया है। इसके साथ ही कवि का संरम्भ व्याकरणशास्त्र सम्मत प्रयोगों के साधुत्व का परिचय कराने में भी है। इसलिए साहित्यिक भावना के अनुसार इनमें काव्य

तत्व के निर्वाह का यथासम्भव प्रयास तो है ही, साथ ही व्याकरण शास्त्र की व्युत्पत्ति कराने में भी कवि का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, अतएव उभय विषयाश्रयी होने से विद्वान लोग इन्हें सन्धान काव्य की सीमा में आबद्ध करते चले आ रहे हैं।

उभयविषयाश्रित प्रधान काव्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

भट्टिकाव्य :

यह ग्रन्थ रत्न शास्त्रकाव्य परम्परा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। यह महती प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इस काव्य के कर्तृत्व और इसके अभिधान के विषय में विद्वत् वर्ग में मतैक्य नहीं है।

यह काव्य भट्टिकाव्य, रामकाव्य, रामचरित और रावणवध आदि नामों से जाना जाता है। इसके रचयिता के भी अनेक नाम मिलते हैं। भट्टि ब्राह्मण, भट्टिपण्डित, भट्टिमहाब्राह्मण, भट्टस्वामी, स्वामीभट्ट एवं भर्तृस्वामी। भट्टि और भर्तृ के किंचित् शब्दसाम्य के कारण पाश्चात्य विद्वानों में अधिक शंकाएं उत्पन्न हो गयी हैं। लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में अपने आश्रयदाता का उल्लेख किया है, जिससे प्रतीत होता है कि ये वलभी नरेश श्रीधरसेन के आश्रित थे।[105] गुजरात के इतिहास के अनुसार श्रीधर संज्ञक कुछ राजाओं ने वलभी पर शासन किया था। उनका समय लगभग ५०० ई० से ६५० ई० के मध्य स्वीकार किया जाता है। प्रो० भोलाशंकर व्यास के अनुसार इनमें से श्रीधर नामक किसी शासक से भट्टि नामक कवि को भूमिदान दिया गया, ऐसा उल्लेख में मिलता है।[106] इस प्रकार इनका समय षष्ठ शती का उत्तरार्द्ध और सप्तमशती का पूवार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है।

भट्टिकाव्य की रचना रामायण के कथानक के आधार पर की गयी है। रामायण के कथानक में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने के कारण ही इसे उक्त नामों से अभिहित किया गया है। यह २२ सर्गात्मक व्याकरणशास्त्र विषयक एक प्रधान काव्य है। इसके रचयिता महाकवि भट्टि शैव मतावलम्बी थे। अतएव इसमें शैवमत के प्रभाव से पात्रों का धर्म परिवर्तन दृष्टिगत होता है। इसमें उत्तरकाण्ड और बालकाण्ड की कथाएं छोड़ दी गयी हैं।

भट्टिकाव्य में काव्यशास्त्रीय महाकाव्यलक्षण का पूर्ण समन्वय नहीं है, तो भी उसका अभाव भी नहीं कहा जा सकता। धीरोदात्त नायक, उद्धत प्रतिनायक, सर्गान्त में छन्द परिवर्तन, नगर, आश्रम और ऋतु आदि का वर्णन भी इसमें पर्याप्त है। युद्ध वर्णन की अधिकता होने के कारण वीर, रौद्र और वीभत्स रस

भी हैं। कहीं-कहीं शृंगार और शान्त रस की भी झलक दिखलाई पड़ती है। रसवत्ता को व्याकरण प्रयोगों ने अभिभूत कर दिया है, इसलिए रसानुकूल शब्दावली का प्रयोग कम दीखता हैं और व्याकरणपरक कृत्रिम शब्दों का प्रयोग अधिक है।

यद्यपि कवि ने इसका सुगठित रूप से कथानक संगठित किया है, फिर भी व्याकरण प्रयोगों की सिद्धि के कारण भट्टि को कथानक में एक विशेष परिवर्तन लाना पड़ा है। उदाहरणार्थ लृट् लकार के रूप देने के लिए भविष्यत की घटनाओं की कल्पना करनी पड़ी है, जो मूल कथानक का परिवर्तन ही है।

भट्टिकाव्य में समास का बाहुल्य है। इस काव्य की विशेषता है कि व्याकरणात्मक प्रत्ययों, शब्दों और धातुओं का अधिक प्रयोग होने पर भी इसकी काव्यात्मकता समाप्त नहीं हुयी। इसकी प्रशंसा में कवि ने स्वयं कहा है कि वैयाकरणों के लिए दीपक तुल्य और व्याकरण न जानने वाले के लिए यह अन्धे के हाथ में दर्पण के तुल्य है।[107]

काव्य संबंधी गुण अलंकार रस आदि सभी का इसमें सद्भाव है। कवि ने प्रसाद गुण की तिर्गत प्रयोग के साथ भी रक्षा की है। कवि की विचारधारा प्रवाहमयी है। इसके कथानक में गति है और साथ ही अनुप्रास यमक जैसे शब्दालंकारों का चमत्कार भी परिदृश्यमान है।

विशंकटो वक्षसि बाणपाणिः
सम्पन्नतालद्वयसः पुरस्तात्।
भीष्मोधनुष्मानुपजान्वरत्निस्म
राम पथि जामदग्न्य॥

—भट्टि० २/५०

भट्टिकाव्य में अलंकारों का बाहुल्य होने पर भी इसके काव्य सौन्दर्य में न्यूनता नहीं आने पायी है—

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा,
विलसितं ह्रसितं स्मरभासितम्।
न समदाः प्रमदाः हत सम्मदाः
पुरहितं विहितं न समीहितम्॥

—भट्टि० १०/६

शरद ऋतु का वर्णन एकावली अलंकार के सहयोग से सुन्दर बन पड़ा है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं,
न पंकजं तद्मदलीमषट्पदम्।

न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्जयः
कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः ।।
—भट्टि० २/३९

अर्थात् उस शरद् ऋतु में ऐसा कोई तालाब न था, जिसमें सुन्दर कमल न हों, ऐसा कोई कमल नहीं था जिसमें भौंरें न हों, ऐसा भौंरा न था, जो गुंजन न कर रहा हो, ऐसा गुंजन न था जो मनोहारी न हो।

कवि ने निम्नलिखित पद्य में अध्यैष्ट, अयष्ट, अताप्सीत, समसंस्त्र, अरैस्त आदि लुङन्त रूपों के प्रयोग को समझाने का प्रयास किया है—

सोऽध्यैष्ट वेदास्त्रिदशानयष्ट,
पितृनपारीत् सममंस्त बन्धून ।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ
समूलघातं न्यवधीदरीश्च ।।
—भट्टिकाव्य १/२

वे राजा दशरथ वेदों का अध्ययन, देवयजन, पितृतर्पण, बान्धवों का सम्मान करते थे। काम क्रोधादि षड्वर्गों को उन्होंने जीत लिया था। नीतज्ञ थे और शत्रुओं को उन्होंने समूल नष्ट कर दिया था ।

इसी प्रकार परोक्षभूत (लिट लकार) की क्रियाओं के उदाहरण समझाने के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें बबन्धे, ममन्ये, जहे, विजिग्ये और ऊहे क्रियाएं प्रयुक्त हुयी हैं।

बलिबबन्धे जलधिर्ममन्ये,
जहे ऽड मृतं दैत्यकुलं विजिग्ये ।
कल्पाऽतदुःस्था वसुधा तथोहे
येनैषभारो ति गुरुर्नतस्य ।।
—भट्टिकाव्य २/३९

भट्टिकाव्य में पात्र से सम्बद्ध गुणों की अभिव्यक्ति के साथ उदाहरण रूप में प्रयुक्त किए गए प्रत्ययों का उपस्थापन भी महत्वपूर्ण ढंग से किया गया है—

निराकरिष्णु र्वांतष्णू र्वाधष्णू परितोरणम् ।
उत्पतिष्णू सहिष्णू च चरेतुः खरदूषणौ ।।
—भट्टिकाव्य ५/१

उक्त उदाहरणों को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि भट्टिकाव्य में काव्यत्व के साथ कृत्रिम व्याकरणात्मक प्रयोग शास्त्र काव्य की दृष्टि में योग्य हैं।

भट्टिकाव्य श्लेष, समता, प्रसाद, ओज एवं कान्ति गुणों के सद्भाव के कारण वैदभी रीति (शैली) का काव्य है। यह कृत्रिमतापूर्ण शब्दनिष्ट उत्तम कोटि का शास्त्रकाव्य सिद्ध होता है।

कविरहस्यम्:

कवि हलायुद्ध ने दक्षिण भारतीय राष्ट्रकूट नरेश कृष्णराज तृतीय[108] (९४०-९५३ ई०) के गौरव वर्णन के साथ व्याकरण के नियमों का यथासंभव समावेश पूर्वक कवि रहस्य नामक रचना की है।[109] इस काव्य में शब्द शास्त्र शिक्षा की मुख्यता है और कृष्णराज तृतीय का वैशिष्ट्य वर्णन गौण है। काव्य का आकार १७४ श्लोक प्रमाण है। कवि ने अपना परिचय नहीं दिया, किन्तु काव्य के अन्तिम श्लोक के इस अंश से 'सदभिधाननिधानहलायुधद्विज वरस्य कृति सुकृतात्मनः' ज्ञाता होता है कि आप ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे। इनके आश्रयदाता कृष्णराज तृतीय (९४०-९५३ ई०) थे, अतएव इनका समय १०वीं शती निश्चितप्राय है।

काव्य में कृष्णराज का पूर्ण चरित्र न देकर स्फुट रूप में उसके गुणों का ही कीर्तन किया है। कविरहस्य का यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

धूनोतिचम्पकवना निधुनोत्यशोकं,
चूतं धुनातिधुवतिस्फुटतिमुक्तम्।
वायुर्विधूनयतिकेसरपुष्परेणून्,
यत्काननेघवतिचन्दनमंजरीश्च ॥[110]

इस श्लोक में स्वादि, क्रयादि, तुकादि, चुरादि, भ्वादि गणों में आयीं हुयीं धू, धृ, धु धातुओं के जो सदृश प्रतीत होती हैं। रूप वैभिन्य को कवि द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

अपने आश्रयदाता कृष्णराज तृतीय का गुणगान करते हुए कवि ने निम्न-लिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

तृष्णां न पुष्णाति यशांसिपुष्यति।
प्रचारणैविप्रेमनांसि पोषति ।
भृत्यांश्च यः पोषयति हितैर्धनैः,
प्रतिक्षणं पूषति यस्य विक्रम; ॥

कविरहस्यम-श्लोक २१

दिवादि, क्रियादि, भ्वादि, चुरादि गणों की पूष् तथा भौवादिक पूष् धातुओं के सदृश प्रतीयमान रूपों के उदाहरण उपर्युक्त श्लोक में कवि द्वारा प्रस्तुत किये

गये हैं।

ग्रन्थ की रचना जिन व्याकरण शिक्षा एवं आश्रयदातृ प्रशंसा रूप कारणों से की गयी है, उनमें कवि ने निःसन्देह सफलता प्राप्त की है किन्तु काव्य में काव्यगुणों की न्यूनता है, जिससे काव्य रसबोध कराने में सहायक नहीं होता है। गणपाठ और धातुओं के प्रयोग का बाहुल्य दिखलायी पड़ता है, जो काव्य में कथा का प्रवाह सुन्दर रीति से नहीं चलने देता है।

रावणार्जुनीयम् :

इस काव्य के लेखक भट्टभौमिक हैं। इन्होंने काव्य में अपना परिचय नहीं दिया है, किन्तु क्षेमेन्द्र कृत' सुवृत्ततिलक' में इनका उल्लेख प्राप्त होता है।[111] 'सुवृत्ततिलक' के रचयिता क्षेमेन्द्र का निर्णीत समय १०२८ से १०८९ ई० है। अतएव इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्टभौमिक १०८० ई० से पूर्व अवश्य हो चुके थे और रावणार्जुनीयम् की रचना भी कर चुके थे। कवि ने स्वयं का परिचय नहीं दिया, अतएव कवि का स्थान भी संशयास्पद है, किन्तु कश्मीरी ग्रन्थों में इनका अधिक उल्लेख प्राप्त होता है। अतएव इन्हें कश्मीरज मान सकते हैं।

काव्य के नाम से स्पष्ट है कि इसमें रावण और कार्तवीर्य अर्जुन की कथा निबद्ध है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों का उल्लेख करते हुए उदाहरणार्थ श्लोक दिए गये हैं। सम्पूर्ण काव्य २७ सर्गों में विभक्त है। काव्य में नीरसता और माधुर्य दोनों का समावेश है। कुछ स्थलों में मात्र व्याकरणिक प्रयोग ही प्रयुक्त होने से काव्यत्व की सीमा अवरुद्ध सी होती हुयी दिखती है।

इसमें व्याकरण शिक्षा सफलतापूर्वक उपस्थित की गयी है। ग्रन्थ पढ़ते समय काव्यरस की अपेक्षा पाण्डित्य बोध अधिक होता है। 'अष्टाध्यायी' के द्वितीय अध्याय तृतीयपाद के सूत्र 'चतुर्थीसम्प्रदाने' के उदाहरण समझाने के लिए लिखा है—

आलोकमिन्दुप्रवदौजनायः
जनोऽपि ह्लन्तुं रतये स्वचेतः।
मानायनारीजनताप्यवत्त,
तौयं शशांकद्युतिदर्शिताध्वा॥

—रावणार्जुनीयम् ६/१७

यहां चतुर्थी के उदाहरणार्थ जनाय, रतये और मानाय का उपयोग किया गया है। इसी प्रकार के 'तव्यत्तव्यानीयरः' 'अचोयत्' और 'पोरुपधात्' सूत्रों के उदाहरण स्वरूप निम्न पद्य प्रस्तुत किया गया है—

कर्तव्यमशेषमत्रनद्या करणीयं तवमज्जनादियुक्तम् ।
जेयश्चपरिश्रमोऽमुना, ते लभ्यः पुण्यचयः सुखेन चाशु ।।
—रावणार्जुनीयम् ९/१८

यहां तव्य और यत् प्रत्ययों के उदाहरणों को समझाने के लिए कर्तव्य, जेय और लभ्य शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।

उपर्युक्त प्रकार के स्थल व्याकरण नियमों का सरलतया परिज्ञान कराने के लिए उपयुक्त हैं । कबि इस दृष्टि से पूर्णतया सफल कहा जाएगा ।

द्वयाश्रयमहाकाव्य (कुमारपालचरित ११२० ई०) :

इस काव्य की रचना कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि ने की है । कवि का उद्धेश्य 'हेमव्याकरण' के नियमों को काव्य में परिबद्ध करना था, इसीलिए इन्होंने इस संस्कृत प्राकृतमय द्वयाश्रयमहाकाव्य की रचना की है । 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' संस्कृत प्राकृत भाषाओं में विभक्त है । यह काव्य भी प्रथम २० अध्याय संस्कृत व्याकरण के नियमों से संगठित है और अन्तिम आठ अध्याय प्राकृत व्याकरण के नियमों का निदर्शन हैं । इस प्रकार यह २८ सर्गात्मक विशालशास्त्र काव्य है ।

इस ग्रन्थरत्न की रचना का उद्धेश्य संस्कृत प्राकृत व्याकरण के नियमों को साहित्यिक उदाहरणों में प्रस्तुत करना है, किन्तु इसमें गुजरात के चालुक्यवंशीय इतिहास को भी प्रस्तुत किया गया है । इस काव्य में व्याकरण के नियमों के साथ-साथ चालुक्यवंशीय नृप सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के गुण वर्णित हैं । काव्य की विशालता एवं महत्त्व को दृष्टि में रखकर इसकी संक्षिप्त विषय वस्तु भी प्रस्तुत की जा रही है ।

प्रथम सर्ग में चालुक्य वंश की उत्पत्ति और उसके प्रथम नरेश मूलराज के गुणों का वर्णन है । द्वितीय से पंचम सर्ग तक मूलराज तक के राज्यपाल का इतिहास वर्णित हैं । छठे सर्ग में मूलराज के उत्तराधिकारी चामुण्डराय तथा सातवें सर्ग में दुर्लभराज और वल्लभराज का वर्णन है । अष्टम सर्ग में भीम का वर्णन है । नवम में भीम, भोज चेदि के मध्य युद्ध का वर्णन है । इसी सर्ग में भीम के पुत्र क्षेमराज और कर्ण का वर्णन किया गया है, साथ में मयणल्ल देवी से विवाह का भी वर्णन है । दसवें सर्ग में कर्ण द्वारा पुत्र प्राप्ति हेतु लक्ष्मी की उपासना की गयी है । उपासना से वरदान प्राप्त हुआ है । ग्यारहवें सर्ग में जयसिंह की उत्पत्ति राज्यारोहण, कर्ण का स्वर्गवास तथा जयसिंह की विजय का वर्णन है । बारहवें से पन्द्रहवें सर्ग तक जयसिंह की विजय का विस्तार से वर्णन है। सोलहवें सर्ग में

कुमारपाल की राज्यप्राप्ति और विजय प्रसग में आबू का वर्णन है। सत्रहवें सर्ग में रात्रि, चन्द्रोदय, सुरतक्रीड़ा आदि का वर्णन है। अठारहवें सर्ग में कुमारपाल का प्रस्थान, उन्नीसवें सर्ग में अर्णोराज से युद्ध, बीसवें सर्ग में कुमारपाल द्वारा की गयी 'अमारिघोषणा' और उसके कृत्यों का वर्णन है। कुमारपाल से प्रवर्तित संवत् का भी उल्लेख मिलता है।

प्राकृत भाग में अणहिलपुर में बन्दीजनों द्वारा की गयी कुमारपाल की कीर्ति एवं उसकी दिनचर्या का वर्णन है। द्वितीय में मल्लाश्रम, कुंजरयात्रा, जिनमन्दिर यात्रा, जिनपूजा आदि का वर्णन किया गया है। तृतीय, चतुर्थ और पंचम में भी उपवन और वसन्त आदि ऋतुओं का वर्णन किया गया है। छठे सर्ग में अनेक देशों के राजाओं द्वारा स्वीकार की गयी अधीनता का वर्णन है। सातवें में राजा की परमार्थ चिन्ता का वर्णन एवं श्रुतदेवता एवं आचार्यों की स्तुति की गयी है। आठवें सर्ग में श्रुतदेवता को दिया गया उपदेश है।

इस काव्य में ऐतिहासिकता और व्याकरण के नियमों का अभूतपूर्व सामंजस्य है। कुछ स्थल ऐसे हैं, जो व्याकरणमात्र के परिचायक हैं तो कुछ सुन्दर काव्य के निदर्शन हैं तथा कुछ मध्य श्रेणी के भी हैं।

हैम व्याकरण के कुछ प्रत्यय पाणिनीय व्याकरण सदृश ही हैं। कुछ पूर्णतया भिन्न हैं, कुछ स्वरूप में भिन्न होते हुए भी कार्य समान करते हैं। जैसे ण्वुल् (अक्) के स्थान पर हैम व्याकरण में णक् प्रत्यय है और ल्युट् (अन्) के स्थान पर अनट्। सदृश प्रत्यय जैसे—घञ्, क्यप्, क्त आदि हैं। स्त्रीप्रत्यय, तद्धितप्रत्यय कृदन्त, धातुरूप आदि के साथ ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है, तद्धित प्रत्ययों का उदाहरण इस प्रकार है—

तत्तद्धितं कर्तृभिरात्मभर्तुः, समेत्य वृद्धैर्युवभिः क्षणाद्वा।
दुःस्थैरथावन्तिभटैः स वप्रोध्यारोह्याभीतैः रणतूर्यवाद्यात्॥

—द्वयाश्रय १४/३७

इस पद्य में हेमव्याकरण के चतुर्थाध्याय के प्रथमपाद के १-६ तथा ११ सूत्र के उदाहरण प्रस्तुत हैं। प्रधान रूप में अवन्ति के भटों की स्थिति का वर्णन है। व्याकरण का ऐतिहासिक वर्णन के साथ होने से एक प्रकरण को एक ही स्थान पर वर्णित नहीं किया गया है क्योंकि कवि को व्याकरण के साथ कथा का भी ध्यान रखना पड़ा है। इससे व्याकरण की दुर्बोधता बढ़ी है।

काव्य में अनेक स्थल ऐसे भी मिलते हैं जो सरस काव्य के साथ ही साथ व्याकरण के नियमों में आबद्ध हैं। सपत्नी के द्वारा किये गये नखक्षत आदि को देखकर पति से रूठी हुयी नायिका को मनाती हुयी सखी कहती है—

अमी अमुमुई चोस्य नखाः कण्ठे इ ईक्षिता ।
आ एहि त्वम् उत्तिष्ठ यथा एवं नुमन्यसे ।।
ऊ ऊहस्व त्वमेवस्मिनी ईदृशि रतिः कथम् ।
तदो अलमनेनेति सखीमहात्र मानिनी ।।

—द्वयाश्रय १/३०-३१

यहां अ, इ, ऊ, ए, सम्बोधन स्वरूप प्रयुक्त किये गये हैं। अ एहि। आ एवं नुमन्यसे। इ ईक्षिताः। ई ईदृशी। उ उत्तिष्ठ। ऊ ऊहस्व। ए अस्मिन्। ओ अलमू। इन उदाहरणों में 'चादिस्वरोनाङ्' से सन्धि निमेष हुआ है।

हेमचन्द्रसूरी ने एक स्थल पर कुलांगना के कुचमंडल की वर्तुलता की तुलना उकार से इस प्रकार की है—

अंगान्यस्मिस्युडष्ठाम कुचोभाति वधूजनः ।।

—द्वयाश्रय १/५०

काव्य में प्रायः सभी स्थलों पर कवि ऐतिहासिक प्रसंग और व्याकरण प्रयोगों को प्रदर्शित करने में सफल रहा है, जैसे—द्वयाश्रय १४।७२ में वर्णन किया गया है कि सिद्धराज ने राजा यशोवर्मा को जो एक गौरेया चिड़िया के समान तुच्छ था, पराजित कर दिया। आगे पद्य में वर्णन है कि यशो बर्मा को हरा देने के बाद सिद्धराज जयसिंह ने अनेक सीमावर्ती राजाओं को पराजित किया, उनमें से एक-एक की तुलना भिन्न-भिन्न प्राणियों से की गई है और कहा गया है कि उन्हें उसी प्रकार बांधा गया, जैसे पशु-पक्षियों को बांधा जाता है। इस पद्य में बर्णन के साथ ही व्याकरण प्रयोग दर्शाये गये हैं।

काव्य में दर्शाये गये द्वितीया कारक का चमत्कार—

मित्रं नृपेन्द्र समया निकषाथ दुर्ग,
यः सोप्पलं भवति किं पुनरन्तरा ते ।
तत्तं निहन्तुभवनीं दिवमन्तरेण,
त्वमन्तरेण न हि संप्रति कश्चिदीशः ।।

—द्वयाश्रय २/१०८

इस पद्य में समया, निकषा, अन्तरा, अन्तरेण के योग में द्वितीया के उवाहरण उल्लिखित हैं।

कुछ स्थलों पर अत्यन्त सरल भाषा में व्याकरण के उदाहरण प्रयुक्त हैं। गर्भवती रानी मयणल्ल को उपदेश देते हुए आचार्य स्त्रियों का कथन—

मन्दं गद्यं श्लथं यस्या नीवी मद्यं न च त्वया
गतिर्नियम्या नायास्यौ चरणावप्रमाद्यया ।।

न निगाद्यं न वा चयं मद्यपाचर्य भूमिषु ।
नोपसर्यान्तिके चैतां वर्याचार्यस्त्रियोशिषन् ॥

—द्वयाश्रय ११/१३-१४

लोक प्रचलित रीति से सरल भाषा में गर्भवती को उपदेश देने के प्रसंग में ही कवि ने गद्य, यम्य, मद्य, आयाम्य, चर्म, आचार्य, निगाध आदि यत् प्रत्यय के उदाहरण भी कवि ने चतुरतापूर्वक प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार दाम्पत्य प्रेम का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कवि ने 'क्त' प्रत्यय की शिक्षा दी है—

तयोर्बभूत एकत्र पीतं पीतेशितेशितम् ।
आसिते चासितं सुप्तं सृप्ते च प्रतियोगितः ॥

—द्वयाश्रय ११/२

यहां पीत, शित, आसित, सुप्त शब्द 'क्त' प्रत्यय के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। साथ ही वर्णनीय राजा और रानी मयणल्ह देवी का अनन्य प्रेम साधारण ढंग से वर्णित है। उक्त पद्य पर कालिदास के निम्न पद्य की छाया परिलक्षित होती है।

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥[112]

सम्पूर्ण काव्य के पर्यालोचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस ऐतिहासिक शास्त्र काव्य का उद्देश्य मुख्यतः हैम व्याकरण की रूक्षता कम करने के लिए काव्य और कथा के सहयोग से प्रस्तुत करना है। व्याकरण प्रयोगों के साथ-साथ कवि की रमणीय परिकल्पना परिलक्षित होती है। काव्य में चालुक्यवंश का प्रामाणिक इतिहास भी लिखा गया है क्योंकि हेमचन्द्रसूरि द्वारा अपने आश्रयदाता जयसिंह का प्रत्यक्षदर्शी चरित्र वर्णित किया गया है।

श्रेणिकचरितद्वयाश्रयकाव्य :

इसका अपरनाम दुर्गवृत्तिद्वयाश्रय काव्य भी है। इसकी रचना विक्रम सवत् १३५६ में खरतरगच्छीय श्री जिनप्रभसूरि ने की थी। ये लघुतरगच्छ के प्रवर्तक जिनसेन सूरि के शिष्य हैं और संघतिलकसूरि के विद्या गुरू हैं। इनकी अनेक रचनाएं हैं। यमक, श्लेष, एवं चित्र से अलंकृत ७०० स्तोत्रों की रचना करके इन्होंने सोमतिलकसूरि को भेंट किया था, ऐसा सिद्धान्तागम की अवचूरि में विशाल राजा के शिष्य कहते हैं।[113] आचार्यजिनप्रभसूरि ने धर्माधर्मकुलक, परम-

सुख द्वात्रिंशिका पूजाविधि, विधिप्रभा इत्यादि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। साथ ही इनके द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों की वृत्तियाँ भी हैं।

इस काव्य में मगधराज श्रेणिक का जीवनचरित वर्णित है। इसमें साथ-ही-साथ कातन्त्र व्याकरण के सूत्रों का प्रयोग किया गया है। अनेक व्याकरणात्मक प्रयोगों के प्रयुक्त होने से यह द्वयाश्रयकाव्य की कोटि में परिगणित किया जाता है। यह काव्य और कथा की सहायता से व्याकरण के दुरुह प्रयोगों को सरल बनाने का निदर्शन है। इस काव्य का भी मुख्य उद्देश्य साहित्य के साथ व्याकरण का ज्ञान कराना ही है।

श्रेणिक राजा के सामाजिक राजनीतिक, धार्मिक जीवन को व्याकरण के उदाहरणों के साथ कवि ने बड़ी सूझ-बूझ के साथ संयोजित किया है। काव्य का अधिकांश भाग अमुद्रित है कुछ ही भाग मुद्रित हुआ है।[114]

धातुकाव्य :

काव्यकार ने काव्य में अपने नाम समय और स्थान आदि का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु कतिपय विद्वान इन्हें केरल निवासी नारायण भट्ट को इस काव्य का रचयिता मानते हैं।[115]

कवि ने काव्यारंभ में प्रतिज्ञा की है कि वासुदेवविजय में भीमसेन प्रणीत धातुपाठ के अनुसार उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं।[116]

इस काव्य के दो प्रधान उद्देश्य हैं। एक कंसवध की कथा दूसरा व्याकरण शास्त्र की शिक्षा। कवि ने स्वयं लिखित टीका में लिखा है कि कंसवध का वर्णन करने वाले सर्गत्रयात्मक इस काव्य की रचना तीन दिन में की गयी थी।[117]

पाणिनि के धातुपाठ में २११५ धातुएं आख्यात हैं किन्तु धातुकाव्य में १९४४ ही धातुएं हैं। इसमें कवि ने अनेक अप्रचलित धातुओं का प्रयोग किया है। पद्यों में तीन से लेकर पन्द्रह तक का धातुओं संग्रह है। काव्य में अप्रचलित धातुओं का अधिक संग्रह है। यथा—

पोडयो यं चुडतेति केऽपि जुडतेत्यन्येकऽन्तोऽलुठन्।
देवे स्वेर्लुलिते कुडत्विधि कुडदगात्रे पुडत्वादरम्॥
ईशश्चाथटितस्तुऽम्खलमुर्द रोषन्थुडन्प्रफुडन्।
धाम स्वं स्फुरितो जगाम धनुषः पार्श्वेक्षणादस्फुलन॥[118]

यहां कवि ने पुड्, चुड्, जुड्, वड्, लुड्, कृड्, कुड्, पुड्, थुट्, तुड्, थुड्, स्फुट्, स्फुर, स्फुल् धातुओं का एकत्र प्रयोग करके विचित्रता प्रस्तुत की है, जिसमें काव्यत्व का लेशमात्र भी नहीं है।

कृष्ण के मथुरागमन के समाचार को सुनकर नारीवृन्द के कार्यकलाप का वर्णन विचित्र धातुओं से परिपूर्ण है ।

स्नान्त्यः श्राणमुपाक्ष्यचान्नं,
निद्रांगताः प्सातिपरास्तयान्याः ।
पान्त्यः शिशुन्धान्यधनानि,
रान्त्यलोलान्त्यश्चकाश्चित्कुसुमानिदान्त्यः ।
रव्यान्तः कथा प्राणमुदांपतीनां,
निर्मान्त्य इष्टानिचटूम्वेचन्त्यः ।
नार्यो विदित्वोपगममुरारे—
रासंगताराजपथंसुमृष्टम् ।।[119]

यहां स्ना, त्रा, द्रा, प्सा, पा, रा, ला, दाप्, ख्या, विद्, मृज्, अस्, वच्, मा का एकत्र प्रयोग किया गया है । ऐसे वर्णनों में पाठक रसानुभूति को भूलकर चकित हो शब्दाडम्बर के कुतूहल का साक्षी हो जाता है । कविवर भट्टि और भट्टभौमक के व्याकरण शिक्षण में तथा इस कवि के शिक्षण में प्रभूत अन्तर है । उन काव्यों में यत्र तत्र आनन्दानुभूति होती ही है किन्तु ऐसे काव्यों में पाठक शब्द वैचित्र्य की ही अनुभूति करता है ।

इस प्रकार यह काव्य धातुओं के संकलित रूप का सुन्दर उदाहरण है । इसमें काव्यत्व की अपेक्षा दुर्बोधता अधिक परिलक्षित होती है ।

वासुदेव विजय :

कवि ने अपना नाम इस ग्रन्थ के किसी भी भाग में नहीं दिया, किन्तु नारायण भट्ट कृत धातुकाव्य के आद्य श्लोक से यह विदित होता है कि वासुदेवविजय की रचना केरल प्रान्तीय पुरुवन ग्रामवासी वसुदेवशर्मा ने की थी ।[120]

इस काव्य में कृष्ण की कथा वर्णित है और इसका तीन सर्ग मात्र प्रमाण है । इसकी लिखित टीका से यह ज्ञात होता है कि कथा के साथ व्याकरण शिक्षा देना भी इस ग्रन्थ का लक्ष्य है । किन्तु इस काव्य में व्याकरण शिक्षार्थ कोई क्रम नहीं स्वीकार किया गया । यथास्थान धातुरूप, कृदन्त, तद्धित आदि के शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनकी सिद्धि कवि ने टीका में की है ।

कथा का प्रारम्भ कृष्णावतार के लिए पृथ्वी की ब्रह्मा से की गयी प्रार्थना से होता है । प्रथम सर्ग में स्त्री प्रत्ययों का निर्देश किया गया है—

आचार्यण्यो मातुलान्यश्च दाक्ष्यो
गार्गायण्यो ब्रह्मबन्धोगणक्यः ।

रम्भोर्वंश्च क्षत्रियाण्यस्ताश्चः
शूद्राःशूद्रा योमुदा यासुरुच्चैः ।।[121]

इसी प्रकार अण् ट्यण, प्रत्ययों के उदाहरण समझाने के लिए निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया गया है—

माहेन्द्रमाग्नेयमृतव्यमेन्द्रं,
द्यावा पृथिव्यं च चरू निरूप्य ।
कार्यं च सौम्यं च सुरान्यजन्ते,
तान्दिवजानाहतसामगाद्यान् ।।[122]

प्रस्तुत काव्य में व्याकरणात्मक शब्दों की सिद्धि के साथ-साथ काव्यत्व भी परिलक्षित होता है।

पाणिनीयद्व्याश्रयविज्ञप्तिलेख :

मेघविजयगणि (१८वीं शती) द्वारा लिखे गए दो विज्ञप्ति पत्र हैं जिनमें कवि ने स्वयं की धार्मिक क्रियाओं का विवरण और पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों का क्रम साथ-साथ उपस्थित किया है।

प्रथम पत्र :

कवि के द्वारा यह पत्र शिवनगरी से गणनायक विजयप्रभसूरि को लिख गया था। इसका उभयाश्रयत्व इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। इसमें एक ओर जहां पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' सूत्रों का क्रम चलता है तो दूसरी ओर उन्हीं पद्यों द्वारा श्लेष के माध्यम से विज्ञप्तिपत्र के प्रतिपाद्य अर्थ की भी अभिव्यक्ति होती है।

इसमें चार विश्राम (अध्याय) हैं। प्रथम विश्राम में संज्ञा सन्धि के साथ भगवान ऋषभदेव का, द्वितीय विश्राम में अच् सन्धि के साथ कुर्कुट नगरी का, तृतीय विश्राम में अच् सन्धि के साथ ही शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यों का तथा चतुर्थ विश्राम में हल्सन्धि के साथ आचार्य विजयप्रभसूरि का श्लेषालंकार युक्त वर्णन है। पत्र का आद्यन्त निम्न प्रकार से है—

आदि,

स्वस्तिश्रियां सत्प्रकृतित्वभाजां, यः प्रत्ययात्मापरयोगशाली ।
संयुज्यनाना विधिरूपसिद्धये, भवैन्मुदे वः सः मारुदेवः ।।

अन्त,

कौमारूपेऽपि कला विशेषात् संज्ञाऽभिवृद्धैर्विधिलाघवाच्च।
यः पाणिनीय नयमादिदेश, सदा कृत व्यूहतया शिवात्मा ॥[123]

इस पत्र की एक ११ पत्रीय लिखित प्रति भाण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट पूना में है।[124]

द्वितीय पत्र :

यह पत्र कवि मेघविजय ने शिवनगरी से कुर्कुट नगर में स्थित आचार्य रत्नप्रभसूरि जी को भेजा था। इसमें भी चार विश्राम हैं। प्रथम पत्र के समान ही संज्ञा, सन्धि के साथ ऋषभदेव, अच् सन्धि के साथ कुर्कुट नगरी, अच्सन्धि के साथ ही शिवनगरी और चातुर्मासिक धर्मकृत्यों का तथा हल् सन्धि के साथ रत्नप्रभसूरि का वर्णन किया गया है। सम्पूर्ण पत्र में 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों का यथोचित निर्वाह हुआ है और चमत्कृत श्लेषालंकार पूर्ण वर्णन है। पत्र का आदि इस प्रकार है—

स्वस्तित्रयैवरूनिर्जगतोऽपि,
शिक्षाशास्त्रे दुर्जयति पाणिनिमूलशास्ता।
योगं पंतजलि हितायक्षतोपदेशस-
सम्यक् पदार्थ विधिसाधनकुंजमाय ॥[125]

यह उभयाश्रयी सन्देश एवं व्याकरण पर आधृत होने से शास्त्रकाव्यों के अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

इन शास्त्र कवियों के अतिरिक्त, वीरेश्वर कवि विरचित एक अन्य द्वयात्रय काव्य भी है। इसमें दो कथाएं न होकर चार अध्यायों में छन्द, अलंकार, व्याकरण और मंत्रों का एकत्र वर्णन है। इसकी पाण्डुलिपि जोधपुर के पुरातत्व विभाग के पास है।[126]

विलोमकाव्य

इन काव्यों में वर्ण विन्यास का ही वैचित्र्य होता है, जिससे काव्य को सीधे पढ़ने पर किसी एक अर्थ की संगति बैठती है और उसी काव्य को विपरीत क्रम से पढ़ने पर द्वितीय अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे काव्य अल्प मात्रा में ही हुए हैं, जिनका संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

रामकृष्ण विलोमकाव्य :

यह काव्य राम और श्रीकृष्ण की प्रमुख घटनाओं के आधार पर विलोम पद्धति का अद्वितीय उदाहरण है । इसके सीधे पढ़ने पर रामपरक अर्थ की निष्पत्ति होती है और विपरीत क्रम से पढ़ने पर कृष्ण परक अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। इसके रचयिता श्रीसूर्य कवि हैं। ये दैवज्ञ पद से विभूषित थे अर्थात् एक ज्योतिषी भी थे । आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने इनका समय १६वीं शताब्दी निश्चित किया है ।[126] इन्होंने सूर्यप्रकाश और लीलावती की टीका नामक ज्योतिष के दो ग्रन्थों की रचना की थी ।

इस विलोम काव्य में मात्र ३६ श्लोक हैं किन्तु राम और कृष्ण सम्बन्धी प्रमुख घटनाओं की संयोजना हुई है इसके प्रथम पांच पद्यों में निर्गुण, सगुण रूप उपाय का वर्णन है। इसके बाद विश्वामित्र के द्वारा यज्ञ की रक्षा हेतु राम आदि को मांगा गया, ताड़का और शूर्पणखा के आने का वृतान्त, कृष्ण के यहां पूतना कंस के द्वारा भेजी गयी, कौशिक के द्वारा यज्ञव्यवस्था मुनियों के द्वारा यागप्रशंसा, जनक के घर राम और लक्ष्मण पहुंचे । राम के द्वारा धनुष के प्रत्यंचा का तोड़ा जाना, स्वयंवर में आए हुए राजाओं का वर्णन, गोकुल के ऊपर इन्द्र के उत्पातों का कृष्ण द्वारा शमन, राम को सीता ने वरण किया, जानकी का स्वरूप वर्णन, कृष्णपक्ष में—उनका सम्मान ब्राह्मणों द्वारा नहीं किया गया । राधा का सौन्दर्य वर्णन, परशुराम का आगमन, उनका क्रोध, कैकेयी का सापत्नभाव, आहिल्योद्धार, शूर्पणखा का नासिकोच्छेदन, रावण का भिक्षुरूप में आगमन, राम का जानकी को नही प्राप्त करना, आदि प्रमुख घटनाओं का वर्णन है ।

यह इन्द्रवज्रा, शालिनी, रथोद्धता, अनुष्टुप्, विद्युन्माला, छन्दों से युक्त है । इनका कवि ने बड़े ही कौशल से समावेश किया है, क्योंकि विलोमकाव्य में विविध छन्दों की संयोजना उत्कृष्ट प्रतिभा की परिचायिका है । कवि स्वयं लिखता है कि —.

कदाचिदपि संतरेत् कृतिपरो नरो नीरधिं,
कथंचिदपि धावति प्रवरधामधाराध्वनिः ।
ऋतेऽप्यतिविशारदा प्रचुरशारदानुग्रहं,
विलोमकविता कृतौ सुकवि धीरधारा भवेत् ।।

—रामकृष्णविलोमकाव्य टीकामंगलाचरण श्लोक-३

इसमें कला पक्ष की मनोरम विनियोजना है, क्योंकि विलोम काव्य में छन्द की पूर्ति, अनुलोम और विलोम साकांक्ष पदों की आसक्ति तथा कथाओं की क्रम-बद्धता तीनों वस्तुएं समुचित विद्यमान हैं ।

काव्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

चिरं विरंचिर्न चिरं विरंचिः,
साकारता सत्यसतारका सा ।
साकारता सत्यसतारका सा,
चिर्रविरचिर्न चिरं विर्रंचि ।।

—रामकृष्णविलोमकाव्य, श्लोक-२

प्रस्तुत छन्द को सीधे क्रम अथवा विपरीत क्रम से पढ़ने पर छन्द वही रहता है । प्रथम चरण को अनुलोम क्रम से रखने पर भी चतुर्थ चरण बनता है और विलोम क्रम से रखने पर भी । यही क्रम द्वितीय और तृतीय चरण का भी है । इस काव्य का भावपक्ष भी मनोरम है जिनमें कृष्णचरित्र से सम्बन्धित गोपिकाओं के वर्णन अधिक कमनीय हैं । प्रायः स्वाभाविक चित्रणों का प्रस्तुतीकरण हुआ है ।

शब्दार्थचिन्तामणि :

विजयनगर नरेश श्री व्यंकट (१५८६-१६१४ ई०) के सभा पण्डित चिदम्बर ने विलोमकाव्य पद्धति में शब्दार्थचिन्तामणि ग्रन्थ लिखा और स्वयं ही निकषोपल नाटक टीका भी लिखी ।[127] इन्होंने ही एक पंचकल्याण चम्पू की भी रचना की है जिससे पांच अर्थ निकलते है ।[128]

श्रीराघवयादवीयम् :

यह एक विलोमकाव्य है । इसकी रचना अनुलोम प्रतिलोम के रूप में हुई है ।[129] इससे रामायण और भागवत के कथानक को विलोमकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है । यह सीधे पढ़ने से रामायण सम्बन्धी अर्थ और उल्टे पढ़ने पर भागवत सम्बन्धी अर्थ उपस्थित करता है । इसी शैली को अनुलोम प्रतिलोम काव्य की शैली कहा गया है और इसे सन्धानकाव्य की परम्परा में इसलिए स्वीकार किया जाता है कि श्लेष के माध्यम से दो अर्थ उपस्थित होते हैं ।

प्रस्तुत काव्य के रचयिता कांचीपुर के निवासी थे और याज्ञिक श्री निवासाचार्य के सुपुत्र रघुनाथाचार्य के पुत्र वेंकटाध्वरि (वेंकटाचार्य) हैं । ये भी याज्ञिक थे, इनके नाम के साथ यज्वनः पद संश्लिष्ट है ।[130] इसकी रचना १६५० ई० में हुई थी और इसमें ३० छन्द हैं ।

वाचस्पति गैरोला ने 'राघव यादवीय' काव्य के स्थान पर 'यादव-राघवीय'

नाम लिखा है।[131] यद्यपि विलोमकाव्य होने से इस नाम में भी विप्रतिपत्ति नहीं हैं तथापि उपलब्ध काव्य राघवयादवीय नाम से विभूषित है।

राघवयादवीय के प्रारम्भ और अन्त में पाये जाने वाले श्लोक इस प्रकार हैं—

किंचिद्संचित्तयोगोपीकिल किंचित्वंचितम्।
श्रंचितंज्योतिरमरैरंजनाद्रावुदंचितम्॥

अन्तिम श्लोक—

श्रीमद्राघव-यादवाकृतिधरश्शेषाचलोसत्तंकः,
श्रयोहेतुमचोकरत्कृतियममां श्रीशोभया दुष्करम्।
तस्मादत्र पवित्रमाधवकथास्वादोन्मिषत्कौतुकाः,
सन्तस्साधुः वितन्वतां गुणविदः श्लाघ्याममोघादराः॥

अनुलोम—प्रतिलोम पद्य :

संस्कृत साहित्य में अनुलोम प्रतिलोम पद्धति से अर्थ प्रदान करने वाले पद्य भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

हंसनादगतं देवं देवानां विभयं भयम्।
यंभवं भविनां वादे वन्दे तंमदनंसहम्॥[132]

इस पद्य के सीधे पढ़ने पर वीतरागपरक अर्थ और विपरीत क्रम से पढ़ने पर माहेश्वर पक्ष में अर्थ की संगति बैठती है।

कंकणबन्ध रामायण (प्रथम)

संस्कृत श्लिष्ट काव्य की परम्परा में लिखित यह एक मुक्तक रचना है। ३२ अक्षरों के एक ही पद्य में रामायण की कथा को इस प्रकार ग्रथित किया गया है कि पद्य के वर्णों के गृहीत मुक्तक पद्धति से बने ६४ पद्यों में सम्पूर्ण समावेश हो गया है। पद्य इस प्रकार है—

नेतादेवालीनामाशा घानाधीनानेकालोको।
मास्यानभाख्यायोगींशंपायादेवं रामेराजा॥

इसे प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ने के पश्चात् द्वितीय पद्य के लिए दूसरे अक्षर 'तादेवालीना' इत्यादि रूप में पढ़ना चाहिए तथा 'ने' अक्षर को अन्त में जोड़ लेना चाहिए। ऐसा करने से क्रमशः ३२ पद्य बन जाते हैं तदनन्तर पद्य के अन्तिम अक्षर से विपरीत पठन पूर्वक पूर्ववत्, पढ़ने से अन्य ३२ पद्य बन जाते हैं। इस

प्रकार के विशिष्ट पद्य की रचना १९वीं शती के कृष्णमूर्ति ने की है।[133]

कंकण-बन्ध रामायण (द्वितीय)

कृष्णा जिले के काकरपानी गांव के निवासी भाष्यकार शास्त्री ने पूर्वोक्त कंकण-बन्ध रामायण की रचना से और भी महत्त्वपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया है। इनका समय २०वीं शती के पूर्वार्द्ध का है। इनका पद्य इस प्रकार है—

रामानाथा मारा सारा चारावारा गोपाधारा।
धारा धारा भीमाकारा पारावारा सीतारामा॥

इसकी पठन पद्धति पूर्ववत् गृहीत मुक्ताक्षरानुलोम विलोम पाठात्मक तो हैं ही, साथ ही प्रत्येक पद्य के दो दो अर्थ होने से यह १२८ अर्थ वाला पद्य बन गया है। इस दृष्टि से यह पूर्वोक्त पद्य की अपेक्षा और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।[134] इसके अतिरिक्त अन्य भी कंकणबन्ध की रचना हुई है, किन्तु वे स्वतंत्र न होकर अन्यान्य ग्रन्थों के अन्तर्गत है।[135]

प्रकीर्ण काव्य

अनेकार्थ विषयक काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के विशाल वाङ्मय में ऐसे अनेक स्तोत्र स्वतन्त्रपद्य (मुक्तक) एवं शब्द हैं, जिनके विषय में मूल लेखक ने कुछ भी नहीं कहा है, किन्तु व्याख्याकारों ने अनेक अर्थ अपनी प्रतिभा और चमत्कारिक बुद्धि के बल पर उपस्थित किए हैं।

स्तोत्र द्वारा भक्तिरस की निर्मलता का अनुभव होता है और ज्ञान दर्शन चारित्र रूप बोधिबीज की प्राप्ति होती है। भावमय गेय-स्तुति स्तोत्रों में तो ऐसा बल है, कि उसके द्वारा अनाहतवाद और अन्त में परब्रह्म की स्थिति, प्राप्त की जा सकती है। इनके द्वारा मानवमन इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति होकर संयम द्वारा अधिव्याधि आदि दूर कर सहज सरल जीवन बना सकता है।

इन स्तुतिप्रधान रचनाओं एवं मुक्तक विविधार्थमय काव्यों का अधिकांश भाग जैन मनीषियों के द्वारा लिखा गया है। इनके द्वारा अनेकानेक रचनाएं साधु व्यवस्था में ही की गयी हैं, अतएव उन रचनाओं के अधिकांश भाव भक्ति प्रधान ही हैं।

यहां विविध अर्थों से युक्त स्तोत्र, मुक्तक, वाक्य एवं शब्द साहित्य का परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैदिक काल से ही कुछ स्वतन्त्र पद्य प्राप्त होते हैं, जिनकी श्लेषालंकार के माध्यम से मनीषियों ने श्लिष्टार्थी टीकाएं करके स्वतन्त्र महत्त्व को प्रस्तुत किया है। ये पद्य ग्रन्थ के अंग रूप में रहते हुए भीअ पना स्वतन्त्र महत्त्व रखते हैं।

यथा—

चत्वारि शृंगा त्रयो यस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति,
महादेवो मर्त्या आ विवेश ।।—ऋग्वेद ४/५८/३।

ऋग्वेद के इस मंत्र के अर्थ वैदिक प्रकरण के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य ज्योतिष, आयुर्वेद आदि शास्त्रों से भी संबद्ध हैं। यद्यपि ये अर्थ स्पष्टरूप से श्लेष से प्राप्त न होकर मन्त्र निर्देशों के आधार पर साधित हैं, तथापि इनकी अनेकार्थता तो निर्दिष्ट ही है। शनैः शनैः इस परम्परा का विकास होता गया और एक पद्य के एक सौ अर्थ भी किए जाने लगे। यथा—

जन्माद्यस्य यतो न्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवयं मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गे मृषा,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।

—भागवत प्रथम पथ।

उक्त पद्य के खरड (पंजाब) निवासी वंशीधर जी ने १०० अर्थ किए हैं, जिनमें विविध देवताओं के वर्णन आदि साधित हैं।

अष्टोत्तरशतार्थी गाथा :

९वीं शताब्दी के बप्पमट्टि सूरि ने एक गाथा की रचना कर उसके १०८ अर्थों को बताने वाली वृत्ति स्वयमेव लिखी।[136] गाथा इस प्रकार है—

तत्तीसी अलीमेंलावाकेहा, घण उत्तावली पिय मिदं सिणेहा
विरहिहिं माणुसु जं मरहत सुकवण निहोरा,
कीतिपबिवडीजणुं जाणहं दोरा।।

शतार्थी पद्य :

गुजरात के पाटण ग्राम निवासी सेठ लक्ष्मण के पुत्र श्रीपाल गुजरात के राजा सिद्धराज के बालसखा और कवि चक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध थे। इनका समय ११वीं शती का अन्तिम भाग निश्चित किया जा सकता है क्योंकि इनकी कविता का रचना काल १०९३ से १०९६ ई० माना जाता है इन्होंने एक शतार्थी पद्य की

रचना की थी।[137] पद्य निम्नलिखित है—

भूमारोद्धरतो रसातलगमः स्वर्गेऽशोभावनः,
सारद्योगपदः प्रभावसविता सत्यागवेष्टोदितः।
व्यापन्नीरस सिद्धराजवसुधा मदुरक्षरामेवली,
सन्नागः सहरीर सा हितमहोराज्याय साधूरसेः॥

इसके टीकाकार ने सिद्धराज, स्वर्ग, शिव, ब्रह्मा, विष्णु, भवनपति, कार्तिकेय गणेश, इन्द्र, वैश्वानर आदि १०० अर्थ किये हैं।[138]

षडशोत्तरशतार्थी पद्य :

प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य 'वर्धमान सागरगणि' ने 'कुमार विहार प्रशस्ति काव्य' के ८७वें श्लोक को ११६ अर्थों में व्याख्यायित किया है।[139] वर्धमान सागरगणि का समय हेमचन्द्र सूरि के शिष्य होने के कारण इनका समय १२वीं शती निश्चित प्राय है। पद्य निम्नलिखित है—

गम्भीरः श्रुतिभिः सदाचरगतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः,
सत्कान्तारचित प्रियो बहुगुणो यः साम्यमालम्बते।
श्री चौलुक्य नरेश्वररेण विविध श्रीहेमचन्द्रेण च,
श्रीमद्वाग्भटमन्त्रिणा च परिवादिन्या च मन्त्रेण च॥

इस श्लोक की व्याख्या में विशिष्ट क्रम को अंगीकार किए बिना ही ग्रन्थकार ने प्रसंगापतित विषयों का वर्णन किया है।[140] लेखक ने व्याख्या के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि—'अत्र वृत्ति साक्षात् प्रतीयमानेभ्य उपमानेभ्यो व्यतिरिक्ततानि यानि उपमानान्तराणि सम्भवन्ति तानि कथ्यन्ते'।'[141]

जितनी व्याख्यायें सम्भव थीं लेखक ने लिखीं किन्तु कुछ को छोड़कर क्लिष्ट और कल्पनाजन्य हैं।

पंचार्थक श्लोक :

यह एक पद्य पांच अर्थों को श्लेष द्वारा अभिव्यक्त कराता है। इसके रचयिता का उल्लेख प्राप्त नहीं है। पद्य निम्न प्रकार है—

यो गंगां वधदस्ति यो त्र हरिणा धारेण विश्रूयते,
यो नागेन विराजते कलिमलं यो सौ निहन्तु क्षमः।
यस्यंर्य वरवारवृत्तिमला यस्मात् प्रभूतं शिवं
सं ब्रह्मा मुरजिन्मृडो दिनकरश्चन्द्रो स्तु साँख्याय वः॥

इस पद्य के ब्रह्मा, विष्णु, हर (शंकर) सूर्य, चन्द्र और पार्श्वजिन पक्षों में पृथक-पृथक अर्थ निकलते हैं।[142] अर्थ श्लिष्ट योजना का ही प्रतिफल है।

शतार्थी पथ :

हेमचन्द्र सूरि के शिष्य वर्धमान सागरगणि के समकालीन सोमप्रभ सूरि (११६८ ई०) ने एक अभूतपूर्व पद्य की रचना करके स्वयं १०० अर्थ किये हैं।[143] पद्य इस प्रकार है—

कलयाणसारसविता न हरेक्ष मोह,
कान्तावारण समान जयाद्यदेव।
धर्मार्थकामद महोदयवीरधीर,
सोमप्रभाव परमागम सिद्ध सूरे ॥[144]

इसके एक सौ एक अर्थों का निर्देश स्वयं कवि ने स्वोपज्ञ वृत्ति में किया है, जिनमें २४ अर्थ तीर्थंकरों से सम्बन्धित हैं, सिद्ध, सूर्य, उपाध्याय, मुनि, पुण्डरीक, गौतम, सुधर्म, पंचव्रती, समय, श्रुतदेवी, चार पुरुषार्थ, विधि, नारद, वेद, विष्णु, बलदेव, श्री, प्रद्युम्न, चक्र, शंख, शिव, गिरिसुता, स्कन्द, हेरम्ब, कैलाश, ग्रह, दिकपाल, जयन्त, घन, मदिरा, कनक, अब्धि, सिंह, घोड़ा, हाथी, सरोज, भुजग, शुक, अरण्य, मानसरोवर, अस्त्रवैद्य, अनिलसुत, पत्नी, महागुरु, चतुष्क (चार महागुरु) जयसिंह, कुमारनृप, अजयदेव, मूलराज, श्री सिद्धपाल कवि रंजितदेव, गुरु विजयसिंह, शिष्य सोमप्रभ सूरि शतार्थ वृत्त कविः।[145]

पंचशतार्थी पद्य :

कवि लाभविजय ने—

तमो दुर्वाररागादि वैरिवार निवारणे।
अर्हतेयोगिनाथाय महावीराय तायिने ॥[146]

इश पद्य के ५०० अर्थ किए हैं। ग्रन्थ अद्यावधि अनुपलब्ध है। इनका समय १५वीं शती है।[147]

शतार्थ विवरण :

इस ग्रन्थ की रचना मानसागर गणि ने अपने दादा गुरु की आज्ञा पालन के लिए की थी। इनके गुरु बुद्धिसागर के थे। बुद्धिसागर गुरु श्रीहीरविजय सूरीश्वर ने शिष्य मानसागर गणि की परीक्षार्थ हेमचन्द्र सूरि विरचित योगशास्त्र के—

परिग्रहारम्भ मग्नास्तारयेयुः कथं परान् ?
स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरी कर्तुमीश्वरः ।।[148]

एक सौ अर्थ करने का आदेश दिया था। मानसगारगणि ने आदेश के पालन और अपनी प्रतिभा प्रदर्शन के लिए १०६ व्याख्यायें लिखीं हैं।

ये १०६ इस प्रकार हैं—२४ तीर्थंकरों से सम्बन्धित २४ अर्थ, जिनवाणी शासनदेवी, पंचपरमेष्ठी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, पार्वती, लक्ष्मी, सरस्वती, ज्ञान, काम, हीर विजय सूरि, विजयसेन सूरि, अकबरनृपति, नवग्रह, सुर, अष्टदिक्क पाल, राम, १४ स्वप्न और बुद्धि सागर का वर्णन किया गया है। तीर्थंकर आदि का वर्णन करते समय किसी-किसी का वर्णन २, ३, ४ अर्थों द्वारा भी किया गया है। इस प्रकार एक सौ एक अर्थ संभगश्लेषात्मक हैं।[149] इसकी लिखित प्रतियां बड़ौदा और लींवड़ी के भण्डार में उपलब्ध हैं।[150]

दशोत्तर शतार्थी :

तपागच्छीय पं० हर्षकुल ने नमस्कार मंत्र के प्रथम पद के एक सौ दस अर्थ-मयी शतार्थी बनायी थी। इसका उल्लेख विजय विमल ने हेतुदय विभंगी टीका में किया है।[151]

दोससयशब्द के अर्थ :

श्री लावणयधर्म शिष्य श्री उदयधमगणि ने दोससमय शब्द के १०१ अर्थ किये हैं। यह दोससमय शब्द धर्मदासगणि की उपदेश माला की ५१वीं गाथा का प्रारम्भ है।[152] यह ग्रन्थ आद्यावधि अप्रकाशित है। उक्त शब्द के शतार्थ सोमप्रभ सूरि द्वारा भी लिखे गये थे, ऐसा अनुमान किया जाता है।[153] इसकी मूल प्रति कान्ति विजय भण्डार बड़ौदा में है। ग्रन्थ का रचनाकाल १६०५ ई० है।

त्रिसन्धान स्तोत्र :

इस पंचपद्यात्मक स्तोत्र के सोमसुन्दरसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि हैं, जिनका समय वि० सं० १४७५ है। स्तोत्र के अन्तिम पद्य और उसकी अवचूरि को देखते हुए ऐसा लगता है कि इस स्तोत्र में आबू और जीरापल्ली इन दो तीर्थों के तीन तीर्थंकर ऋषभ, नेमि और पार्श्वनाथ में घटित पांच पद्य हैं।[154] अतएव यह त्रिसन्धान स्तोत्र कहा है। **पंचपरमेष्ठिनमस्कारस्मरणम्** इसकी श्री सिद्धि चन्द्रगणि कृत अनेकार्थी व्याख्या है।[155]

उवसग्गहरस्मरणम्:

यह श्री जिनप्रभसूरि कृताऽर्थकल्पलता नाम वृत्ति अनेकार्थी हैं।[156]

अष्टलक्षी:

यह ग्रन्थ केवल भारतीय साहित्य का ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य का एक अद्वितीय रत्न है, जो संवत् १६४६ (१५९२ ई०) में महामहोपाध्याय श्री समय सुन्दर गणि ने लिखकर मुगल सम्राट अकबर की सभा में समर्पित किया था। इस घटना के संबंध में एक जनश्रुति प्रचलित है कि एक बार अकबर की सभा में जैनों के 'एगस्स सुत्तस्य अणंतो अत्थो' इस वाक्य का किसी विद्वान के द्वारा उपहास किया गया। यही बात कर्ण परम्परया महोपाध्याय श्रीसमयसुन्दरगणि तक पहुंची। यह सुनकर उनके मन में अत्यधिक असंतोष हुआ। फलस्वरूप उक्त सूत्र वाक्य की सार्थकता बतलाने के लिए 'राजानो ददते सौख्यम्' आठ अक्षर वाले इस वाक्य के उन्होंने दस लाख बाईस हजार चार सौ सात अर्थ किए और उसे विद्वानों के समक्ष अकबर की सभा में सुनाया। तदनन्तर इस विलक्षण ग्रन्थ अष्टलक्षी (या अर्थरत्नावली) को सम्राट अकबर ने अपने हाथों में लेकर अत्यन्त हर्ष एवं संतोष व्यक्त किया। साथ ही सम्राट ने लौटते समय कर्ता एवं कृति दोनों को विभूषित किया, जिसका उल्लेख स्वयं ग्रंथकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में किया है।[157]

प्रकृत ग्रन्थ के विशिष्टार्थों का संक्षिप्त दिग्दर्शन निम्न रूप में प्रस्तुत है—

प्रथम अर्थ सूर्य देव की स्तुतिपरक है, क्योंकि अकबर सूर्य का भक्त था, जैनमुनि भानुचन्द्र से नित्य सहस्रनाम सुनता था।

श्री सूर्यः श्रेयसे भूयाद्भक्तित्परभूस्पृशाम।
यस्य नाम सहस्रस्य जापः पापहरो भवेत्॥
सन्निध्यं कुरुताद् ब्राह्मी देवता वरदायिनी।
सेवकायत्प्रसादेन साध्यन्तीप्सितं फलम्॥

'राजानोददते सौख्यम्' इति श्लोकेकपादस्य मया निजबुद्धिबृद्धि निर्मितम् अर्थाः क्रियन्ते। तत्र प्रथमं श्रीसूर्यदेव वर्णनमाह—

'राजा' नो ददते सौख्यम्,
सावित्री भाविता राजा विसृजोविघृणोविराट्।
सप्ताथिः सप्ततुरग सप्तलोक नमस्कृतः॥

इति स्कन्दपुराणे श्री सूर्यसहस्रनामान्तर्मणित्वाद् राजा श्रीः सूर्यः नः अस्माकं सौख्यं सुखं ददते-ददाति। इदं श्री सूर्यदेवता भक्तजनांवचनम्।१॥

रचना प्रणाली :

मंगलाचरण में सूर्य एवं ब्राह्मी देवता को नमस्कार किया गया है। राजा नो राजा अनो, रा अज अनः रा अजा नो, राज । आ। नो, रा अजा न, राजा नो, रा अजा नो, राजा नाउ, राजाव् नो, रा अजायनो, ऋ आजानो। ऋ अजा नो, ऋ अ अजानो इत्यादि। इस प्रकार सभंगश्लेष श्लेष के आधार पर राजानो शब्द के हजार अर्थ किए गये हैं।

राजा के 'अ' को संबोधन बनाकर नादद, अनोदद, आनोदद पद के ८७५ अर्थ किये गये हैं।

'दद्' शब्द को सम्बोधन बनाकर 'ददादद' पद के ३४२० अर्थ किये गये हैं। इस प्रकार 'नोदद' के के कुल ४, २९५ अर्थ होते हैं।

पश्चात् 'ते' शब्द को तृतीया, चतुर्थी, प्रथमा, पंचमी, षष्ठी विभक्त्यर्थ ग्रहण किया है अर्थात् ४,२९५ अर्थों के 'ते' की प्रत्येक विभक्ति से पांच बार गुणा करने पर २१,४७५ अर्थ हो जाते हैं।

राजन् शब्द के पक्षवाहक और सूर्यवाहक २,१४७ अर्थ किए गए हैं। दान दायदे 'दद' पद के केवल न समासपूर्वक जो ७० अर्थ हैं उनमें से प्रत्येक अर्थ को 'द' शब्द के ५७ अर्थों में प्रयुक्त किया गया है अर्थात् ७०५७-३९९० अर्थ होते हैं। इसके साथ शुद्ध दानदायक 'दद' के ७० अर्थ स्वतंत्र रूप से सम्मिलित करने पर कुल ४,०६७ अर्थ होते हैं।

इस प्रकार 'नोदद' 'अनोदद' तथा ददादद' के २१,४७५ अर्थों के साथ 'दद' 'दे' के ४,०६० अर्थ मिलाने पर कुल २५,५३५ अर्थ होते हैं।

सौख्य पद के १० अर्थ हैं प्रत्येक अर्थ को २५,५३५ के साथ संयुक्त करने पर अर्थात् दस गुना करने पर कुल २,५५,५३५ ३५० होते हैं।

२,५५,३५० अर्थों को न समास पूर्वक करने पर सुख शब्द दुःखार्थ में परिणत हो जाता है। सौख्य, असौख्य अर्थ होने पर द्विगुणित हो जाते हैं अतः कुल ५,१०,७०० अर्थ हो जाते हैं।

पुनः ग्रन्थकार ने शृंखला नाम प्रश्नोत्तर जातिभेद से, राजा न जानो नोदः ददः दत्ते ते असौ सौरवी अम्' पदार्थ से छह अर्थ किये हैं। यहीं ग्रन्थकार ने निर्देश दिया है कि 'राजानो' शब्द के १००० (वस्तुतः १००४) अर्थ इसमें सम्मिलित किए जायेंगे।

अन्त में एक अर्थ अकबर से संबंधित किया जो इस प्रकार है।

राजा के र अ अज अ आ खण्डकर—र-श्री (पंक्ति रथ न्याय से) अ-अ।

अज—क (ब्रह्मा का पर्याय)

अ—ब (वायु का पर्याय व ववयोः ग्रहण कर)

अ—र (अग्नि का पर्याय)

इस प्रकार राजा शब्द का भी अर्थ अकबर बनता है। कुल १०, २२, ४०७ अर्थ किये हैं। कवि का कथन है कि २,२२,४०७ अर्थ जो अधिक है वे अर्थ योजना से अधिक मेल नहीं खाते, अतः इन अर्थों का परित्याग करने से आठ लाख अर्थ अविघट एवं अविसंवादी रूप से शेष रहते हैं।[158]

उपरिनिर्दिष्ट नानार्थ विवेचन प्रसंग में अगरचन्द्र नाहटा के प्रकाशित निबन्ध से सहायता ली है, जो तत्सम्बद्ध उनके लेख में द्रष्टव्य है।[159]

काव्यद्वयर्थकरणपार्श्वस्तव :

इस स्तोत्र में सात पद्य हैं जिनमें प्रथम के ६ श्लोकों में क्रमशः कुमार-संभव, मेघदूत, शिशुपालवध, तर्कशास्त्र, सप्तपदार्थी, वृत्तरत्नाकर ग्रन्थों के मंगल श्लोकों को दिया है। समयसुन्दरगणि ने सभी मंगल श्लोकों के अर्थ पार्श्वनाथ की स्तुति रूप में घटाया है।[160]

पार्श्वस्तव :

इस स्तोत्र का उल्लेख प्राप्त होता है।[161] इसमें प्रत्येक पद्य के एकातिरिक्त अर्थ निकलते हैं, अतएव इसे सन्धानकाव्य कोटि के अन्तर्गत ही निर्धारित किया जा सकता है।

विविधार्थमय सर्वज्ञस्तोत्र :

सोमतिलकसूरि ने श्लेषमय साधारण रूप से जिनस्तुति की है। प्रत्येक श्लोक के चार-चार अर्थ निकलते हैं।[162]

विविधार्थमय विवरण :

शुभतिलक ने 'ऊं भूर्भुवः स्वतत् सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो यो। नः। प्रचोदयात्' इस गायत्री मंत्र पर श्लेष के माध्यम से अर्हन्त, प्रजापति शंकर, पार्वती, राधा विष्णु, आदि की स्तुति रूप में विवरण लिखा है।[163]

चतुर्विंशतिसन्धानकाव्य :

सन्धानकाव्य कृतियों के अन्तर्गत इस काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है इसके रचयिता पं० जगन्नाथ हैं, इन्होंने स्वयं काव्य का रचना समय वि० सं० १६९९ ज्येष्ठशुक्ला पंचमी रविवार और रचना स्थान सुन्दर भवनों से सुशोभित अम्बावत नगर का उल्लेख किया है।[164] पंडित जगन्नाथ और रसगंगाधरकार

पंडितराज जगन्नाथ दोनों को एक होने की पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने सम्भावना व्यक्त की है,[165] किन्तु डा० नेमिचन्द्र ने उक्त काव्य में उद्धृत अन्तिम पुष्पिका के आधार पर श्री शास्त्री की उक्त सम्भावना को भ्रमात्मक कहा है।[166] उपर्युक्त काव्य के समीक्षण के अनन्तर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों जगन्नाथ भिन्न-भिन्न हैं।

इस काव्य के एक पद्य से ऋषभ आदि २४ तीर्थंकरों का अर्थ बोधित होता है।[167] इस काव्य की संस्कृत टीका स्वयं पं० जगन्नाथ ने ही लिखी है जो टीका के आरम्भ में लिखित निम्न मंगलाचरण से समर्थित भी हो जाता है—

प्रणम्याऽधियुग्मं जिनानाँ जिनानाँ
जगन्नाथपूज्याऽधिपाथोरुहाम्।
वरैकाक्षरार्थैर्महायुक्तियुक्ते
सुवृत्ति च तेषां नुतैश्चर्करीभिः॥

वाग्देवतायाश्चरणाम्बुजद्वयं
स्मराभि शब्दाम्बुधि पारदं वरम्।
यन्नाममात्रस्मरणोत्थयुक्तयो,
हरन्त्यघं को विदमानसा मिति॥

उद्धृत उक्त टीका मंगलाचरण की द्वितीय पंक्ति पंक्ति के उल्लेख से उक्त कथन प्रमाणित हो जाता है, कि टीकाकार वस्तुतः ग्रन्थकार पं० जगन्नाथ ही हैं। यह दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में काव्य प्रतिभा और प्रौढ़ पाण्डित्य की दृष्टि श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। इनकी काव्य प्रतिभा अलौकिक है, जिससे चतुर्विंशति-सन्धान जैसे काव्य लिखने में सफल हुए हैं।

पंचविंशतिसन्धान काव्य :

श्री सोमतिलकसूरि ने 'श्रीसिद्धार्थ नरेन्द्र' से प्रारम्भ कर बारह पद्यों में एक 'वीरजिनेन्द्र स्तवन' लिखा है। इसके प्रथम और अन्तिम पद्य को छोड़कर प्रत्येक पद्य के २५ अर्थ है, जिनमें २४ अर्थ ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों से सम्बद्ध हैं और पच्चीसवां अर्थ से कर्ता के गुरुपक्ष की परिपुष्टि होती है, जिसके द्वारा कवि की गुरुभक्ति का संकेत और उसकी विनम्रता की सूचना मिलती है।

इस स्तोत्र के अन्तिम पद्य द्वारा अनेक बातें निर्दिष्ट हैं, इसमे 'षट चक्रबन्ध' तथा अष्टदल कमलबन्ध इन दो चित्रकाव्य के भेदों का निर्देश है और साथ ही काव्यकार का नामोल्लेख भी है।[168]

श्रीमहावीरजिनस्तव:

सारंगशब्दार्थमय यह अष्टपद्यात्मक स्तव श्रीगुणविजयगणि ने लिखा है। इसमें सारंग शब्द अनेकार्थक है।[169]

परागशब्दगर्भ जिनस्तव :

श्री लक्ष्मीकल्लोल गणि ने पराण शब्द के १०८ अर्थों में जिनेन्द्र देव की स्तुति की है।[170]

नमस्कार-प्रथम पदार्थ:

मुनिवरपण्डित गुणरत्न जी ने पंचनमस्कार मंत्र के प्रथम पद नमो अरिहन्ताणं की अनेकार्थक योजना की है, अर्थात् उक्त पद्य के श्लेष के माध्यम से अनेक अर्थ किए हैं।[171]

षष्ठपंचाशतार्थक शब्द :

रत्नशेखर सूरि ने 'परवाया' शब्द के ५६ अर्थ किये हैं।[172] ये सभी अर्थ संगतियुक्त हैं। इससे कवि का वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है।

एकचत्वारिंशतार्थक शब्द :

'गुंहलिका' (गोधूलिका) शब्द के भावप्रभसूरि ने ४1 अर्थ किए हैं। ये समस्त अर्थ भाव प्रभसूरि की कृतित्रय में प्रकाशित हैं।[173]

शतार्थक शब्द:

खरतरगच्छीय उपाध्याय गुणविजय ने 'सव्वत्थ' शब्द के ११७ अर्थ किये हैं।[174]

चतुःषष्टयर्थक वाक्य :

'राजानो ददते सौख्यम्' इस वाक्य के समयसुन्दरगणि ने आठ लाख अर्थ किए हैं। इसके महत्व को देखकर ही अंचलगच्छीय माणिक्यसुन्दरसूरि ने भी उक्त वाक्य के ६४ अर्थ किए हैं। इनकी ६४ अर्थ वाली प्रति नाहटा ग्रंथालय बीकानेर में उपलब्ध है।[175]

मेघदूत-प्रथम पद्य के तीन अर्थ :

महोपाध्याय समयसुन्दरगणि ने मेघदूत के प्रथम पद्य के तीन नवीन विशिष्ट

अर्थ किये हैं। ये अर्थ ऋषभनाथ, जिनचन्द्रसूरि और सूर्य संबंधित हैं। लिखित प्रति नाहटा ग्रन्थालय बीकानेर में उपलब्ध है।[176]

समयसुन्दरगणि ने जयसागर रचित विमलयमल स्तुति की दूसरी गाथा के ६ अर्थ किये हैं। कापी नाहटा ग्रन्थालय बीकानेर में है।[177] जिनप्रभसूरि रचित 'अनुयोग चतुष्टय व्याख्या' भी है।[178]

खरतगच्छीय हंस प्रमोद गणि के वि० सं० 1६६२ में रचित सारंग सारे' आद्य पद वाले 1 श्लोक पर एक सौ अर्थ लिखे गये। इसकी एकमात्र प्रति जैसलमेर भाण्डार में है। इसके अर्थों में भी अनेक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व के हैं।[179]

रतनगढ़ के बीजराज हुकुमचन्द्र वैद्य पुस्तकालय में एक शतार्थी वृत्ति की ४० पत्र की प्रति है जिनमें एक श्लोक के 1०० अर्थ हैं। ग्रन्थकार का नाम उल्लिखित नहीं है।[180]

हरिशब्नार्थगर्भित वीतरागस्तवः

श्री विवेकसागरणि ने एक ही श्लोक में ३० देवताओं की एक साथ स्तुति की है श्लेष से ३० अर्थ निकलते हैं। श्लोक इस प्रकार है—

इन्द्रे-भा-ऽश्च-शुक-प्लवा-ऽहिपावन-स्वर्णाशुक्लौकान्तरै,
भारि-ब्रऽनकपोन्दु-पीत-गरुड-श्री-शुक-विष्णव कजैः।
सूत-स्कन्द-शनी-श-वंश-वरुण-प्राणा।३ग्नि-भीता सितै-
स्थैंस्त्वां हरिजै क्रमाज्जिनपते त्रिंशंमितैस्तौम्यज्ञम्॥[181]

गोशब्दकाव्यम् :

गो श्रावः। किमयं गवाश्रयगता किं सुभु। गां वीक्षसे।
गोमध्ये। चरणेन गां लिखसि किं गोस्त्रीनिभे। वेहियाम्।
गावो यान्ति गृहेषु वासररमणे गवाश्च दूरंगताः,
गावस्त्वद्विरद्र ममासुहरणे एवेहि यावो गृहम्॥

यहां गो शब्द से क्रमशः निम्नलिखित अर्थ दर्शाये गये हैं—

नेत्रजल, गोकुल, दिशा, पशु, भुर्व, अप्सरासदृशै, वाणी, सुरभिः, किरण, १० बाण।[182]

इस प्रकार इस परिच्छेद में संधान काव्यों का लक्ष्यानुसार विभाजन एवं उनका ऐतिहासिक अनुक्रम से विवेचन प्रस्तुत किया गया। इससे स्पष्ट है कि सन्धान काव्य विविध रूप में उपलब्ध होते हैं। यहां श्लिष्टार्थी काव्यों के

अतिरिक्त शास्त्रकाव्य, विलोमकाव्य तथा कुछ ऐसे भी स्तुतिपरक श्लिष्ट श्लोक उपलब्ध होते हैं जिनके टीकाकारों ने १०० से भी अधिक अर्थ किये हैं। कभी-कभी तो कतिपय श्लोकों में विद्यमान पद अथवा पदावलियाँ परिदृश्यमान हैं, जिनमें नाना अर्थों की संयोजना की गयी है। इस प्रकार के श्लोक, पद अथवा वाक्य किसी लघु ग्रन्थ से कम नहीं हैं। उनके द्वारा काव्यकार का बुद्धि वैचित्र्य तथा काव्य कौशल का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसे कवि या काव्यकार संसार के किसी अन्य भाषा अथवा साहित्य में उपलब्ध नहीं हो सकते और यही कारण है कि संस्कृत भाषा की उपादेयता एवं उसका अद्वितीय स्वरूप जो निश्चय ही किसी भी भाषा से उत्कृष्ट है।

संदर्भ-सूत्र :

१. शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ६८
२. ध्वन्यालोक लोचन, प्रथम उद्योत, पृ० ३८
३. 'शब्दार्थौ सहितोकाव्यम्'—काव्यालंकार १/१६
४. द्र० काव्यादर्श १/१०
५. ध्वन्यालोक १/१
६. 'रीतिरात्मा काव्यस्य-काव्यालंकारसूत्राणि १/२/६
७. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि
—काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास सूत्र।
८. काव्यानुशासन १/११
९. वाग्भटकाव्यानुशासन, प्रथम अध्याय
१०. द्र० चन्द्रालोक १/८
११. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।—साहित्यदर्पण, पृ० २३
१२. द्र० ऋग्वेद १०/८०/२, एवं ६/७५/७
१३. शतपथ ब्राह्मण ३/१/२५२, २/३/३/७ और ५/२/१
१४. भारतीय साहित्य शास्त्र और काव्यालंकार, पृ० १८
१५. द्र० किरातार्जुनीय १/२४
१६. द्र० वही, ५/५
१७. शिशुपाल वध १६/२-१५ तक
१८. वही, ९/६ आदि

१९. सरस्वतीदत्त वरप्रसादचक्रे सुबन्धु र्सुजनैक बन्धुः।
प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्ध विन्यासवैदग्धनिधि निबन्धम् ।।
—वासवादत्ता, पृ० ५।

२०. हरन्ति के नोज्ज्वलदीपकोपमैर्नवैः पदार्थैरुपपादिताकथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पक कुडमलैरिव ।।
—कादम्बरी श्लोक ९, पृ० ५

२१. देवः पतिर्विदुषिनैषधराजगत्या,
निर्णयिते न किमु न क्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवाति महान-लाभो,
पद्ये न मुज्कसिवरः कतरः परस्ते ।।
—नेषधीयचरितम् १३/३४

२२. शब्दकल्पद्रुम, पंचम काण्ड, पृ० २४०

२३. हलायुध कोश, पृ० ६८९

२४. महाभारत ५/१०/३३

२५. सश्रुत १/४५

२६. कुमारसंभव ५/२७

२७. तदाशुकृतसन्धानं प्रतिसंहरसायकम्।
आर्त्तत्राणाय वः शास्त्रं न प्रहर्त्तुमनागऽसि ।।
—अभिज्ञान शाकुन्तलम् १/११

२८. वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः।—ध्वन्यालोक, पृ० ११६

२९. द्र० नाट्यशास्त्र, १६/९८

३०. वही १६/९९

३१. उपमानेन यत्तत्वमुयमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्ट तदभिधीयते ।।—काव्यालंकार ३/१४

३२. लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्रतु।
इष्टः प्रयोगो युगमदुपमानोपमेययोः ।।—काव्यालंकार ३/५

३३. श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितंवचः।
तदभिन्नपदं भिन्नहृदप्रायमितिद्विधा ।।—काव्यादर्श २/३०

३४. वक्तुंसमर्थमर्थं सुश्लिष्ट विविध पदसन्धि।
युगपदनेकं वाक्यं यत्रविधीयते सश्लेषः ।।—रुद्रट काव्यालंकार ४/१

३५. वही, १०/१

३६. द्र० रुद्रट काव्यालंकार दसवां अध्ययन

३७. द्र० काव्यालंकारसारसंग्रह ४/९-१०, पृ० ५०-५१

३८. व्यक्तिगत विवेक २/८५
३९. सरस्वतीकंठाभरण २/६८
४०. वही २/६९
४१. वही ४/८७
४२. द्र० अलंकारसर्वस्व, पृ० ११२
४३. द्र० काव्यप्रकाश, ९/८४
४४. द्र० काव्यप्रकाश, पृ० ४२३
४५. द्र० काव्यानुशासन, पृ० २७२
४६. अर्थभेद भिन्नानां शब्दानां भंगाभंगाभ्यांयुगपदुक्तिः।
—अलंकारमहोदधि ५/५
४७. द्र० वाग्भटालंकार ४/१२७
४८. एकस्मिन् वाक्येऽनेकार्थता श्लेषः। —काव्यानुशासन, अ० ३, पृ० ४४
४९. द्विसन्धान महाकाव्य, ज्ञानपीठ प्रकाशन श्लोक ३-५ प्रथम सर्ग।
५०. द्र० जैन अनेकार्थ साहित्य, लेख पं० अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १
५१. तृतीयस्य यथा दण्डिनोधनंजयस्य वा द्विसन्धानप्रबन्धो रामायणमहाभारतार्था-
वनुवध्नाति। —शृंगारप्रकाश, पृ० ४०२
५२. द्र० धनंजय कबीचे द्विसन्धानकाव्य अथवा राघवपाण्डवीय काव्य लेख महो-
पाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी संशोधन मुक्तावली सर सातवाँ, विदर्भ संशोधन मंडल।
५३. त्रयोऽग्नयस्त्रयोवेदास्त्रयोधर्मास्त्रयोगुणाः।
त्रयोदण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥—काव्य मीमांसा
५४. द्विसन्धानमहाकाव्य, प्रधानसम्पादकीय, पृ० २२
५५. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १३७
५६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४०२
५७. पार्श्वनाथचरित १/२६
५८. द्विसन्धान निपुणतां सतां चक्रे धनंजयः॥
यथा जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनंजयः॥
उद्धृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ३०४
५९. द्र० धवला टीका, अमरावती संस्करण, पृ० ६२
६०. प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्यलक्षणम्।
द्विसन्धान कवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥२०१॥—नाममाला, पृ० ९२
६१. द्र० राघवपाण्डवीय, भूमिका, पृ० २

६२. जिनरत्नकोश, पृ० २१६
६३. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग २, प्रकरण २४, पृ० २४०
६४. जैन साहित्यनो संक्षिप्त हतिहास, पृ० २१७
६५. जिनरत्नकोश, पृ० २१०
६६. अनेकार्थ साहित्य संग्रह, लेख—अमरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १
६७. रामचरितम् प्रशस्ति श्लोक १-४
६८. कलियुगरामायणमिह कविरपि कलिकालवाल्मीकिः।
—रामचरितम् कविप्रशस्ति श्लोक ११
स्तोकेस्तोषित लोकैः श्लोकैरक्लेशनैः श्लेषः।
घटनापरिस्फुटरसैः गम्भीरोदारभारतीसारैः॥
—रामचरितम् कविप्रशस्ति श्लोक १२
६९. द्र० राघवपाण्डवीय भूमिका, पृ० ३
७०. ए नोट आफ नानार्थकाव्याज इन संस्कृत लिटरेचर लेख पी० जी० लेले हैदरावाद 'ओरियन्टल कान्फरेन्स' कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय १९७६
७१. राघवपाण्डवीय पं० दामोदर झां की हिन्दी भूमिका, पृ० ३
७२. जिनरत्नकोश, पृ० २०५
७३. धनंजय कवीचे द्विसन्धान अथवा राघवपाण्डवीय काव्य लेख-वासुदेव विष्णु-मिराशी सूक्ति मुक्तावली सर सातवां
७४. द्र० द्विसन्धानमहाकाव्य प्रधान सम्पादकीय, पृ० २४-२५
७५. द्र० वही, पृ० २५
७६. द्र० वही
७७. द्र० जिनरत्नकोश, पृ० ४१६
७८. श्री हेमचन्द्रसूरीशैः सप्तसन्धानमादिदम्।
रचितं तदलाभे तु स्तादिदं तुष्टये सताम्॥— सप्तसन्धानप्रशस्ति २
७९. द्र० जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ५२३
८०. द्र० ए नोट आफ नानार्थक काव्याज इन संस्कृत लिटरेचर, लेख—पी०जी० लेले ओरियन्ट कान्फरेन्स कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय १९७६
८१. द्र० राघवपाण्डवीय, भूमिका, पृ० ३
८२. द्र० राघव पाण्वीय भूमिका, पृ० ३
८३. श्री रामायण माणिक्यं भारत स्वर्णमुद्रितम्।
न कस्य कुरुते लोके विस्मयोल्ला सिमानसाम्॥—राघवपाण्डवीयम् १/३६
८४. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कृष्णभाचारि, पृ० १८७

८५. श्रीविद्याशोभिनोयस्य श्रीमुंजादियती भिदा।
धारापतिरसावासीदयं तावद्धरापतिः ।।—राघवपाण्डवीयम् १/१८
८६. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० १८७
८७. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा ।।—राघवपाण्डवीय १/४१
८८. द्र० राघवपाण्डवीय ५/७-४४
८९. द्र० वही, ६/१८-१९
९०. द्र० वही १०/१०-२१
९१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वी० वरदाचार्य, पृ० १२०
९२. रसिकरंजनम् अंतिम पद्य
९३. संस्कृत साहित्यनो इतिहास (गुजराती) भाग २, प्रकरण २४, पृ० २१०
९४. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ७१
९५. द्र० वही, पृ० ७०
९६. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (गुजराती), पृ० २१०
९७. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ७१
९८. उद्धृत अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ६९
९९. संस्कृत साहित्यनो इतिहास, खण्ड २, प्रकरण २४; पृ० २१२
१००. गर्गर्षिवंशतिलको जयशंकराख्यां, ज्योतिर्विदांप्रयणकृत्सुकवीन्द्रमान्यः।
आध्यात्मिकावगतिशान्तिः परायणोऽभद्रर्मोपदेशनपटुर्नयबोध आसीत् ।।
भाष्यंपाटवतः प्रथमाधिगतश्छन्दश्चितीनां बुधः ।। —राघवनैषधीयम्
१०१. गतेः परयोः शब्दसंभवत्योरादिशब्देन ग्रहः इति दीक्षितः।
—द्र० वही १/२ संस्कृत टीका।
१०२. राघवनैषधीयम् १/३९
१०३. वही, १/३९ संस्कृत टीका।
१०४. भैमी गुणैर्गुम्फितमूर्तिमाराद्,
भवत्कृतोद्वाह विधानशोभः।
यदीह रामो निनयेद्विदेहभू,
स्तदैवसार्थक्यमुपैति नान्यथा ।।
—राघवनैषधीयम् १/२०
१०५. काव्यमिदं विहितंमया वलभ्यां, श्रीधरसेन नरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य, प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम् ।।
—भट्टिकाव्य २२/३५
१०६. द्र० संस्कृत कवि दर्शन, पृ० १४३

१०७. दीपतुल्यः प्रबन्धो यं शब्दलक्षण चक्षुधाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणाद् ऋते ।। —भट्टिकाव्य २२/३३

१०८. अस्त्यस्त्रिमुनि ज्योत्स्ना पवित्रेक्षिणापये ।
कृष्णराज इति ख्यातो राजा साम्राज्य दीक्षितः ।।
—कविरहस्यम् श्लोक ५

१०९. लोकेषु शास्त्रेषु च ये प्रसिद्धाः काव्येषु ये सत्कविभिः प्रयुक्ताः ।
उद्धृत्यताश्चिस्त विनोदनीयशब्दानहं धातुभिरुद्धरामि ।।
एकार्थानेक शब्दाश्च नानार्थाश्चैक वाचकाः ?
सदृशार्थाभिधानश्च भिन्नार्थाः सदृशाक्षराः ।।
एकार्थास्तुत्यशब्दाश्च निबध्यन्ते त्रघातवः ।
धातुपारायणाम्भोधिपारोस्तीर्णधियामया ।।
—कवि रहस्यम् श्लोक २, ३, ४

११०. कवि रहस्यम्, श्लोक ८

१११. सुवृत्ततिलक, तृतीय विन्यास २-४

११२. रघुवंश २/६

११३. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग २, पृ० २०२

११४. जैन अनेकार्थ साहित्य लेख—अमरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १

११५. संस्कृत कविदर्शन, पृ० १५७

११६. धातुकाव्य १/१

११७. कंसहिंसाप्रबन्धार्थो वीरभवत्यादयो रसाः ।
त्रिभिर्दिनैः कृतं कर्म त्रिभिः सर्गैश्च कथ्यते ।
अक्रूरयोगो यात्रादि चापछेदान्त चेष्टितम्,
मल्लोद्धोगोदिकं सान्त पर्यन्तं चर्महेकृतम् ।।
—धातुकाव्य टीका मंगलाचरण।

११८. धातु काव्य २/८१

११९. धातुकाव्य २/४९-५०

१२०. धातुकाव्य १/१

१२१. वासुदेव विजय १/६१

१२२. वासुदेव विजय २/४५

१२३. उद्धृत—राजस्थान के संस्कृत कवि और विचक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार लेख—विनयसागर 'मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ', पृ० ३८७

१२४. द्र० मेघविजय और उनके ग्रन्थ लेख—अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४

१२५. उद्धृत राजस्थान के संस्कृत कवि और विचक्षण सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय लेख—विनय सागर (मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ) पृ० ३८८

१२६. (i) अनेक सन्धान काव्याज् लेख—वी० राघयन ओरियन्टल रिसर्च आफ मद्रास वाल्यूम ३, नं २, १९३८-३९ संस्कृत भाग १, पृ० ४

(ii) संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३६

१२७. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग २, प्रकरण २४, पृ० २११

१२८. पाण्डुलिपि—जैन सिद्धान्त भवन आरा में विद्यमान है।

१२९. अनुवर्णितरामकृष्णवृत्तेरनुलोमवाचनाभ्याम् ।
कृतिमुल्लसिर्ता विद्याय पद्यैः विवृणोति स्वयमेव वेंकटार्य ॥
—राघवयादवीयम् श्लोक ८

१३०. इति श्रीमद्वाजपेयसर्वप्रतिष्ठातोर्यामादि याजि श्रीनिवासाचार्य नंदन रघुनाथाचार्य दीक्षित तवस्य श्रीमत्कांचीपुरवसतेः आत्रेय वेंकटाचार्य यजवनः कृतिषुराघवयादवीयच रितारब्धेदुष्काव्येप्रथमभागः।
—राघवयादवीयम समाप्ति।

१३१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला, पृ० ८९७

१३२. उद्धृत—अनेकार्थ साहित्य संग्रह, पृ० ६७

१३३. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, पृ० ७१

१३४. उद्धृत-शब्दालंकार साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण—डा० रुद्रदेव त्रिपाठी विक्रम विश्वविद्यालय, १९७७, पृ० ३४१-४२

१३५. वही, पृ० ३४२

१३६. अनेकार्थरत्नमंजूषा, पृ० १०

१३७. जैन साहित्य परम्परानो संक्षिप्त इतिहास, प्रकरण ४१

१३८. द्र० अनेकार्थ साहित्य संग्रह।

१३९. श्रीहेमचन्द्र सूरि शिष्येण वर्धमान गणिनाकुमार विहार प्रशस्तौ काव्यं स्मिन् पूर्वे षडर्थं कृतेऽपि कौतुकात् षोडशोत्तर शर्तं व्याख्यानां चक्रे। वही, पृ० १

१४०. द्र० अनेकार्थ साहित्य संग्रह, पृ० ६३-६४

१४१. द्र० वही, पृ० १

१४२. अनेकार्थ साहित्य संग्रह, पृ० ६५-६६

१४३. अनेकार्थ साहित्य संग्रह, भाग १, पृ० ५२-५८

१४४. अनेकार्थ साहित्य संग्रह, पृ० ६८

१४५. वही, पृ० ५२-५८

१४६. योगशास्त्र १/१

१४७. जैन अनेकार्थ साहित्य, लेख—पं० अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १

१४८. योगशास्त्र २/१२

१४९. द्र० प्राचीनार्वाचीनाचार्य चक्रचक्रवर्तिभिः श्रीमत्तपागच्छाधिराजैः महामहीपति वितीर्ण विस्तीर्णसन्मानैः हीर विजयसूरिभिः शतार्थपरीक्षाकृते समापतस्य श्रीयोगशास्त्र द्वित्तीय प्रकाशस्य द्वादशस्य श्लोकस्य शतार्थी क्रियते। —अनेकार्थरत्नभंजूषा प्रस्तावना, पृ० १०

१५०. द्र० जैन अनेकार्थ साहित्य, लेख—अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १

१५१. वही

१५२. दोससमयमूलजालं पुव्वरिसिविवज्जि अ जई वं तं।
अत्थं वहसि अणत्थं कीस अणत्थं तवं चरसि ॥५१॥
—उद्धृत अनेकार्थ रत्नमंजूषा, प्रस्तावना, पृ० १०

१५३. विशश्राद्धप्रज्ञित 'दोसमय' इतिगाथाशततमार्थं व्याख्यावसरप्रतिबुद्धिरमुद्रिकादित्यानि शतार्थीतिख्याति मूच्छी सौमप्रभसूरयप्रमादावस्थायायाम् ॥
—वही, पृ० १०

१५४. द्रा० जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (गुजराती), पृ० २०७

१५५. सप्तस्मरणानि, अनेकार्थरत्नमंजूषा पृ० १-६ (अन्तिम)

१५६. वही, पृष्ठभाग, पृ० ७-२४

५५७. अनेकार्थ रत्नमंजूषा में प्रकाशित अर्थरत्नावली, पृ० ६८

१५८. द्र० अनेकार्थ मंजूषा, पृ० १-७ अर्थरत्नावली (अष्टलक्षी)

१५९. द्र० 'एक श्लोक-आठ लाख अर्थ' लेख अगर चन्द्र नाहटा, कादम्बिनी अप्रैल १९७१

१६०. जैन अनेकार्थ साहित्य लेख-अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १

१६१. दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थकार

१६२. जैन अनेकार्थ साहित्य लेख—अगरचन्द्र नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८, किरण १

१६३. द्र० अनेकार्थ रत्नमंजूषा, पृ० ७०-८२

१६४. नयनयघरुरुपांके सुवत्से तपो मा से,
इह विशदपंचम्यां च सत्सौरिवारे।

विहित जिनमहो म्बावत्पुरेसौधशुभ्रे
सुजिननुतिकार्षीच्छ्रीजगन्नाथनामा ॥
—चतुर्विंशतिसन्धान अन्तिम प्रशस्ति ।

१६५. दिगम्बर जैन ग्रन्थों की एक बृहद सूची, लेख पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ५, किरण ४, पृ० २२५

१६६. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ४२

१६७. श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीमद्रुभाङको थधर्मो,
हर्यंकः पुष्पदन्तोमुनिसुव्रतजिनो नन्त वाक् श्री सुपार्श्वः ।
शान्तिपद्मप्रभोरोविमल विभुरसौवर्द्धमानोप्यजाङको,
मल्लिनेंमिर्नमिर्मासुमतिरवतु सच्छ्रजगन्नाथधीरम् ॥
—चतुर्विंशति सन्धान, पृ० १

१६८. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग 2, ललित साहित्य, पृ० २१०

१६९. द्र० अनेकार्थ रत्नमंजूषा, पृ० ८५-८६

१७०. द्र० अनेकार्थरत्नमंजूषा, पृ० ८७-९०

१७१. द्र० वही, पृ० १०३-११८

१७२. द्र० वही, पृ० ७०—८२

१७३. जैन अनेकार्थ साहित्य लेख—अगरचन्द्र नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १, पृ० २७

१७४. अनेकार्थ रत्नमंजूषा, पृ० ९६-९८

१७५. जैन अनेकार्थ साहित्य, लेख—अगरचन्द्र नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १, पृ० २७

१७६. वही ।

१७७. वही ।

१७८. वही ।

१७९. अनेकार्थ रत्नमंजूषा प्रस्तावना, पृ० १०

१८०. वही, पृ० २७

१८१. द्र० अनेकार्थ रत्नमंजूषा, पृ० ८३

१८२. वही, पृ० १३४

ग्रन्थकार और ग्रन्थ

आध्यात्मोन्मुख प्राचीन ऋषियों, महर्षियों; आचार्यों एवं कवियों ने अपना परिचय देश, काल; कुल आदि की दृष्टि से अनावश्यक समझकर नहीं दिया। उनका एकमात्र लक्ष्य था कि लोग उनके विविध विचारों से गुणों को ग्रहण करें। वे न तो प्रशस्ति कराना चाहते थे और न वैशिष्ट्यबोध के अभिलाषी थे। उन्हें यज्ञ की कामना नहीं थी। ऐसे ही प्राचीन मनीषियों का प्रभाव संस्कृत-साहित्य साधकों पर अन्त तक छाया रहा। फलतः अनेकानेक अर्वाचीन कवि भी अपने परिचय के विषम में मौन धारण किये रहे। अतएव ऐसे मनीषी आज भी विचारकों के समक्ष ऐतिहासिक सन्दर्भ के गुंफन में असमाधेय प्रश्न ही बने हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अपने विषय में न तो स्वयं कुछ लिखा है और न शिष्य परम्परा को ही कुछ लिखने का निर्देश दिया। इसी परम्परा के अन्तर्गत महोपाध्याय मेघविजय गणि बहुमुखी प्रतिभा के मान्य व्यक्तित्त्व, साहित्य-साधना के गंभीर साधक, अनेक शास्त्रों के धीमान् पण्डित, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों के अधिवेत्ता होते हुए भी अपने वंश; समय एवं स्थानगत परिचय देने में पूर्वाचार्यों का अनुसरण करते हुए मौन ही रहे हैं।

यद्यपि ग्रन्थकार (मेघविजय गणि) अपने कुल, देश, काल आदि के संबंध में मौन रहे हैं तो भी इन्होंने गुरुपरम्परा एवं अलंकरण प्रदान करने वाले पट्टधर विजयप्रभसूरि का प्रायः अपने सभी ग्रन्थों की प्रशस्तियों में स्मरण किया है। साथ ही अपनी, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष तथा अध्यात्म संबंधी

प्रायः सभी कृतियों में ग्रंथ का रचनाकाल, स्थान आदि का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर इनके (ग्रन्थकार के) स्थान, समय और गुरुपरम्परा का निर्धारण किया जा रहा है।

मेघविजयगणि के माता-पिता कौन थे, इनका जन्मस्थान कहाँ था, बाल्य-काल का नाम क्या था? आदि सभी प्रश्न तो अद्यावधि समीक्षकों के लिए प्रश्नमात्र ही बने हुए हैं। उनके साधु जीवन की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख भी नहीं मिलता है। इनका प्रकृत नाम (मेघविजय गणि) तो दीक्षा के बाद का है।

स्थान निर्णय :

साधु अथवा मुनि का कोई निश्चित निवास स्थान नहीं होता, क्योंकि उनके जीवन का उद्देश्य होता है पर्यटन और तीर्थाटन। मेघविजय गणि भी जैन श्वेताम्बर तपागच्छसंघ के एक साधु ही थे। इनका सम्पूर्ण जीवन साहित्य-साधना और तीर्थाटन करने में ही व्यतीत हुआ। इसका प्रमाण इनके स्वयं ग्रन्थ ही हैं।

इनके महाकाव्य (देवानन्द) में उल्लिखित है कि—

मुनिनयन-अश्व-बन्धुमिते वर्षे हर्षेण सादड़ीनगरे।
ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशाभ्यमिति त्रयः ॥[1]

अर्थात् यह काव्य विक्रम सं० १७२७ में मारवाड़ के सादड़ी नगर में विजयदशमी के दिन पूर्ण हुआ। इसकी प्रतिलिपि भी स्वयं ग्रंथकार ने ग्वालियर में की थी।[2] विज्ञप्तिपत्र के रूप में इनके द्वारा लिखित 'मेघदूतसमस्या-लेख' नवरंगपुर[3] (औरंगाबाद) से देवपाटण में स्थित गुरू के पास भेजा गया। इनके द्वारा अन्य दो विज्ञप्तिपत्र भी प्रेषित किये गये थे जिनमें से प्रथम शिव-नगरी से विजयप्रभसूरि के पास देवपाटण तथा द्वितीय रत्नप्रभसूरि के पास कुर्कटनगर।[4]

आध्यात्मिक ग्रंथ मातृकाप्रसाद की रचना कवि ने धर्मनगर में की थी।[5] 'चन्द्रप्रभा' नामक व्याकरणप्रक्रियाग्रंथ की रचना आगरा में हुई थी।[6] 'धर्म-मंजूषा' शास्त्रीय आलोचना से संचालित ग्रंथ मेदिनीपुर (मेड़ता) में रचा गया था।[7]

उक्त स्थानों के संकेत के अतिरिक्त कतिपय ग्रंथों में कुछ स्थानों का मनोरम वर्णन भी हुआ है। देवानन्द महाकाव्य में विजयदेवसूरि के वर्णन-प्रसंग में गुजरात को भारतवर्ष का सर्वोत्तम भाग कहा गया है।[8] अनेक स्थानों पर

गुजरात के तीर्थक्षेत्रों की प्रशंसा की गई है।[9] साथ ही इलादुर्ग (इडर) तथा राजनगर (अहमदाबाद) आदि का वर्णन भी अतिरेक के साथ किया गया है। गुजरात में ही दीववन्दर (देवपाटण) सिकन्दरा आदि महत्वपूर्ण स्थान हैं, जो कवि के लिए अत्यन्त प्रिय प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त वर्णनों एवं संकेतों के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि मेघविजय गणि के साधु-जीवन के गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि स्थान परिभ्रमण के केन्द्र रहे हैं। ग्रन्थकार ने अपनी अधिकांश रचनाएँ राजस्थान एवं गुजरात में ही पूर्ण की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार का अधिकांश जीवन राजस्थान और गुजरात से सम्बद्ध रहा है। मेघविजय द्वारा विरचित 'स्वाध्याय जैनशासनदीपक', 'स्वाध्याय आहार गवेषणा' तथा 'विजयदेवनिर्माणरास' आदि गुर्जर कृतियां है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि कवि को गुजरात और गुजराती दोनों से ही विशेष लगाव रहा है।

मेघविजय का राजस्थान एवं गुजरात के तीर्थक्षेत्रों का मनोरम वर्णन देखने से यह स्पष्ट होता है कि उक्त प्रमाण इनकी आत्मीयता के द्योतक हैं। ऐसा ज्ञात होता है, कि कवि ने गुजराती भाषा के माध्यम से अपनी मातृभाषा-भक्ति प्रदर्शित की है। 'महोपाध्याय विनयसागर' ने 'मेघविजय' को राजस्थान का कवि स्वीकार किया है। यह बात अवश्य है कि साधु मेघविजय का राजस्थान और गुजरात दोनों प्रान्तों में अधिक भ्रमण हुआ है, किन्तु गुजरात और गुजराती का लगाव यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार सम्भवतः गुजरात-निवासी थे और यह भी कहा जा सकता है कि इनका जन्मस्थान राजस्थान तथा गुजरात की सीमा के सन्निकट रहा है।

समय-निर्धारण :

'आचार्य मेघविजय गणि' जिस प्रकार जन्म-स्थान के सम्बन्ध में मौन हैं, उसी प्रकार जन्म-काल के विषय में भी मौन हैं। हां, यह अवश्य है कि इन्होंने ग्रन्थों की रचना का समय तत्तत् ग्रन्थों की पुस्तिका में लिखा है। उन्हीं उपलब्ध रचनाओं में उल्लिखित रचनाकाल के आधार पर ही कवि का समय निर्धारण किया जा रहा है।

इनका प्रथम प्रयास 'विजयदेवमाहात्म्यविवरण' नामक टीकाग्रन्थ है, जो बल्लभोपाध्याय विरचित 'विजयदेवमाहात्म्य' पर लिखा गया है। इसकी वि० सं० १७०९ में लिखी गई प्रतिलिपि संप्रति उपलब्ध है।[10] अतएव इससे यह स्पष्ट है कि उक्त विवरणग्रंथ वि० सं० १७०९ के पूर्व अवश्य लिखा जा चुका होगा।

इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विवरण नामक टीका का समय वि० सं० १७०७-८ होना चाहिए। ऐसी दुर्बोध टीका लिखने के समय लेखक २०-२५ वर्ष का अवश्य होगा। एतदर्थ मेघविजय का जन्म वि० सं० १६८० से १६८५ के मध्य स्वीकार करना चाहिए। ऐसा ही अनुमान विनयसागर ने भी लगाया है; और कहा है कि—'विवरण उनकी २०-२५ वर्ष की आयु के की मध्य लिखी होनी चाहिए। फलस्वरूप इनका जन्म समय वि० सं० १६८५-९० के मध्य का अनुमान किया जा सकता है।[11]

'विजयप्रभसूरि' ने 'मेघविजय' को वाचक पदवी से अलंकृत किया है। 'विजयप्रभसूरि' का शासनकाल वि० सं० १७१० से वि० सं० १७३२ तक रहा है।[12] इसी काल में ही यह उपाधि से विभूषित हुए होंगे, क्योंकि उस समय तक यह उत्कृष्ट पाण्डित्य प्राप्त कर चुके होंगे।

मेघविजय की अन्तिम रचना 'सप्तसन्धान महाकाव्य' को स्वीकार किया जाता है। यह ग्रन्थ वि० सं० १७६० में पूर्ण हुआ।[13] इनकी सम्पूर्ण कृतियों के पर्यालोचन के पश्चात् यह स्वीकार किया जा सकता है कि इस ग्रंथ रचना के साथ ही महाकवि ने साहित्य सेवा से विराम भी ले लिया होगा।

इनकी वि० सं० १७०९ से लेकर १७६० तक की अनेक रचनाएं सम्प्रति उपलब्ध हैं। इसके बाद की कोई भी रचना प्राप्त नहीं होती है, किन्तु अजबसागर-गणि विरचित स्तुति से स्पष्ट है कि मेघविजय की उपस्थिति वि० सं १७६१ में रही।[14]

वि० सं० १७६१ के बाद इनका उल्लेख भी कहीं नहीं मिलता है। अतएव अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि ने वि० सं० १७६१ के बाद इन्द्रियों के शिथिल हो जाने के कारण रचना करना छोड़ दिया हो। इसके बाद का उल्लेख मिलने से यह तो निश्चित है कि कवि वि० सं० १७६० के बाद रहे हैं। हां, यह कहा जा सकता है कि वि० सं १७६१ के बाद या तो भारत वसुन्धरा को विरहित कर दिया होगा अथवा कुछ समय और विद्यमान रहे होंगे। अतः वि०सं० १७६५ तक ही उनका सम्भावित समय माना जा सकता है।

गुरु-परम्परा :

इन्होंने प्रायः सभी रचनाओं में अपनी गुरुपरम्परा का उल्लेख किया है। उपलब्ध परम्परा के संकेतों के आधार पर गुरु परम्परा को प्रस्तुत किया जा रहा है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'तपागच्छ' नामक मार्ग प्रचलित था। 'गच्छ' का तात्पर्य गण या संघ से है। इस गच्छ के प्रमुख जैन आचार्य श्री हीर-विजयसूरि थे।

'हीरविजयसूरि' अकबर के समय के प्रतिष्ठालब्ध आचार्य थे। यह उनके कल्याण मित्र भी थे। अकबर इनका अत्यन्त समादर करता था। इन्होंने अकबर को प्रसन्न कर उसके द्वारा अहिंसा धर्म का प्रचार कराया था।[15]एक समय अकबर 'हीरविजयसूरि' से काफी प्रभावित हुआ तथा उसने आचार्य से कुछ ग्रहण करने का आग्रह किया। आचार्य श्री ने सम्राट् अकबर से भिक्षा में इतना ही मांगा था कि वह हमेशा के लिए अथवा कुछ प्रमुख तिथियों पर 'अमारिघोषणा'[16] जारी करें। अकबर ने इस घोषणा को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। अकबर के इस पथ पर जहांगीर आदि वंशज भी चलते रहे। ये मुगल सम्राट् जन्म से ही मांस भक्षी थे। इन मुगल सम्राटों के द्वारा अहिंसा का जो विस्तार उन्होंने करवाया; वह सरल कार्य नहीं था।[17]

श्री हीरविजयसूरि के शिष्य कनकविजय थे। इनका उल्लेख मेघविजय ने तो सर्वत्र ही अपनी कृतियों में किया है, किन्तु इनके द्वारा रचित कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। कनकविजय के बाद शीलविजय तपागच्छ के आचार्य हुए थे। शीलविजय के तीन शिष्य—कमलविजय, सिद्धिविजय और चारित्रविजय थे। सिद्धिविजय के शिष्य कृपाविजय हुए। ये कृपाविजय ही मेघविजयगणि के दीक्षा गुरु थे। कृपाविजय तर्कशास्त्र के पण्डित तथा साहित्य सिद्धान्त के मर्मज्ञ थे। साहित्य-सिद्धान्त के अधिपति के शिष्य मेघविजयगणि समस्त शास्त्रों के अधिवेत्ता थे। कृपाविजय ही मेघविजय के शिक्षागुरु भी थे। क्योंकि इन्होंने कहीं भी अपने अन्य गुरु का उल्लेख नहीं किया है। तपागच्छ सम्प्रदाय में मेघविजय के बाद ऐसा कोई सूर्य उदित नहीं हुआ कि जिसने साहित्य वसुन्धरा को आलोकित किया हो।

उक्त गुरु परम्परा का उल्लेख युक्तिप्रबोधनाटक, देवानन्दमहाकाव्य, शान्तिनाथचरित आदि अनेक रचनाओं में किया गया है।[18]

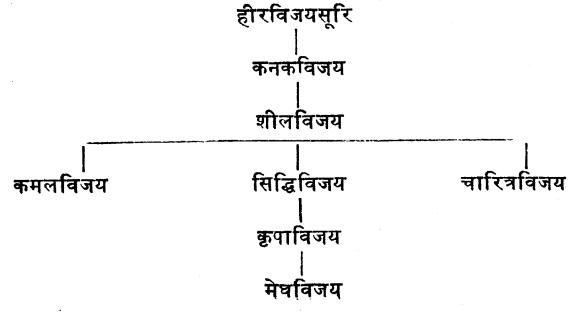

उपाधि :

ग्रन्थकार ने अपनी अनेक रचनाओं में यह उल्लेख किया है कि विजयप्रभसूरि ने उन्हें वाचक पदवी से अलंकृत किया था।[19]

श्री 'विजयप्रभसूरि' का जन्म वि० सं १६७७ में कच्छदेशीय' मनोहरपुर' के बृदोपकेश वंशधोषा गोत्रमृत सा० 'शिवगण' की पत्नी 'भानुमती' के यहां हुआ था। इन्होंने वि० सं० १६८६ में दीक्षा ग्रहण की और वि० सं० १७०१ में पन्यास पद ग्रहण किया था। गांभीर्य, पाण्डित्य, क्षमा आदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न इन्होंने वि० सं० १७१० में संघ के आचार्य पद को और वि० सं० १७१३ में भट्टारक पद को अलंकृत किया था। ये एक प्रभावशाली साधु थे। वि०सं०१७२३ में इन्होंने ही घोघाबंदर में जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई थी। इनका काल वि० सं० १७३२ तक रहा।

इसी काल (वि०सं० १७१०—वि० सं० १७३२) में 'विजयप्रभसूरि' ने मेघविजयगणि को वाचक पदवी से विभूषित किया होगा। इन्होंने 'विजयप्रभसूरि' के प्रति अत्यन्त भक्ति प्रदर्शित की है। कवि ने देवानन्दमहाकाव्य, दिग्विजयमहाकाव्य, मेघदूतसमस्यालेख और विजयदेवमाहात्म्य विवरण सदृश ग्रंथों की रचना करके इनके प्रति भक्ति प्रकट की है।

'मेघविजयगणि' की विविध विषयों से संबंधित कृतियों के पर्यालोचन करने के अनन्तर उन्हें निम्नलिखित विशेषणों से समलंकृत किया जा सकता है।

प्रतिभाशाली कवि :

'मेघविजयगणि' मूलतः एक कवि हैं। इनके अनेक स्वतंत्र काव्यग्रन्थ एवं विज्ञप्ति पत्र उपलब्ध हैं, जिनमें 'विजयप्रभसूरि' के चरित से संबंधित त्रयोदश सर्गात्मक दिग्विजयमहाकाव्य, सप्तसंधानमहाकाव्य, लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पंचमीकथा, पंचाख्यान, भविष्यदत्तचरित्रकथा, चित्रकोश, विज्ञप्तिपत्र, पाणिनीयद्व्याश्रयविज्ञप्तिपत्र, पंचतीर्थस्तुति और छन्द संबंधी ग्रन्थ वृत्तमौक्तिक (दुर्गमबोधटीका) आदि स्वतंत्र ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

काव्यकार की महनीय प्रतिभा का विशेष परिचय उनके समस्यापूर्ति देवानन्द, मेघदूतसमस्यालेख आदि काव्यों के माध्यम से मिलता है, क्योंकि कवि की मौलिकता नूतनकाव्यसृष्टि में उतनी नहीं निखरी, जितनी पुरानी काव्यसृष्टि को नूतन चमत्कार प्रदान करने में। मेघविजय प्रकांड पंडित होते हुए भी विनम्र हैं; जिसके दृष्टान्त स्वरूप उनके अनेक श्लोक प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा न साम्यस्पृहा
श्रीमन्माघकवेस्तथापि सुगुरोर्मे भक्तिरेव प्रिया।
तस्यां नित्यरतेः सुतेव सुभगा जज्ञे-समस्याऽद्भुता,
सेयं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद् दृशामुत्सवम् ।।८२।।
माघः सानिध्यकृद् भूयाद् मल्लिनाथैस्तथैक्ष्यताम्।
हास्येनममदास्येऽस्मिन् यथाशक्त्युपजीविते ।।८१।।
अस्या न मधुरा वाचो नालंकारा रसावहाः ।
पूर्वसंगतिरेवास्तु सतां पाणिग्रहश्रिये ।।८३।।[20]

मेघविजय ने अभ्युत्थानयुग के प्रतिनिधि महाकवियों—कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष की कृतियों की पंक्तियों को समस्यापूर्ति के रूप में उनके भावों में स्वभावों का साम्य स्थापित कर नवीन काव्यों का सृजन किया है। उन्होंने महाकवि कालिदास विरचित मेघदूत के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण को समस्या रूप में स्वीकार करके मेघदूतसमस्यालेख, भारवि के किरातार्जुनीय को समस्या बनाकर किरातसमस्यालेख, महाकवि माघ के शिशुपालबध के सात सर्गों के प्रायः अन्तिम चरणों को समस्या बनाकर देवानन्द महाकाव्य तथा श्रीहर्ष के 'नैषधीयचरित' के प्रथमसर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों के प्रथम-चरण को समस्या मानकर 'शान्तिनाथचरित' नामक काव्यों की रचना की है।

समस्यापूर्ति में पूरणीय चरण के शब्दों को परिवर्तित न कर अर्थ की पूर्ति करनी होती है, अतएव इसमें कवि परतंत्र रहता है। भावों की स्पष्टता कम होती है। इस कार्य में स्वतंत्र काव्य निर्माण की अपेक्षा अधिक श्रम एवं प्रौढ़ पाण्डित्य की अपेक्षा होती है। बन्धन के कारण कवि अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का उपयोग कम कर पाता है। कुछ ही विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न कवि दूसरे के काव्यों के पदों तथा भावों का अपने भावों के साथ सामंजस्य स्थापित कर पाते हैं। ऐसे ही विशिष्ट काव्यकारों की कोटि में ही मेघविजयगणि भी आते हैं। इनकी समस्यापूर्ति काव्यकृतियां उक्त तथ्य के प्रमाण के रूप में विद्यमान हैं।

दार्शनिक :

मेघविजयगणि की दार्शनिकता के प्रबल प्रमाण उन्हीं के द्वारा रचित युक्तिप्रबोध नाटक, मणि-परीक्षा और धर्ममंजूषा में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त हैं। युक्तिप्रबोध में इन्होंने दिगम्बर मतानुयायी बनारसीदास के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। खण्डन २२२ दार्शनिक ग्रन्थों से प्रमाणों को उद्धृत कर किया गया है।

कविवर बनारसीदास के समयसार नाटक में निज प्रवर्तित, बाणारसीय मत नामक नूतन सिद्धान्त की स्थापना हुई है तथा अन्य दिगम्बर सिद्धान्तों का समर्थन भी किया गया है। मेघविजय ने युक्तिप्रबोध में बनारसीदास के सिद्धान्तों का खण्डन करके अपनी तार्किक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है। इससे सिद्ध है कि ये तत्व-ज्ञान के पण्डित थे। ये जैनेतर दर्शनों के सम्बन्ध में भी मूक नहीं रहे। इन्होंने युक्तिप्रबोध में अन्य दर्शनों का खण्डन करके जैन सिद्धान्तों की नवीन स्थापना करके अपनी दार्शनिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

वैयाकरण :

इन्होंने आचार्य हेमचन्द्र विरचित 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के सूत्रों पर भट्टोजि दीक्षित प्रणीत' सिद्धान्त कौमुदी' के अनुसार अपने शिष्य भानुविजय के बोध के लिए प्रक्रिया क्रम से चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी) नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इनकी 'हैमशब्दप्रक्रिया' और 'हैमशब्दचन्द्रिका' व्याकरणविषयक रचनाओं से यह सूचित होता है कि ग्रंथकार हैमव्याकरण के साथ-साथ पाणिनीय-व्याकरण का भी महान् पण्डित था। इनके पाणिनीयद्वयात्रय विज्ञप्तिपत्रों में काव्य के साथ-साथ व्याकरण के प्रयोगों का संयोजन प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचायक है।

ज्योतिषी :

ये ज्योतिष विषय के अभ्यासी पण्डित थे। जैन आचार्यों में श्रीभद्रबाहु द्वारा विरचित फलादेशविषय 'भद्रबाहुसंहिता' और कालकाचार्य के द्वारा रचित 'कालकसंहिता' नामक ग्रन्थ तो उपलब्ध होते हैं किन्तु मेघविजय के हस्तरेखा विषयक 'हस्तसंजीवन' जैसा स्पष्ट एवं विस्तृत संस्कृत टीका युक्त सुन्दर ग्रन्थरत्न अन्य किसी मनीषी का प्राप्त नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इनकी 'उदय-दीपिका,' 'वर्षप्रबोध' और 'प्रश्नसुन्दरी' आदि ग्रन्थ तो इनके ज्योतिषज्ञान के प्रमाण हैं ही। वर्षप्रबोध प्राचीन एवं अर्वाचीन अनेक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इसमें भविष्य से सम्बन्धित शुभाशुभ फल जानने के लिए कोई ऐसा विषय अवशिष्ट नहीं रहा, जिस पर प्रकाश न डाला गया हो। ऐसी रचनायें ज्योतिषशास्त्र के अभ्यास के बिना संभव नहीं है।

आध्यात्मज्ञानी :

मेघविजय अध्यात्म विषय के अनुभवशील विद्वान् थे। क्योंकि इनके जीवन का अधिकांश काल साधु रूप में ही व्यतीत हुआ है। साधु का तो जीवन ही आध्यात्मपरक होता है। इनके द्वारा रचित अर्हद्गीता और मातृकाप्रसाद जैसे

आध्यात्मिक ग्रन्थों से यह स्पष्ट होता है कि इनमें वर्णित नवीन तथ्यों को एक अनुभवशील व्यक्ति ही प्रकट कर सकता है। अर्हद्गीता में ऐसा निर्दिष्ट है कि ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र से क्रमशः वात, पित्त और कफ नष्ट होते हैं। अतएव धर्म अमृतकल्प होता है।[21]

अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने अन्य स्थल पर कहा है कि—

द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽपेक्षया बहुधा स्थितिः।
आचाराणां दृश्यतेऽसौ न वादस्तत्र सादरः॥[22]

अर्थात् आचारभिन्नता, क्रियाभिन्नता, अनुष्ठानभिन्नता, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से होती है। अतएव आत्मार्थी को उसके चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए।

सैद्धान्तिकों के अनुसार ज्ञानावरण एक वात दोष है। आयुष्यस्थिति का नाम पित्त दोष है तथा नाम कर्म कफरूप है। जहां रक्त की अधिकता होती है वहां पित्त प्रकृति से सर्वमोह प्रकृतियां उदित होती हैं। वात पित्त का सम्मिश्रित भाव दर्शनावरण है और अनुविकारों से होने वाली सुख-दुःख की अनुभूति वेदनीय कर्म है। गोत्रकर्म, पित्त, वात, कफरूप है। वात, पित्त, कफ से सन्निपात रूप अन्तराय कर्म इन तीन प्रकृतियों का कारणभूत होता है। इसीलिए सभी भावों का निरूपण करके उन्होंने स्पष्ट किया है कि आत्मार्थी पुरुष को वाह्य और आभ्यन्तर हेतु और प्रयत्न से मन को निराग्रही करने का यत्न करना चाहिए।[23]

उक्त कथन से स्पष्ट है कि 'मेघविजयगणि' अध्यात्मवेत्ता थे, क्योंकि उपर्युक्त तथ्यों को एक आध्यात्मिक अनुभवी व्यक्ति ही प्रकट कर सकता है। इनके द्वारा 'मातृकाप्रसाद' में प्रतिपादित आध्यात्मिक विषयों के आधार पर भी कहा जा सकता है कि ये आध्यात्म के गहन अनुभवशील विद्वान् थे।

शंखेश्वरभक्त :

ग्रन्थकार 'शंखेश्वरपार्श्वनाथ' के बड़े भक्त थे। इन्होंने 'शंखेश्वरपार्श्वनाथस्तवन' तो लिखा ही है; साथ ही इनकी अनेक कृतियों के प्रारम्भ में शंखेश्वर पार्श्वनाथ को नमस्कार किया है।[24] देवानन्द के प्रारम्भ में और मध्य में भी यत्र तत्र 'ऐं नमः' मन्त्र का निर्देश किया है।[25] इससे ज्ञात होता है कि उनका श्रद्धामूलक मन्त्र 'ऐं' बीजमूलक है। दिग्विजय महाकाव्य के अष्टम सर्ग में कवित्वमय शंखेश्वर की स्तुति है। इनके देवानन्द महाकाव्य में शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थक्षेत्र की प्रशंसा की गई है।[26] इसी प्रकार इन्होंने अनेक बार शंखेश्वर पार्श्वनाथ की

बन्दना एवं दर्शन के लिए जाने का निर्देश किया है। 'विजयप्रभसूरि' तथा 'विजयदेवसूरि ने भी 'शंखेश्वर पार्श्वनाथ' की यात्रा की थी। ये दोनों भी शंखेश्वर पार्श्वनाथ के भक्त थे।[27]

इन्होंने अपने उत्कर्ष के समय स्वयं 'शंखेश्वर पार्श्वनाथ' का सदैव स्मरण किया है और 'विजयप्रभसूरि' को भी शंखेश्वर का भक्त बताया है।

'जयतु विजयलक्ष्म्या पार्श्वविश्वैकभास्वान्,
अभिमतसुरशाखी सैवशंखेश्वराचार्यः।
जयति विजयदेव श्रीगुरोः पट्टलक्ष्मीः,
प्रभुरिह विजयादिः श्रीप्रभः सूरिशकः॥[28]

उक्त भक्तिपूर्ण वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनके आराध्य-देव शंखेश्वर पार्श्वनाथ थे।

मेघविजयगणि का संस्कृत, प्राकृत और गुजराती इन तीन भाषाओं पर पूर्ण आधिपत्य था। इन्होंने तीनों भाषाओं में अनेक रचनायें की हैं, जिनमें संस्कृत भाषा से संबन्धित कृतियों का बाहुल्य है। इन रचनाओं में भाषा की सरलता और दुरूहता समान रूप से परिलक्षित होती है। संस्कृत भाषा की कृतियों में यथास्थान समासों की बहुलता है, गाढबन्धों की ओजस्विनी छटा है। शब्द और अर्थ की समता के उत्पादन में तो माघ से टक्कर लेते हैं। इन्होंने माघ के समान ही व्याकरण के नियमों का अधिक प्रयोग किया है—

'कौबेरदिग्भागमपास्यमार्गमागस्त्युमण्णांशुरिवावतीर्णः॥[29]

यहां 'बैरदिग्भागम्' पद का उश्च आ च वा, ताभ्यां युक्ता इश्च,ल श न, दश्च, इ-ल-दाः ते सन्ति अस्मिन् इति (वा+इलद्+इन—वेलदी) बेलदी स चासौ' 'ग' गकारः तेन भाति ईदृशः अः अकारः तम् गच्छति प्राप्नोति तत् गच्छतिर्गम् इलादुर्गनाम्ना प्रतीतम्।

उक्त प्रकार के उणादि शब्दों के प्रयोग इनकी भाषा की विशेषता है।

इनकी संस्कृत भाषा पर उर्दू फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। यथा-भुभृत् के लिए पातिशाह और धनिक के लिए शाह का प्रयोग मिलता है।[30] यहां पातिशाह शब्द में संस्कृत एवं पारसी शब्दों का सम्मिश्रण है। पाति शब्द संस्कृत है, जिसका अर्थ है प्रजापालन और शाह शब्द फारसी है, जिसका अर्थ राजा होता है।

इनकी भाषा में शब्दों का संक्षेपीकरण परिलक्षित होता है। जैसे बन्दरगाह के लिए 'बन्दिरे' शब्द का प्रयोग मिलता है[31] तथा 'दीवबन्दर' के स्थान पर मात्र

'बन्दिर' शब्द व्यवहृत हुआ है।[32]

मेघविजय की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता अनेकार्थक शब्दों का संयोजन मानी जा सकती है। प्रायः इनके सभी ग्रन्थों में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग मिलता है, किन्तु भाषा की प्रौढ़ता एवं चमत्कृति सप्तसन्धान महाकाव्य में विशेष दृष्टिगोचर होती है। इसमें अनेकार्थी शब्दों के संयोजन से सप्त कथाओं को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर, राम और कृष्ण सात नायकों के पितृ वर्णन को प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है कि—

'अवनिपतिरिहासीद् विश्वसेनोऽश्वसेनोप्यथ,
दशरथनाम्ना यः सनाभिः सुरेशः।
बलिविजयोल मुद्रप्रौढ़सिद्धार्थसंज्ञः,
प्रसृतमरुणतेजस्तस्य भूकश्यपस्य ॥[33]

इसमें विश्वसेन, अश्वसेन, दशरथ, नाभि, समुद्रविजय, सिद्धार्थ एवं भूकश्यप इन सात नामों में एक-एक को विशेष्य और अन्य को विशेषण रूप में ग्रहण कर कथा नायकों के पितृनामों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार कवि ने अनेकार्थी शब्दों के संयोजन का कौशल अनेक स्तोत्रों में भी दिखलाया हैं।[34]

'मेघविजयगणि' ने संस्कृत भाषा में काव्य, पादपूर्ति, व्याकरण, छन्द, अनेकार्थ, न्यायशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ज्योतिष, सामुद्रिक, रमल, मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि प्रत्येक विषय सम्बन्धी ग्रन्थों को लिखकर अपनी संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता का परिचय दिया है। ये प्राकृत और गुर्जर भाषा के भी विशेषज्ञ थे। इन्होंने प्राकृत में कुछ ही गाथायें लिखी है, जिनमें युक्तिप्रबोध नाटक के मूलरूप में लिखी गई २५ गाथाओं और 'तपागच्छ् पट्टावली' में लिखित चार गाथायें उल्लेखनीय है।

सिरी विजयसेणसूरीपट्टे गुणसट्ठिमें सगुणसिट्ठे ॥
वाए साहिसहाए जेण ट्ठविओ स जिणधम्मो ॥
तप्पट्टे सूरसमो सट्ठितमो विजयदेवसूरिगुरू।
साहि जहांगीरेणं महातवस्सित्ति बद्ध हो ॥
तप्पट्टंबुजपट्टकरसरिसो हरिसेण दरिसणिज्जमुहो।
इगसट्ठियमोऽणुवमो विजयप्पहणाम गच्छगुरु ॥
सिरि विजयरयणसूरिपमुहेहिं णेग साहु बग्गेहिं।
परिकलिआ पुह विअले सूरिवरा विन्तु मे भद्दं ॥[35]

गुर्जर (गुजराती) इनकी मातृभाषा थी। अतएव इस पर तो इनका अधिकार होना स्वाभाविक ही है। इन्होंने अनेक गुर्जर रचनायें लिखकर मातृभाषा के प्रति भक्ति प्रदर्शित की है। गुजराती के उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

इम जैन धरम शुद्ध आणो नाणउ संका तेहनी,
धुरिभले भणतां शास्त्र गणतां शुद्धमति हुइ जेहनी
तपगच्छनायक सुगुणग्राहकश्रीविजयप्रभगणधरो,
तस पट्टधारी ब्रह्मचारी विजयरत्नसूरीसरो ।।
तस आण नित्य प्रमाण राखि कवि कृपाविजया तणउ ।
कहे सीस वाचक मेघविजया सेवक वाणी सवि भणउ ।।[36]

उपर्युक्त विवरण एवं उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि महोपाध्याय मेघविजय संस्कृत, प्राकृत और गुर्जर के अधिकारी विद्वान् थे।

शैली :

मेघविजय गणि की शैली बहुत ही अलंकृत परिलक्षित होती है। इनकी काव्यकृतियों में श्लेष की प्रधानता होने के कारण दुरूहता तो अवश्य है, किन्तु विचार करने पर अर्थावगति भी सुकर है। अलंकारों के प्रयोग में नवीनता एवं निर्दोषता विद्यमान है। इन्होंने श्लेश में अत्यधिक परिश्रम किया है। इसके प्रमाण स्वयं मेघविजय प्रणीत 'सन्धानकाव्य' एवं श्लिष्ट स्तुतियां हैं। इनके काव्यों में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का ही समान बाहुल्य दृष्टिगत होता है।

कवि के द्वारा प्रयुक्त उपमायें कालिदास के समान रमणीयता और सरलता का प्रदर्शन करती हैं। जैसे—'**ऋषिकुल्येव सिद्धानां शुद्धवर्णा सरस्वती**।'[37]

अनेक उपमायें माघ के समान कठिन और गूढ़ है। इनकी उपमायें सर्वत्र रस का पोषण करती हैं। स्वल्प सहज गुण है, जिसे हम अर्थमयी गम्भीर शैली कह सकते हैं। इनकी समासान्त पदावली शैली को गम्भीरता और उदात्तता प्रदान करती है।

मेघविजय नाम के दो कवि :

मुनि श्री दर्शनविजय द्वारा सम्पादित 'पट्टावलीसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में तथा मुनिवर्य श्री चारित्रविजय द्वारा गुरुमाता (पृ० १०६) में एक अन्य मेघविजय उपाध्याय का परिचय मिलता है।

उक्त ग्रन्थों में लिखित परिचय के साथ हीरविजयसूरि की परम्परा के

अन्तिम गणमान्य आचार्य मेघविजयगणि का सम्बन्ध नहीं बैठता है, किन्तु 'पट्टावली समुच्चय' आदि में दिया गया परिचय भी भ्रान्त नहीं है, क्योंकि एक ही काल में कुछ अन्तराल के साथ मेघविजय नाम के दो विद्वान् हुए हैं। उनमें से एक तो श्री विजयसेनसूरि द्वारा दीक्षित शिष्य थे, जो विजयरत्नसूरि के समय तक जीवित रहे। इसलिए यह मेघविजय तो 'विजयतिलकसूरिराज' दर्शाये गये तथा नन्दिविजय वाचक के सहकारी थे।[38]

इन्हीं के द्वारा वि० सं० १६५६ में उपाध्याय पदवी प्राप्त करने की सूचना 'विजयप्रशस्ति महाकाव्य' में दी गई है।[39]

ग्रन्थकार 'मेघविजयगणि' को वि० सं० १६५६ के बहुत काल बाद वि० सं० १७१० से १७३२ पर्यन्त शासन काल वाले 'विजयप्रभसूरि' द्वारा उपाध्याय पदवी दी गई थी। ये 'कृपाविजय' जी द्वारा दीक्षित हुए थे। उक्त बातों का उल्लेख स्वयं 'मेघविजयगणि, द्वारा किया गया है।[40]

'पट्टावली समुच्चय' आदि ग्रन्थों में दोनों 'मेघविजय' को एक समझकर वर्णन किया गया है। उनके शिष्यों का वंशवृक्ष भी मिलता है, जो मिला-जुला होने से भ्रान्त है।[41] मेघविजयगणि का शिष्य मण्डल बहुत बड़ा था, क्योंकि उनके द्वारा अनेक ग्रन्थ शिष्यों के बोध के लिए रचे गये हैं।[42]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि एक ही काल में कुछ आगे पीछे दो मेघविजय उपाध्याय हुए हैं, किन्तु दोनों को प्राप्त उपाधियों के समयों में कालगत अन्तर है। दोनों पृथक्-पृथक् आचार्यों द्वारा दीक्षित हुए थे। श्री विजयरत्नसूरि के द्वारा दीक्षित 'मेघविजय उपाध्याय' प्रथम हैं और 'हीरविजयसूरि' की परम्परा में हुए 'कृपाविजय' द्वारा दीक्षित मेघविजयगणि द्वितीय हैं। द्वितीय 'मेघविजय-गणि, ही न्याय-व्याकरण-साहित्य-ज्योतिष-अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थों के रचयिता हैं। इनके लिए महती प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इन्हीं की रचना सप्तसन्धानमहाकाव्य से प्रकृत शोध-प्रबन्ध सम्बद्ध है।

ग्रन्थकार के जीवन परिचय के अनन्तर उनकी विविध विषयों सम्बन्धी विविध रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

साहित्य

दिग्विजय महाकाव्य :

यह 'मेघविजयगणि' का स्वतन्त्र काव्यग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में रचना

काल का उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसमें 'विजयप्रभसूरि' का चरित निबन्द्ध किया है। अतएव इसकी रचना वि० सं० १७१० के अनन्तर सम्भावित है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार पूर्ण त्रयोदश सर्गात्मक इस महाकाव्य में 'विजय-प्रभसूरि' की दिग्विजय अर्थात् उनके उदयपुर, शंखेश्वर, सिरोही, आगरा, बनारस, पटना, सम्मेदशिखर आदि में किए हुए विहार और धर्म प्रचार का प्रभावात्मक वर्णन है। यह महाकाव्य तात्कालिक राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी अद्वितीय है।

प्रस्तुत महाकाव्य की सर्गानुसार कथावस्तु निम्नलिखित है।

प्रथम सर्ग :

चौबीस तीर्थंकरों एवं इन्द्रभूति गौतमगणधर का स्तवन करके दुर्जन-निन्दा, सज्जन-प्रशंसा के साथ काव्यहेतुओं को प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद जम्बूद्वीप के वर्णन के सन्दर्भ में नदी, पर्वत, वन आदि का वर्णन 'संग्रहणी' नामक ग्रन्थ के अनुसार किया गया है।

द्वितीय सर्ग :

भरत-क्षेत्र का सम्पूर्ण वर्णन 'संग्रहणी' के अनुसार ही है।

तृतीय सर्ग :

इस सर्ग में भगवान् महावीर का सातिशय वर्णन किया गया है। इन्द्रों द्वारा रचे हुए समवसरण में बर्द्धमान जिनेन्द्र ने उपदेश दिए।

चतुर्थ सर्ग :

भगवान् महावीर की पट्ट परम्परा में होने वाले 'विजयप्रभसूरि' के तक के पट्टधरों के नामों का उल्लेख है। इसके अनन्तर ६०वें भट्टारक 'विजयदेवसूरि' का चरित्र प्रस्तुत है।

पंचम सर्ग :

'विजयप्रभसूरि' ने भट्टारक के रूप में संघ समुदाय पर शासन करते हुए संघीय व्यवस्था को बनाये रखने के लिए उग्र विहार किया। विहारकाल में विविध नगरों में उन्होंने वास किया, उन नगरों का सौन्दर्यपूर्ण वर्णन किया गया है।

षष्ठ सर्ग :

अहमदाबाद से आदि जिनेन्द्र के दर्शन के लिए खडग नाम के वागड़ क्षेत्र गये। वहां वागड़भूपति को प्रबोधित किया और वापिस उदयपुर आकर चातुर्मास किया। उदयपुर में राजा को जैन-धर्म का दृढ़ अनुरागी बनाया। चातुर्मास के अनन्तर अनेक नगरों में उपदेश दिये और प्रतिष्ठा महोत्सव करवाये।

सप्तम सर्ग :

उदयपुर से सादड़ी आये। वहां से मेदिनीपुर, नारायणपुर, संग्रामपुर, माल्यपुर और मारवाड़ में भ्रमण किया। मारवाड़ में संवत् १७३२ में श्री 'विजयरत्नसूरि' को आचार्य पद से अलंकृत किया।

अष्टम सर्ग :

सम्वत् १७३७ में शिवपुरी, सिरोही आये। वहां के शंखेश्वर पार्श्व की स्तुति का कवित्वमय वर्णन किया गया है।

नवम सर्ग :

सिरोही में रहते हुए अपने शिष्यों को उपदेश देते थे। वहां से सूरि जी ने स्वर्णगिरि जालौर विहार किया। वहां के पहाड़ पर स्थित जिन चैत्यालयों की शोभा का वर्णन किया गया है। पर्वत के नीचे जालंधर में भी जिनमन्दिर शोभित हो रहे हैं। वहां से मेदिनीपुर जाकर कुछ समय मेदिनीपुर में भी रहे।

दशम सर्ग :

मेदिनीपुर से विहार कर आगरा आये। आगरा की वाटिकाएं प्राकार, जहानाबाद बादशाह के महल, व्यापारियों की हवेलियों और उपवन आदि का कवित्वपूर्ण दृष्टि से वर्णन किया गया है।

एकादश सर्ग :

इसमें आगरा का वर्णन, यमुना, गंगा, सरस्वती और तीनों नदियों से बनी हुई त्रिवेणी का वर्णन, पार्श्वनाथ के जन्मस्थान वाराणसी नगरी वहां रहने वाले लोगों तथा उपवनों आदि का सुन्दर चित्रण है। वहां से पूर्व देश की तरह विहार करके पटना आये और उसके मार्ग का वर्णन किया।

द्वादश सर्ग :

इस सर्ग में विहार के अन्य नगरों के साथ पटना के जिनमन्दिरों का रोचक वर्णन है।

त्रयोदशसर्ग :

इसमें सम्मेदशिखर का वर्णन करके २४ तीर्थंकरों और गणधरों की भक्ति-पूर्वक स्तुति की गई है।

लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित :

यह आचार्य हेमचन्द्रसूरि प्रणीत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक विशाल-काय पुराणकाव्य का एक संक्षिप्त रूप है। इसमें भी २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वलदेव, ९ प्रतिवासुदेवों का वर्णन संक्षिप्तरूप से किया गया है। हेमचन्द्राचार्य की ही भांति इन्होंने भी इसे दस पर्वों में विभक्त किया है। ग्रन्थकार ने इसमें रचना समय का उल्लेख नहीं किया, किन्तु ग्रन्थ की रचना उपाध्याय जी ने कोठारी वनराजा की अभ्यर्थना पर की थी।[43]

इस ग्रन्थ में किसी तीर्थंकर के चरित्र में दिक्कुमारिकाओं का महोत्सव विस्तार से दिया गया है, तो किसी में दीक्षा महोत्सव। किसी में समवशरण की रचना अति विस्तार से वर्णित है। सर्वत्र इन्द्रों की स्तुति और तीर्थंकरों की देशना संक्षेप से दी गयी है। अवान्तर कथाएं भी संक्षिप्त रूप में दी गयी हैं।[44]

इस कृति के नाम के पीछे दो बातों का अनुमान किया गया है—एक तो यह कि 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' को सामने रखकर रची गयी है या उक्त कृति में जो अनेक प्रसंग नहीं हैं, उनको शामिल करने पर भी आकार की दृष्टि से 'लघु-त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नाम रखा गया हो। यह धार्मिक रुचि वालों के लिए अत्यन्त उपकारक है। इसका आकार ५००० श्लोक प्रमाण है।[45]

इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद पण्डित मफतलाल झवेरचन्द्र ने किया है, जिसे खैतरपालनीपोल अहमदाबाद से वि० सं० २००४ में प्रकाशित कराया, किंतु इसकी मूल प्रति अभी अमुद्रित ही है, जो पूना रिसर्च इंस्टीट्यूट में विद्यमान है।[46] इस ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने अपने गुरु को स्मरण करते हुए उनके प्रति विनम्रता प्रकट की है।[47]

सप्तसंधानमहाकाव्य :

प्रस्तुत काव्य शोध प्रबन्ध का विषय होने के कारण यहां इसका परिचय

देना उपयुक्त नहीं समझा जा रहा है, क्योंकि इसका विस्तृत विवेचन ही मुख्य उद्देश्य है।

भविष्यदत्तचरित :[48]

धनपालकृत अपभ्रंश की 'भविसयत्तकहा' के समान ही इसमें पंचमी माहात्म्य पर भविष्यदत्त चरित्र लिखा गया है। यह संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध ग्रन्थ इक्कीस अधिकारों में विभक्त है। कवि ने इसकी रचना समय का उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'प्रान्तप्रशस्ति' में 'विजयरत्नसूरि' का उल्लेख किया है।[49] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसकी रचना वि० सं० १७३२ के बाद हुई होगी, क्योंकि 'विजयरत्नसूरि' ने वि०सं० १७३२ में आचार्य पद प्राप्त किया था। इसकी रचना के सम्बन्ध में पण्डित अम्बालालशाह का मत है[50] कि इसकी रचना वि० सं० १७५० के बाद हुई थी। इसके पद्यों के मध्य में हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि ग्रन्थों से सुभाषित पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। यह अनुप्रास यमक आदि शब्दालंकारों से परिपुष्ट है।

भविष्यदत्त के चरित्र से सम्बन्धित अन्य कवियों की भी रचनाएं मिलती हैं। जैसे—पन्द्रहवीं शताब्दी में श्रीधर नामक दिगम्बर जैन विद्वान् ने संस्कृत में 'भविष्यदत्तचरित्र' की रचना की है।[51] सत्तरहवीं शताब्दी में श्री पद्मसुन्दर ने भी 'भविष्यदत्तचरित्र' की रचना की है।

पंचाख्यान :

पूर्णभद्रसूरि विरचित 'पंचाख्यान' नामक महाग्रन्थ के संक्षिप्तीकरण रूप में मेघविजयगणि ने वि० सं० १७१६ में पंचाख्यान का निर्माण किया था। इसकी रचना कवि ने नवरंगपुर (औरंगाबाद) में की थी। यह ग्रन्थ अथावधि गद्य में लिखा गया है। इसकी भाषा सरल और प्रसाद गुण सम्पन्न है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है।[52] इस ग्रन्थ की वि० सं० १७५१ में लिखी गयी प्रति बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में उपलब्ध है।[53]

पंचमीकथा :

इस पंचमी कथा नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी प्राप्त होता है[54] किन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध है अथवा नहीं, इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है।

समस्यापूर्ति काव्य

समस्यापूर्ति शब्द समस्या और पूर्ति का संयोग है। इसमें पूर्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है। समस्या का अर्थ कठिनाई या परेशानी है। यह परेशानी भी व्यक्ति के लिए परीक्षा होती है। काव्यक्षेत्र में किसी सार्थक शब्द, पद अथवा पाद को समस्या के रूप में कवि की शक्ति-परीक्षणार्थ अर्थसंगत रीति से पूरा करने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। कवि अपने मनोगत अर्थ व भावों की उस पाद अथवा पद के साथ संगति बैठाकर जब पद्य की पूर्ति करता है तो समस्यापूर्ति कहते हैं। अमरकौशकार ने भी कहा है कि—"या समासार्था पूरणीयार्था कवि-शक्तिपरीक्षणार्थम् अपूर्णतयेव पठ्यमानार्था वा सा समस्या।"[55]

एक स्थिति और है जब कवि भिन्न अभिप्राय वाले अधूरे पद्य की भिन्न अभिप्राय वाले अपने भावों के साथ संगति बैठाकर अर्थ पूर्ति करता है। वह भी समस्यापूर्ति है।[56]

कवि प्रणीत समस्यापूर्ति काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

मेघदूतसमस्यालेख :[57]

'मेघदूतसमस्यालेख' विज्ञप्तिपत्र के रूप में लिखा गया है। इस काव्य की रचना महाकवि कालिदास विरचित 'मेघदूतम्' के प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण को समस्या मानकर की गयी है। जिस प्रकार कालिदास ने रामगिरि आश्रम में स्थित किसी विरही यज्ञ का सन्देश आषाढ़ मास के प्रारम्भ में मेघ को दूत बनाकर उसकी कान्ता के पास अलकापुरी भेजने की कल्पना में 'मेघदूतम्' की रचना की, उसी प्रकार मेघविजय ने चातुर्मास के प्रथम मास आषाढ़ में अपना सन्देश श्री विजयप्रभसूरि के पास देवपाटण भेजने के लिए 'मेघदूतसमस्यालेख' की रचना की है। कवि ने नवरंगपुरी[58] (औरंगाबाद) से देवपाटण सन्देश भेजा था। मेघदूत में रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग में विविध नगर, पर्वत, नदी आदि रम्य स्थानों का वर्णन है और फिर अलकापुरी में स्थित यक्षिणी आदि का वर्णन है। इसी प्रकार इस काव्य में नवरंगपुरी (औरंगाबाद) से देवपाटण के मार्ग के मध्य देव पर्वत तथा नगरी, एलोरपर्वत, तुंगिलापर्वत, तापीनदी, नर्मदानदी आदि नदियों, शत्रुंजयपर्वत, सिद्धशैल, जैन-मन्दिरों, द्वीपपुरी(देवपाटण) में स्थित विजयप्रभसूरि,[59] गुरु का तथा साथ में उस

नगरी का भी वर्णन किया है ।

कवि ने इस काव्य की रचना के समय का उल्लेख नहीं किया किन्तु 'विजयदेवसूरि' और 'विजयप्रभसूरि'[60] का उल्लेख होने के कारण इसकी रचना का समय वि० सं० १७१० से वि० सं० १७३२ के मध्य स्वीकार किया का सकता है। उक्त विजयप्रभसूरि का शासन काल का समय है। अन्तिम पद्य के आधार पर कहा जा सकता है कि काव्य में काव्यकार ने समस्यापूर्ति का पूर्णतया निर्वाह किया है।[61]

किरातसमस्यालेख :

इस काव्य का उल्लेख विद्वानों[62] ने अपने निबन्धों में किया है। यह जगत प्रसिद्ध भारवि के काव्य किरातार्जुनीयम् की समस्यापूर्ति है। इसकी एक प्रति आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि के पास थी। उन्होंने प्रेस कापी भी तैयार करायी थी किन्तु मिली नहीं। वह भी एक सर्गात्मक थी, पूरी नहीं।[63]

शान्तिनाथचरित :

'मेघविजयगणि' विरचित समस्यापूर्ति काव्यों में इसका विशेष स्थान है, क्योंकि श्रीहर्ष विरचित 'नैषधीयमहाकाव्य' के प्रथम सर्ग के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण को समस्या बनाकर पूर्ति की गई है, और नैषध का जो चरण ग्रहण किया गया, उसे प्रस्तुत काव्य में उसी चरण के रूप में भावों की संगति के साथ बैठाया गया है। इस काव्य की पूर्ति छः सर्गों में की गयी है एवं अपर नाम कवि ने 'नैषधीयसमस्या' भी दिया है।[64] इसमें शान्तिनाथ प्रभु का चरित वर्णित है, आनुषंगिक रूप में विजयप्रभसूरि[65] का वर्णन है। ५९० श्लोक संख्या प्रमाण है।

यह काव्य काव्यत्व प्रधान है और भाव साम्य नैषधीय चरित जैसा है।[66] श्री हर्ष ने नैषधीयचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपना वंशगत परिचय दिया है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने अपनी गुरु परम्परा का वर्णन किया है।[67]

काव्यकार ने काव्य रचना काल का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु 'विजय-प्रभसूरि' का उल्लेख किया है। अतएव उन्हीं के शासन काल सं० १७१० से १७३२ के मध्य इस काव्य की रचना समय माना जा सकता है।

संयोग है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम हीरा और काव्यकार की परम्परा के आद्य संस्थापक का नाम भी 'हीरविजय' था। अतएव काव्य में 'नैषधीयचरित' के प्रथम सर्ग का आद्यन्त समस्या-रूप में निर्वाह हुआ है।

देवाननन्दमहाकाव्य :

'देवानन्दमहाकाव्य' कवि का अनुपम समस्यापूर्ति काव्य है। माघ कवि के शिशुपाल वध की समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये, इस काव्य में 'श्री विजय-देवसूरि' का चरित्र वर्णित है। आनुषंगिक रूप से 'विजयप्रभसूरि' जी का वृत्तान्त निबद्ध है। यह काव्य सम्वत् १७२७ में मारवाड़ के सादड़ीनगर में विजयदशमी के दिन पूरा हुआ था।[68] कवि ने स्वयं ग्वालियर में प्रतिलिपि की थी,[69] 'श्री सुन्दर विजय' ने भी लिपि करायी थी।[70] सप्तसर्गात्मक इस काव्य में कुल ७१९ पद्य हैं। यद्यपि काव्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से चरित वर्णित है तथापि काव्यत्व प्रधान है। इस काव्य का माघ के शिशुपालवध काव्य से साम्य है—माघ कवि का मुख्य विषय कृष्णवासुदेव द्वारा शिशुपाल का वध है। मेघविजय ने भी अपने काव्य का नायक वासुदेवकुमार[71] चुना, जो बाद में 'विजयदेवसूरि' आचार्य बनते हैं। कृष्ण को दिल्ली जाना पड़ा था इसके नायक को भी दिल्ली के जहांगीर बादशाह के पास जाना पड़ा था। रैवतकगिरि का दोनों काव्यों में समान वर्णन हैं। काव्य में शिशुपालवध के मात्र सात सर्गों के श्लोकों के अन्तिम पाद को समस्या बनाकर पूर्ति की गयी हैं। इस काव्य के सम्बन्ध में मुनि जिनविजय जी ने कहा है—"देवानन्द महाकाव्य" में जो इन सूरि का चरित्र वर्णन है। वह बहुत ही संक्षिप्त है। यह तो एक चमत्कृति बतलाने वाला अलंकारमय काव्य है, वर्णनात्मक चरित ग्रन्थ नहीं। इसलिए इसमें विस्तृत वर्णन की गुंजाइश नहीं है। इसका उत्कृष्ट रस तो कवित्व है। कवि ने सूरि जी की प्रधान घटनाओं का संक्षिप्त सूचन ठीक-ठीक किया है।[72]

काव्य का संक्षिप्त सारांश प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम सर्ग :

जम्बूद्वीप के मध्य भारतवर्ष में सर्वोत्तम देश गुजरात है। वह समुद्र, सरोवर, लहराती हुई खेती, पार्श्वनाथ का शंखेश्वर नामक अद्भुत तीर्थ तथा अनेकानेक पवित्र तीर्थों से अलंकृत है। गुजरात देश में गौओं का क्षीर नित्य झरता रहता है, इससे इसका गुर्जर नाम यथार्थ है। गुजरात में इलादुर्ग (ईडर) नगर है, उसका राजा नारायण है। नारायण के पिता का पुंज और पितामह का नाम भाण था। राजा का वंश राठोड़ था। उसी नगर में स्थिर नाम का व्यवहारी रहता था। उसके पिता का नाम माधव था। स्थिर की पत्नी रूपा ने रोहिणी नक्षत्र में वि० सं० १६३४ के पौष शुक्ल त्रयोदशी के दिन एक अद्भुत पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम 'वासुदेव' रखा गया।

द्वितीय सर्ग :

बालक वासुदेव ने युवक होते ही माता-पिता कोप रमार्थ वोध कराकर दीक्षा की सम्मति प्राप्त की। माता ने भी पुत्र स्नेह से दीक्षा का संकल्प लिया। वासुदेव ने दीक्षा के पूर्व तीर्थ यात्रा का विचार किया।

तीर्थ यात्रा के प्रसंग में अहमदाबाद में 'विजयसेनसूरि' से भेंट की और दीक्षा ग्रहण की। विद्या विजय नाम रखा गया। दीक्षा वर्ष में सारे देश में अमारि-घोषणा जारी हुई। 'विजयदेवसूरि' अकबर के आग्रह पर लाहौर में दो वर्ष रहे। हीरविजयसूरि के रोग का समाचार सुनकर उन्हें देखने चल पड़े, मध्य में गुरु की मृत्यु का समाचार सुनकर खेद हुआ। सादड़ी में रुके वहां पाटण अहमदाबाद सिकन्दरा लाटा पल्ली होते हुए ऊना (उन्नतपुर) आये, वहां से सूरत और फिर से ऊना पहुंच गये।

'विजयसेनसूरि' के शिष्य 'नन्दिविजय' ने फिरंगियों को अपने उपदेशों से प्रभावित किया। उन्होंने 'विजयसेनसूरि' को दीववन्दर बुलाया। आचार्य और फिरंगियों के राजा के बीच धर्म वार्ता हुई। राजा प्रसन्न हुआ उसने जैन मुनियों को दीव में रहने की सम्मति दी। सूरि जी दीव से शकन्दरा में पहुंचे, वहां विद्या-विजय को पण्डित पद दिया। अनन्तर खम्भात पहुंचे वहां विद्याविजय को आचार्य पद दिया। आचार्यपद के बाद 'विजयदेवसूरि' प्रकट हुआ और वे विजय सेन सूरि के पट्टरधर बने। पाटण में इनका वन्दना महोत्सव हुआ। कनकविजय और लावण्यविजय यह दो मुनि विजयदेव सूरि के शिष्य थे। जहांगीर बादशाह के आमन्त्रण पर सूरि जी दिल्ली पहुंचे। इनसे मिलकर प्रमुदित हुआ।

तृतीय सर्ग :

दिल्ली से विहार करते हुए ईडर पहुंचे। वहां 'सहजशाह' ने प्रभु से प्रार्थना की। सूरि जी ने पाटण में ही 'कनकविजय' को उपाध्याय पद से अलंकृत कर दिया था। ईडर के पास सावली ग्राम में जीव हिंसा को रुकवा दिया। पुनः ईडर में गये वहां 'सहजशाह' के महोत्सव में 'कनकविजय' को आचार्य पद से विभूषित किया। आचार्यपद के बाद उनका 'विजयसिंहसूरि' नाम प्रकट हुआ। वहां से गुरुशिष्य सीरोही पहुंचे। सीरोही से आबू यात्रा को निकले, विहार करते हुए खम्भात पहुंचे, वहां 'विजयसिंहसूरि' का वन्दना महोत्सव सम्पन्न हुआ और भट्टारक घोषित हुए। अनेक स्थानों पर विहार करते हुए गिरनार यात्रा को गये।

चतुर्थ सर्ग :

रैवतकपर्वत के दर्शन किए अनेक स्थानों का विहार करते हुए कलिकुण्ड

पार्श्वनाथ तीर्थ का और करहंडपार्श्वनाथ तीर्थ का सूरि जी ने दर्शन किया ।

पंचम सर्ग :

अनेक तीर्थों की वन्दना करते हुए गुजरात की ओर गमन किया ।

षष्ठ सर्ग :

विहार करते हुए गन्धपुर (गन्धार) वन्दर को पहुंचे । वहां अहमदाबाद और अणहिल्लवाड से अनेक लोग सूरि जी के वन्दन को गए । वहां सूरि जी ने अपने प्रिय शिष्य पं० वीरविजय मुनि को सम्वत् १७१० वैशाख शुक्ल दशमी के दिन आचार्य पद से विभूषित करके नाम विजयप्रभसूरि प्रकट किया । वहां से सूरत अहमदाबाद को गये ।

सप्तम सर्ग :

'विजयदेवसूरि' जी और 'विजयप्रभुसूरि' शाहपुर में आए । अहमदाबाद में चातुर्मास करके सूरि जी ने विमलगिरि की यात्रा के लिए प्रस्थान किया । वहां से ऊना गये । श्रीहीरविजयसूरि जी की समाधिस्थल पर विजयदेवसूरि ने भी समाधि ली । यात्रा करते हुएविजयप्रभसूरि ने शंखेश्वर पार्श्वनाथ के दर्शन के लिए प्रस्थान किया ।

विज्ञप्तिपत्र

पत्र प्रेषक मेघविजय ने अपने आचार्य अथवा गुरु को आलंकारिक भाषा में गद्य, पद्य, या मिश्र में जो विज्ञप्ति रूप पत्र लिखे हैं उन्हें विज्ञप्ति पत्र संज्ञा दी गयी है ।

जिस स्थान पर आचार्य विराजमान हों उस नगरी का तत्रस्थ मन्दिरों का और आचार्य का प्रभावशाली अलंकृत वर्णन तथा स्वीय प्रवास, तीर्थ यात्रा धर्म ध्यान, पठन-पाठन, धर्म प्रचार के साथ स्वस्थित नगरी का वर्णन इन विज्ञप्ति पत्रों का प्रतिपाद्य विषय है । ये विज्ञप्ति पत्र ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं । कुछ विज्ञप्ति पत्रों में व्याकरण का चमत्कार भी परिलक्षित होता है ।

पाणिनीयद्व्याश्रयविज्ञप्तिपत्र :

ग्रन्थकार ने व्याकरण से युक्त दो विज्ञप्ति पत्रों की रचना की है, जिनका परिचय प्रथम परिच्छेद में दिया जा चुका है।

विज्ञप्तिका :

यह विज्ञप्तिका तत्कालीन गणनायक श्री 'विजयदेवसूरि' को भेजी गई थी। 'विजयदेवसूरि' का स्वर्गवास संवत् १७१३ में हुआ था। अतः यह निश्चित है कि इस विज्ञप्तिका की रचना संवत् १७१३ के पूर्व हो चुकी होगी। इसमें १२५ पद्य संख्या है। आद्यन्त निम्न प्रकार है—

स्वस्ति श्रीमदमन्दमोदविनमद् देवेन्द्रमौलिस्फुरन्,
मागल्यांगयवांकुराकरपरिग्लासा प्रयासाशया।
यस्य श्री जगदीश्वरस्य चरणाम्भोजन्मविच्छ्रच्छलात्,
तस्योऽपीनतनुरनुनसुखभाग्गोकर्णजस्तर्णकः ॥१॥
पश्चाद् गुरोर्दृष्टिसुधा प्रवाहैराकाव्यमार्न दलमेव देयम्।
स्मार्यश्च कार्येषू जिनार्यनामे (?) भुंजिष्य भुष्योऽस्यितिर्मगलश्रीः।१२५।[13]

चित्रकोषकाव्य :

ग्रन्थकार ने सादड़ी से यह लेख श्रीपुरस्थित तत्कालीन गणनायक 'श्रीविजय-प्रभसूरि' को लिखा था। इसमें तीन अधिकार हैं। प्रथम अधिकार प्राप्त नहीं है और तृतीय अधिकार भी अपूर्ण रूप में प्राप्त है। यह लेख चित्रबन्ध काव्य श्रेणी का है। सिंहासन, श्रीवत्स, मत्स्ययुगल, स्वस्तिक, बीजपूरक, नन्द्यावर्त, भद्रासन, शरावसम्पुट, दर्पण, गोमूत्रिका, कमल, नागसंगम, मालती, सूर्यमुखी, पुष्प, चतुर्दल देवकुसुम, आदि चित्र एवं प्रश्नोत्तर जाति श्लिष्ट काव्यों से यह लेख गुम्फित है। द्वितीय अधिकार में ४७ पद्य हैं और तृतीय अधिकार के ९ पद्य प्राप्त हैं।

आदि—**यत्र चित्रमरचित्रिचैत्य-वेणिरुन्नततरा मनुजानाम्।**
नृत्यनुज्जवुषमजुमृदंगनिस्वनैर्धनमिहाह्वयतीव।

अन्त—**शिवांगजो लब्धरजोगवासि, शुमाशयः शस्तशयः समासु।**
बभार शान्तः श्रुतसारभारं सदानभासन्नसमा नदासः ॥९॥

इसकी अप्रकाशित प्रति नाहटा ग्रन्थालय बीकानेर में उपलब्ध है।

विज्ञप्तिपत्र :

मेघविजय ने नाडुलाई से यह पत्र वर्गवटी (बगड़ी) नगर में विराजमान गणाधिप 'श्री विजयप्रभसूरि' को लिखा था। पद्य संख्या १०१ है। प्रारम्भ में पद्य १ से २२ तक आदिनाथ तीर्थंकर के वर्णन से युक्त हैं। २३ से ४७ तक बगड़ी का वर्णन है, तथा ४८ से ७९ तक नाडुलाई का चातुर्मासिक धार्मिक कृत्यों का समाचार है, और अन्त में १ से २२ तक गच्छाधिप 'विजयप्रभ सूरि' का वर्णन है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है—

स्वस्तिश्रियाभाश्रयणीयमूर्तिः सुरद्रवन्निर्मितकामपूर्तिः ।
स्फूर्तिर्यदीया महसस्त्रिलोक्यां, सर्वाऽपि निर्वापितशत्रुकीर्तिः ॥२॥

× × ×

तत्रामिरामप्रभुपादरेणोः पावित्र्यतः पंचवटीकृतायाम् ।
स्फुटीभवेद् देवनटीस्तुतायां, पुर्यां परं वर्गवटीतिनाम्न्याम् ।
करोति विज्ञप्तिमिमामार्य मेघादिशब्दाद् विजयस्त्रिसायम् ॥५८॥
येषामिदं विजयते वरपाणिपद्म-माहात्म्यमीहितसमृद्धिकरं जनानाम् ।
तैर्विश्वपूज्यवरणैरवधारणीया, स्वीयानुप्रणमन प्रकृतिस्त्रिसायम् ॥१०१॥[75]

विज्ञप्तिपत्र :

'मेघविजयगणि' ने यह पत्र उदयपुर से रामपुर में विराजमान 'श्री विजयप्रभसूरि' को लिखा है। इसमें पद्य संख्या १६, ३८ और ३६ है, अर्थात् कुल ९० पद्य हैं। इसमें रामपुर का वर्णन है। उदयपुर का वर्णन समाचार एवं आचार्य प्रभसूरि (विजय) के कीर्ति सौरभ का वर्णन है। अंतिम अंश अपूर्ण है। इसकी एकमात्र प्राप्ति रा० प्रा० शाखा कार्यालय बीकानेर, मोतीचन्द खजांची संग्रह 'श' २८४ पर है, जिसकी पत्र संख्या ४ ६ है और लेखन १८वीं शती का है।[76]

विज्ञप्तिपत्र :

यह पत्र कवि ने उज्जैन से मेदिनीपुर (मेड़ता) में स्थित आचार्यश्री को लिखा था। यह पत्र अपूर्ण है, पद्यसंख्या ३१, ३२ और ४ कुल ६७ है। यह हरिणी और वसन्त तिलका छन्दों में गुम्फित है। इसकी एकमात्र प्रति रा० पा० वि० प्र० शाखा कार्यालय बीकानेर, खजांची सं० 'श' २८४ पर है जिसकी पत्र संख्या ४-६ है और लेखन १८वीं शती है।[77]

विज्ञप्ति-पत्र

इस पत्र के अपूर्ण होने से यह अस्पस्ट है कि कवि ने इस पत्र को कहां से किसके लिए लिखा था ? 'तपगणभृतः पंचशाखस्यपाणेः' से अनुमान कर सकते हैं कि विजयसिंहसूरि को यह पत्र लिखा होगा। पद्य संख्या २८ और २९ है। इसमें पर्यूषण के धार्मिक कृत्यों के समाचार हैं। इसकी भी एकमात्र प्रति रा० प्रा० वि० प्र० शाखा कार्यालय बीकानेर, खजांची संग्रह 'श' २८४ पर है। पत्र संख्या-७-९ है।[78]

इन विज्ञप्ति पत्रों के अतिरिक्त ग्रन्थकार द्वारा लिखित गुर्जर भाषा का भी एक पत्र विद्यमान है और वह पत्र ग्रन्थकार ने सं० १७६० भाद्र शुक्ला प्रतिपदा को ग्वालियर से अपने शिष्य मुनि सुन्दरविजय के लिए जो जिहानाबाद (दिल्ली) नगर में चातुर्मास कर रहे थे, उन्हें लिखा था। पत्र गद्य में लिखा गया है।

टीका-ग्रंथ

विजयदेवमाहात्म्यविवरण :

श्री ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य खरतरगच्छीय श्री बल्लभोपाध्याय ने संवत् १६८७ के आस-पास तपागच्छीय 'विजयदेवसूरि' के यशोवर्णन से संबंधित विजयदेवमाहात्म्य नामक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की थी। इसके संबंध में 'जिनविजय' मुनि ने कहा है कि —"यह विजयदेव माहात्म्य" १७वीं शताब्दी के जैन धर्म के इतिहास की दृष्टि से एक बहुत ही महत्त्व का ग्रन्थ है। जैन आचार्यों में 'विजयदेवसूरि' को अन्तिम प्रभावशाली आचार्य गिन सकते हैं। इनके समय में जैन मुनि समुदाय और श्रावक समुदाय में बहुत घटनायें घटीं और क्रान्तियां हुयीं। धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति के अवलोकन की दृष्टि से इन घटनाओं का इतिहास बहुत ही रोचक और सूचक है।[80] ऐसे महत्त्वपूर्ण आचार्य के चरित से युक्त इस 'विजयदेव माहात्म्य' ग्रन्थ पर यह विवरण नाम्नी टीका विचक्षण कवि मेघविजय ने की, जिसके फलस्वरूप कठिन-कठिन शब्दों के अर्थ स्फुट किये गये। इसमें कवि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह कवि का आद्य प्रयास ग्रंथ है। इस ग्रंथ के लेखन समय का उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु इसकी प्रतिलिपि सोमगणि ने विक्रम सम्वत् १७०९ में की थी,[81] अतएव इस टीका ग्रंथ की इससे पहले रचना हो गयी थी, यह निश्चित है।

वृत्तमौक्तिकदुर्गमबोध:

यह भट्ट चन्द्रशेखर विरचित 'वृत्तमौक्तिक' नामक छन्द ग्रन्थ के प्रथम गाथा प्रकरण के पद्य ५१ से ८६ तक के ३६ पद्यों की टीका के रूप में लिखा गया है। इसमें प्रस्तर जैसे दुर्गम विषय को सरल और सुबोध बनाया गया है। यह टीका ग्रन्थ कवि ने अपने शिष्य भानुविजय के ज्ञान के लिए लिखा था।[82] इसका रचना समय वि० सं० १७५५ है। यह ग्रंन्थ छात्रों के लिए अत्युपयोगी है।

भक्तामर टीका :

मानतुंगाचार्य प्रणीत भक्तामर पर उन्होंने टीका लिखी थी। ऐसा उल्लेख मात्र प्राप्त होता है,[83] किन्तु यह उपलब्ध नहीं हुई है।

व्याकरण

चन्द्रप्रभा :

मेघविजयगणि ने आचार्य हैमचन्द्र सूरि विरचित "सिद्धहैमशब्दानुशासन" के सूत्रों पर भट्टोजिदीक्षित द्वारा प्रणीत सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार अपने शिष्य भानुविजय के बोध के लिए प्रक्रिया क्रम से 'चन्द्रप्रभा' अपरनाम 'हैमकौमुदी' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १७५७ में आगरा नाम के महानगर में की थी।[84] इस महाग्रन्थ का श्लोक परिमाण आठ सहस्र के लगभग है।[85] ग्रन्थ प्रशस्ति में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि इस महाग्रन्थ का संशोधन दीपमालिका के दिन विचक्षण प्रतिभा सम्पन्न सौभाग्यविजय एवं मेरुविजय ने किया था।[86] इसी ग्रंथ की पुष्पिका में चन्द्रप्रभा को वृहत् प्रक्रिया भी कहा गया है। ग्रंथकार ने व्याकरण ज्ञान के लिए सरल प्रक्रिया के रूप में इस ग्रंथ की रचना की है।

वह ग्रंथ प्रथमावृत्ति और द्वितीयावृत्ति इन दो विभागों में विभक्त है। इसमें प्रायः 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' के सूत्रों के आधार पर सिन्द्धान्तकौमुदी के प्रयोगों की सिद्धि की गयी है किन्तु 'कीः 'किरौ' इत्यादि रूपों की साधनिका में 'टादौ स्वरे वा' पाणिनीय व्याकरण का आधार लिया गया है।[87] सिद्धहैमशब्दानुसन का नहीं, यह एक दोष है। ग्रंथ व्याकरण अध्ययन के लिए अत्युपयोगी है।

हैमशब्दचंद्रिका :

यह ग्रन्थ लघुसिद्धान्त कौमुदी के सादृश्य रूप में लिखा गया है। उपाध्यायजी ने स्वयं इसकी टीका भी लिखी है। विद्यार्थियों के प्राथमिक बोध के लिए 'सिद्ध 'हैमशब्दानुशासन' के आधार पर विजयप्रभसूरि के शासन काल में मात्र ६०० श्लोक प्रमाण यह ग्रंथ निर्मित हुआ है।[88] ग्रंथकार ने रचना तिथि का उल्लेख नहीं किया किन्तु विजयप्रभसूरि के नाम का उल्लेख होने से इसका रचना समय वि० सं० १७१० से १७३२ के मध्य माना जा सकता है।

हैमशब्दप्रक्रिया :

आचार्य हेमचन्द्र विरचित "सिद्धहैमशब्दानुशासन' के आधार पर ग्रन्थकार ने विद्यार्थियों के सरलतया व्याकरण प्रवेश करने के लिए वि० सं० १७५७ के आसपास इस छोटे से ग्रंथ का निर्माण किया था। यह भी प्रक्रिया ग्रन्थ है। यह मध्यम प्रक्रिया के रूप में मात्र ३५०० श्लोकों में लिखा गया है।[89] इसकी हस्त-लिखित प्रति भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में है।[90]

दर्शन

मणिपरीक्षा :

यह न्याय ग्रंथ सुप्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय विरचित 'चिन्तामणि' ग्रंथ की आलोचना के रूप में लिखा गया है। इसमें मणि के समान परीक्षण किया गया है।[91] इसकी रचना अपने प्रिय शिष्य भानुविजय के न्याय विषयक अध्ययन के लिए ग्रंथकार ने की थी।[92]

इस ग्रंथ में रचना समय का उल्लेख नहीं है, किन्तु विजयप्रभसूरि[93] के शासन काल में इसकी रचना हुई थी, ऐसा ग्रंथकार का संकेत है। अतएव इसकी रचना वि० सं० १७५० के पूर्व ही हो चुकी होगी। इसकी एकमात्र आठ पृष्ठ की प्रति भुवन-भक्ति भण्डार, बीकानेर में विद्यमान है।[94] ग्रंथ का प्रारम्भ इस प्रकार है—

तर्कशिन्तामणो कार्यः स्मृत्वा स्याद्वादिनं जिनम्।
विशिष्यशिष्यबोधाय धार्यश्चात्रोपदिश्यते ॥
तत्राप्यादौ अनुमान परिच्छेद्य व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञानमनुमितिः।
तत्करणमनुमानमिति प्रथमतो लक्षणं तस्यार्थः।[95]

युक्तिप्रबोध नाटक :

यह नाटक क्या एक शास्त्रीय आलोचना का ग्रंथ है। इसमें दिगम्बर सम्प्रदायानुयायी सत्तरहवीं शताब्दी के विद्वान् बनारसीदास के वाराणसीय[96] मत का तथा दिगम्बर सिद्धान्तों का खण्डन करने का प्रयत्न किया है, जो सर्वथा असमीचीन है।

इसकी रचना उपाध्याय जी ने साधु 'कल्याणविजय' के ज्ञान के लिए की थी।[97] इसकी रचना 'विजयरत्नसूरि'[93] के समय में होने से इसका सम्बत् १७४० के पश्चात् रचा जाना निश्चित है। मूलग्रन्थ मात्र २५ प्राकृत गाथाओं में हैं और कवि ने संस्कृत टीका के आधार पर इस ग्रन्थ का परिमाण ४३०० श्लोकों का बना दिया है।[99]

इस ग्रन्थरत्न में निम्न विषयों का प्रतिपादन किया गया है—ग्रन्थ-प्रयोजन, वाणारसीयस्यमतोत्पत्ते (द्रव्यादिभिः) हेतवः, वाणारसीयदासस्य स्थानादिमतोत्पादेः (बाह्यकारणम्), व्यवहारोत्थापनम्, रूपचंद्रादिभिः संगमः व्यवहारस्थापना, पिच्छकादेरसाधनता। पुराणानां प्रामाण्यमप्रामाण्ये, समयसारनाटकोत्पत्तिः अन्य ग्रन्थ रचना हेतुः, व्यवहारोत्थापनं, गुरुतत्वापलापः गुरुतत्वस्थापना (उपधः स्थापना) भट्टारकानामपूज्यत्वम्। वाणारसीयोत्पादस्थानादि, परिधानिकासिद्धिः, स्त्रीमुक्तिसिद्धिः, केवलिकवलाहारसिद्धिः, अन्य गृहिलिंगयोः सिद्धिः, श्वेताम्बरदिगम्बरान्तरं (८६ जल्पानां समाधानम्) हेतुकालपुरुषादि-प्रशस्तिः।

उक्त सभी विषय जैन दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित है, जिनका ग्रन्थकार ने सुस्पष्ट और सविस्तृत विवेचन किया है।

धर्ममंजूषा :

यह ग्रंथ भी शास्त्रीय आलोचना से सम्बन्धित है। क्योंकि इसमें ढूढिये (जैनों का स्थानकवासी सम्प्रदाय) का खण्डन और जिन प्रतिमा का मण्डन जैन आगमों एवं युक्ति के आधार पर किया गया है। इसकी रचना मेघविजय ने उपाध्याय पद की प्राप्त करने के अनन्तर मेड़ता (मेदनीपुर) में की थी।[100] यह ग्रन्थ अप्रकाशित है, इसकी प्रति वृहद्ज्ञान भाण्डार, बीकानेर में सम्प्रति उपलब्ध है।[101]

ज्योतिष

वर्षप्रबोध :

ज्योतिष शास्त्रीय ग्रन्थों में 'वर्ष प्रबोध' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है, किन्तु इसमें अनेक अवतरण प्राकृत ग्रन्थों के भी हैं। इस ग्रन्थ का अपर नाम मेघमहोदय भी है। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध स्वयं ग्रन्थकार ने स्थानांग के साथ बताया है।[102] यह ग्रन्थ प्राचीन, अर्वाचीन ग्रन्थ तथा मड्डली आदि अनेक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।[103] इसमें कहीं-कहीं गुजराती पद्यों का भी समावेश है। अनेक अनुपलब्ध ग्रन्थों के उद्धरण भी इसमें मिलते हैं, जिनमें जैन ज्योतिष के अनुपलब्ध प्राकृत ग्रन्थ 'भद्रबाहु संहिता' के उद्धरण महत्त्वपूर्ण हैं।

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की रचना समय का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु विजयरत्नसूरि[104] का नाम उल्लिखित होने से यह निश्चय है कि उन्हीं के शासन काल में इसकी रचना हुई थी। विजयरत्नसूरि ने वि० सं० १७३२ में आचार्य पद ग्रहण किया था। अतएव वि० सं० १७३२ के बाद ही इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। अनुमानतः इसका रचना समय विक्रम संवत् १७५० के लगभग स्वीकार किया जा सकता है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तेरह अधिकारों में विभक्त है। इनमें क्रमशः निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है—(१) उत्पाद, (२)कर्पूरचक्र, (३) पद्मिनी चक्र, (४) मण्डलप्रकरण, (५) सूर्य चन्द्र ग्रहण के फल तथा प्रतिमास के वायु का विचार, (६) वर्षा बरसाने और बन्द करने के यन्त्र मन्त्रों का वर्णन, (७) साठ सम्वत्सरों का फल, (८) राशियों के उदय और अस्त के चक्री का फल, (९) आयन, मास पक्ष और दिन का विचार, (१०) संक्रान्ति फल, (११) वर्ष के राजा मन्त्री आदि, (१२) वर्षा का गर्भ, (१३) विश्व आय-व्यय, सर्वतोभद्र और वर्षा बताने वाले शकुन आदि।

इसमें आगामी वर्ष के शुभाशुभ फल जानने के लिए कोई भी विषय नहीं छोड़ा गया है। यह ग्रन्थ जनसाधारण के लिए अत्युपयोगी सिद्ध है।

प्रश्नसुन्दरी :

ग्रन्थकार ने वि० सं० १७५५ में इस ग्रन्थ की रचना की है। इसमें प्रश्न निकालने की पद्धति का वर्णन किया गया है।[105] दिग्विजय महाकाव्य में उद्धृत इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ही ग्रन्थ का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।[106]

उदयदीपिका :

इस ग्रन्थ की रचना ग्रन्थकार ने श्रावक मदनसिंह के ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए की थी।[107] इसमें प्रश्न और उत्तर दोनों उल्लिखित हैं। इसकी रचना वि०सं० १७५२ में हुई थी।[108] अन्त में ग्रन्थकार ने अपना नाम भी दिया है।[109] इसकी हस्तलिखित प्रति पूना रिसर्च इन्स्टीट्यूट में विद्यमान है।[110]

जन्मपत्रीय पद्धति :

इसको विनयसागर ने मेघविजय की रचना स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि—मुनि जिनविजय जी की सूचना अनुसार इसकी एक प्रति मुनि कान्ति-सागर के पास है तथा मेघी पद्धति की एक प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर में भी है। इस प्रति में कर्ता का नाम उल्लिखित नहीं है।[111] इसका अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

रमलशास्त्र :

मेघविजयगणि ने अपने शिष्य मुनि मेरुविजय के लिए पांसों के चिह्नों पर प्रश्न के उत्तर बताने के रूप में वि० सं० १७३५ में इस ग्रन्थ की रचना की थी।[112] यह पाशक विद्या से सम्बन्धित ग्रन्थ है। पांसों के फेंकने पर उसके ऊपर बने बिन्दुओं की जैसी स्थिति होती है, उसी के अनुसार प्रश्नों के उत्तर निकालते हैं।

हस्तसंजीवन :

हस्तसंजीवन का दूसरा नाम सिद्धज्ञान भी है। यह सामुद्रिक शास्त्र का ग्रन्थ है।[113] इसको रेखाशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें रेखाओं के ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७३५ में हुई थी। सम्पूर्ण ग्रन्थ अनुष्टुप्छन्द में लिखा गया है।[114] इसमें ५१९ पद्य हैं। यह ४ अधिकारों में विभक्त है—(१) दर्शनाधिकार (२) स्पर्शनाधिकार, (३) रेखा-विमर्शनाधिकार (४) विशेषाधिकार।

ग्रन्थकार ने स्वयं ही इसके ऊपर ३८०० श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। टीका का नाम सामुद्रिक लहरी है। रेखाशास्त्र नामक वृत्ति भी कहा जाता है।

जैन ज्योतिषशास्त्रों में हस्तसंजीवन अद्भुत ग्रन्थ माना जाता है। यह हस्त-रेखा विषयक सम्पूर्ण ज्ञान को सिखाता है। ग्रन्थकार ने उपसंहार में इसे नित्या-भ्यास से प्राप्त करने योग्य बताया है, जो यथार्थ जान पड़ता है।[115]

वीशायन्त्रविधि (अर्जुनपताका) :

यह ग्रन्थ चमत्कारिक यन्त्रों की सिद्धि के रूप में लिखा गया है। इसमें पद्मावती काव्य के विवरण के अनुसार वीशायन्त्र की विधि वर्णित है। अर्जुन पताका और विजय यन्त्र की विधि भी इसमें बतलायी गयी है।

यह महाचमत्कारिक वीशायन्त्र कवि के लिए पद्मावती देवी की उपासना से प्राप्त हुआ था।[116] अर्थात् पद्मावती के द्वारा ही कहा गया है।

अर्जुनपताका, विजयपताका और भूविश्वेत्यादि को पृथक्-पृथक् नामों से अभिहित किया जाता है। किन्तु इस ग्रन्थ के आद्यन्त का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि उक्त नाम एक ही चमत्कारिक ग्रन्थ के नाम हैं।[117] इसके पद्यों में यन्त्रों का वर्णन है। फिर रेखांकित यन्त्र बने हुए हैं, जिसकी साधना से सम्पूर्ण अभीष्ट फलों की प्राप्ति और आपत्तियों का निवारण हो जाता है।

आध्यात्म

अर्हद्गीता :

यह ग्रन्थ जगत् प्रसिद्ध भगद्गीता के सदृश लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इसके द्वारा जैन साहित्य में गीता सदृश ग्रन्थ की पूर्ति की है। इसका अपर नाम तत्व-गीता है।[118] एस० के० कोटेचा ने लिखा है कि इसकी तीन लिखित प्रतियां प्राप्त हुई हैं।[119] उनमें पृथक्-पृथक् नामों का उल्लेख है—

(१) टीका भाष्य सहित जिसमें अर्हद्गीता नाम है।

(२) मूल कारी जिसमें भगवद्गीता ऐसा नाम लिखा है।

(३) जिसमें तत्त्वगीता ऐसा नाम लिखा है।

इस ग्रन्थरत्न में ३६ अध्याय हैं। जिस प्रकार गीता में अर्जुन के प्रश्न और श्रीकृष्ण के उत्तर हैं, उसी प्रकार इसमें गौतमगणधर प्रश्न करते हैं, भगवान् उनका उत्तर देते हैं। यथा—

गौतम उवाच—

देवाधिदेव भगवन् लोकालोक प्रकाशकः।
योगिनोऽपि मनोवश्यं जायते यद्ववदाधुना।"

श्रीभगवान उवाच—

प्राप्तेऽपि नृभवे यत्न । कार्यः प्राणभृता तथा ।
परमेष्ठिपदं येन लभ्यतेऽत्रापुनर्भवं ।।३।। इत्यादि ।

इसके ३६ अध्यायों में ज्ञानसाधन तथा क्रिया साधन ऐसे आध्यात्मिक विषयों की चर्चा है। चर्चा में समय प्रसंगोचित भिन्न-भिन्न दर्शनों का समन्वय और अधिकतर वेदान्तदर्शन का समन्वय तथा 'ऊँ नमः सिद्धम्' इस युक्ति की नाना रूप से उद्‌बोधना की गयी है। इससे आगे बढ़कर ज्योतिष, सामुद्रिक तिथि विचार, आयुर्वेदिक विचार और नयों का निरूपण आदि विषयों की चर्चा की गयी है।

अर्हद्‌गीता का ऋषि गौतम है, छन्द अनुष्टुप् है। देवसर्वज्ञ जिन परमात्मा हैं, 'प्राप्तेऽपिनृभवेयत्नः कार्यः' इत्यादि इस गीता का कीलक है। इसमें वैदिक मन्त्रों की भांति वषट्, स्वधा, स्वाहा आदि मन्त्राक्षरों का प्रयोग किया गया है।

स्वयं ग्रन्थकार इसके विषय में कहते हैं कि—

श्री विरेण विबोधिता भगवता श्रीगौतमाय स्वयं,
सूत्रे व ग्रथितेन्द्रभूतिमुनिना सा द्वादशाभ्यां परां ।
अर्हद्‌गीताः मृतवर्षिणी भगवती षट्त्रिंशदध्यायिनी,
मातस्त्वां मनसा दधामि भगवद्‌गीते । भवेद्वेषणीम् ।।

—अर्हद्‌गीता, अध्याय १, पृ० ३।

इसके ३६ अध्याय में से १-१३ सामान्य, १५-१६ तक के ब्रह्मकाण्ड, और १७-३६ तक कर्मकाण्ड नाम से अभिहित किये गये हैं। इसमें ग्रन्थकार ने जैन दर्शन के सिद्धान्तों के साथ अद्‌भुत समन्वय दिखाया है—

जैना अपि द्रव्यमेकं प्रपन्ना जगतीतले ।
धर्मोऽधर्मोऽस्ति कायश्च तथैक्यं ब्रह्मणं मतम् ।।[120]

सापेक्षरूप से विचार करते हुए जैन सम्मत द्रव्यवाद और वेदान्त सम्मत ब्रह्मवाद दोनों एक समान ही हैं। इतना कहकर वे वेदान्त और जैन दर्शन का पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करते हैं। वे अन्योन्य के सृजनात्मक और निषेधात्मक विवाद नहीं करते, लेकिन उन दोनों की सम्मति दर्शाते हैं।

इसके १६।११-१२ में—"आत्मा वा अहो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।" इस उक्ति का विवेचन जैन दृष्टि से करते समय श्रवण, मनन और निदिध्यासन किसे कहते है, इसके सम्बन्ध में उनका अद्‌भुत विवेचन है—

श्रोतव्यश्चापि मन्तव्यः साक्षात्कार्यश्च भावनैः।
जीवोमायाविनर्मुक्तः स एव परमेश्वरः ।।११।।
श्रोतव्योऽध्ययनैरेव मन्तव्योभावनादिना।
निदिध्यासनमस्यैव साक्षात्काराय जायते ।।१२।।

अर्हद्गीता के कर्मकाण्ड रूप २७/१५ में ग्रन्थकार ने 'जिन' और 'शिव' दोनों की एक-रूपता का समर्थन किया है—

एवं जिनः शिवो नान्यो नास्ति तुल्येऽत्र मात्रया ।
स्थानादियोगाज्जशयोर्नवयोश्चैक्य भावात् ।।१५।।

जिन का 'ज' और इ' तथा शिव का 'श' और 'इ' दोनों तालव्य स्थानवर्ती हैं तथा जिन के 'न' और 'शिव' के 'व' दोनों का दन्त्य स्थान है, अतएव दोनों समानार्थी हैं और शब्द दृष्टि से भी दोनों समान हैं। जिन और शिव में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं की जा सकती है।

इस प्रकार इस ग्रन्थरत्न का महत्व गीता के समान ही है। यह जन साधारण के उपयोग का है। इसमें अध्यात्म सम्बन्धी विषय विवेचन समझने योग्य है।

ब्रह्मबोध :

कुछ विद्वानों ने इसे मेघविजय की रचना कहा है।[121] सम्भवतः अर्हद्गीता की पूर्वपीठिका में ब्रह्म का निरूपण होने से ब्रह्मबोध रचना की संभावना की जाती है, किन्तु यह ग्रन्थ आद्यन्त अप्राप्य है।

मातृकाप्रसाद :

यह भी आध्यात्म से सम्बन्धित ग्रन्थ है। इसमें 'ओं नमः सिद्धम्' मन्त्र के वर्णाम्नाय पर विवरण दिया गया है। साथ ही साथ 'ओं' शब्द के रहस्य का भी उद्घाटन किया गया है। इसकी रचना वि० सं० १७४७ में धर्मनगर में की गयी थी।[122]

ऐतिहासिक

तपागच्छपट्टावलीसूत्रवृत्त्यनुसन्धान :[123]

इसकी रचना हीरविजयसूरि तक के ऐतिहासिक वृतान्त को लेकर की गयी है। इसमें मूल ४ पद्य प्राकृत भाषा में हैं और उसकी व्याख्या संस्कृत पद्यों में की

गयी है। आचार्य विजयसेनसूरि, विजयदेवसूरि, विजयसिंहसूरि, विजयप्रभसूरि का सं० १६३२ से १७२३ तक का अनुक्रम से ऐतिहासिक विवरण है।

स्तोत्र एवं फुटकर रचनाएं

श्रीरावणपार्श्वनाथ स्तोत्र :[124]

इसका दूसरा नाम श्री रावणपार्श्वनाथाष्टक भी है, इसमें शार्दूलविक्रीडित छन्द में मात्र ९ पद्य हैं, जिनमें अन्तिम पद्य में ग्रन्थकार ने स्वयं के कल्याण की आकांक्षा की है। अर्थात् मुझे कल्याण प्राप्त हो, ऐसी प्रभु से प्रार्थना की है। प्रथम पद्य इस प्रकार है—

श्रीपार्श्वः प्रकटः प्रभाकर इव प्राज्यप्रभावैभवा—
तेजोऽनन्ततया जगत्त्रयमपि प्रोद्भासयन्नंजसा।
श्रीमद्रावणनामतीर्थ विषयेख्यातस्तमोनाशकः।
स्तुत्यावदर्शननिर्मलश्रियमयं पुष्णातु मे नित्यशः॥

पञ्चतीर्थस्तुति : (सटीक)

इसमें ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर पांच तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। ग्रन्थकार ने उक्त पांच तीर्थंकरों का लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में विस्तृत विवरण और सप्तसन्धान में विशेष वर्णनकिया है।[125]

चतुर्विंशतिजिनस्तव :

इसमें कवि ने एक-एक पद्य के द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की क्रमशः स्तुति की है। रचना यमकालंकार प्रधान है। इसका आद्यन्त निम्नलिखित है—

आदि—

देवाधिदेवाधिकभाग्यलक्ष्मीः, नाभेयनाभेयरुचस्तनोस्ते।
भावेन भावे न विभाव्येत, केनाधिकेनाधि जगत् सतानो॥१॥

अन्त—

एवं श्रीजिननायकाः स्तुतिपथं नीताश्चतुर्विंशतिः।
श्री नाभेयमुखाः सुखाय सुमुखा देवार्यदेवान्तिमाः।

सूरि श्रीविजयप्रभप्रभुपदप्राप्तोदये सन्त्वमी ।
मेघाख्ये सकृपाः कृपादिविजय प्राज्ञे शिष्ये मयि ॥२८॥[126]

उक्त विवरण विनयसागर के लेख से उद्धृत-किया गया है ।

आदि जिनस्तोत्र :

यह स्तोत्र अपूर्ण रूप में ही राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर ग्र० नं० २०४१५ में प्राप्त है । आद्यन्त निम्नलिखित है—

स्वस्तिश्रियाभंप्रतिरूपरूपः सर्वे पिदेवासुरमर्त्यभूपाः ।
तासां विवाहस्थितिहेतवेयं प्रादुश्चकाराऽऽदिजिनंविधाता ।
नयं किमेनं हृदये निधाय मदोद्धरं दुर्द्धरतेजसंतम् ।
आद्यः प्रभुर्वाहुबलि निनाय पदंपदंस्वेन सभंसमंगलम् ॥[127]

देवप्रभोस्तवनावचूरि :

जयानन्दसूरि रचित स्तोत्र पर यह अवचूरि है । इसकी रचना सं० १७२४ में हुई है । इसकी प्रति वड़वाण के ज्ञानभण्डार में प्राप्त है ।[128]

शब्दचन्द्रिका :

प्रस्तुत ग्रन्थ अनुपलब्ध था, इसकी खोज पं० अगरचन्द नाहटा ने की है, क्योंकि इनके पूर्व की सामग्री में इसका उल्लेख नहीं आया है । और न किसी भी ग्रन्थ की भूमिका आदि में भी उल्लेख मिलता है । अतएव पं० अगरचन्द नाहटा द्वारा वर्णित इसके विवेचन से संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकाश हैं और २४ पत्र की प्रति नाहटा ग्रन्थालय में विद्यमान है । प्रति सं १७६१ की लिखी हुई है । पुस्तक रचना समय उल्लिखत नहीं है, किन्तु इसकी रचना सं १७६१ से पूर्व की निश्चित है ।

प्रथम प्रकाश का आदि : ऊँ शंखेश्वर,पार्श्वा, ह्रीं नत्वा बालाय अर्ह-पदं सदाध्येयं कल्याणैक श्रिये सता (सदा)

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख इत्यादि ।

अन्त में—

श्रीमेघविजयप्रभसूरेः प्रेष्यः शिष्यः कृपादिविजयकवैः ।
श्रीमेघविजयवाचकवरोऽभ्याधाच्चन्द्रिकास्यादां ॥
इति शब्द चन्द्रिकायां प्रथमप्रकाशः ।[129]

गुर्जर (गुजराती) भाषा की रचनाएं

कुमतिनिराकरण हुण्डीस्तवन :
श्री मोहनलाल द० देशाई लिखित जैन गुर्जर कवि भाग ३ के अनुसार इसकी प्रति महोपाध्याय रामलाल जी संग्रहालय, बीकानेर में है।[130]

पार्श्वनाममाला स्तवन :

कवि ने दीववन्दर में इसकी रचना की थी। इसकी पद्य संख्या ३५ है। सं० १७२१ में इसकी रचना हुई थी, क्योंकि सं० १७२१ की लिखित प्रति से प्राचीन तीर्थमाला भाग १ में इसे प्रकाशित किया गया है।[131]

विजयदेवनिर्वाणस्वाध्याय :

इसमें कवि ने विजयदेवसूरि का संक्षिप्त चरित एवं प्रभाव आदि का उल्लेख करते हुए सं० १७१२ अषाढ़ शुक्ला १०वीं को निर्वाण का विस्तार से आलेखन किया है। इसमें ४ ढाले हैं। दोहों सहित कुल ५२ गाथाएं हैं।[132]

विजयरत्नसूरिस्वाध्याय :

इसमें वि० सं० १७३२ में आचार्य पद को ग्रहण करने वाले गणनायक विजय-रत्नसूरि के गुणों का आख्यान किया गया है। मात्र २१ गाथाओं में इस स्वाध्याय सज्झा की रचना हुई है।[133]

कृपाविजयनिर्वाणरास :

सम्भवतः इस गुर्जररास ग्रन्थ में कवि ने अपने गुरुकृपाविजय के जीवन दर्शन का दिग्दर्शन किया होगा।[134]

मक्सीपार्श्वनाथस्तवन :

इसमें पांच गाथाएं हैं। इसकी प्रति महोपाध्याय विनयसागर के ग्रन्थालय में है।[135]

कुछ गुर्जर कृतियों का उल्लेख पं० बेचरदास जी ने देवानन्दमहाकाव्य की भूमिका में किया है। वे कृतियां निम्नलिखित हैं—

जैनशासनस्वाध्याय, जैनधर्मदीपकस्वाध्याय, आहारगवेषणास्वाध्याय, चौबीसजिनस्तवन, दशमस्तवन आदि।

संदर्भ-सूत्र :

१. देवानन्द महाकाव्य, ७/८५ (प्रशस्ति) ।

२. 'गोपालगिरिदुर्गेऽस्य लेखनं लेखनन्दनम् । वाचकैर्मेघविजयैः
कृतं सुकृतहेतवे ।।' वही, अन्तिम प्रशस्ति ३ ।

३. 'स्वस्ति श्रीमद्भुवनदिनकृद्वीरतीर्थाभिनेतुः,
प्राप्यादेशं तपगणपतेर्मेघनामा विनेयः ।
ज्येष्ठस्थित्यां पुरमनुसरन् नव्यरंगं ससर्ज,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ।।
—मैघदूतसमस्यालेख, प्रथम पद्य ।

४. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभासम्पन्न कवि मेघविजय, लेख—विनयसागर, मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७७ ।

५. 'ओं नमः सिद्धमित्यादेर्वर्णाम्नायस्य वर्णनम् ।
चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ।।
संवत्सरेऽश्ववार्ध्यश्वभूमिते पौष उज्ज्वले ।
श्रीधर्मनगरे ग्रन्थःपूर्णश्रियमशिश्रियत् ।।
—मातृकाप्रसादप्रशस्ति ।

६. 'चातुर्मास्यामस्यां नाम्ना श्री आगरावराऽऽख्यायाम् ।
नानायोगैरुचितैरचिता चन्द्रप्रभा सुधिया ।।'
—चन्द्रप्रभाप्रशस्ति ।

७. 'श्रीमेघपूर्वविजयाह्ववाचकोऽसौ । श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृशा प्रत्ययौ ।'
—धर्ममंजूषाप्रशस्ति ।

८. 'स गूर्जरत्रा इति नीवृतां वरश्चकास्ति तस्मिंस्त्रिदिवसं सचित्रयन् ।
सदोडुनेत्रैरदसीयभासनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ।।'
—देवानन्द १/११

९. 'इहास्ति शंखेश्वरतीर्थमद्भुतं, सनायकं पार्श्वजिनाभिभूभुजा ।
भुजंगमानां यमुपप्लवे भजन्, नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ।।'
—देवानन्द, १/१९

१०. राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विलक्षण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजयगणि, लेख—विनयसागर, मरुधरकेसरी अभिनन्द ग्रन्थ, पृ० ३७२ ।

११. वही ।
१२. वही ।
१३. वियद्रसमुनीन्दूनां (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे ।
कृतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्याप्रतिष्ठितः ।
—सप्तसन्धान प्रशस्ति/३
१४. राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विलक्षण प्रतिभासम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजयगणि, लेख—विनयसागर, मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३७३ ।
१५. पं० अगरचन्द नाहटा द्वारा लिखित 'मेघविजय और उनके ग्रन्थ' लेख ।
—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।
१६. पशुहत्यानिषेधक राजाज्ञा ।
१७. 'सामिष निरामिष आहार' लेख—सुखलाल संघवी ।' जैनधर्म और दर्शन में प्रकाशित ।
१८ श्रीमत्तपागणपतिय तिमार्ग धीरः श्रीहीरविजयो जयवान् बभूव ।
यः प्रत्यूबूभवुदकब्बरराजराज्यं, वाक्यैः सुधात्तिमधुरैर्यवनाधिराजम् ।१३।
श्रीवाचकः कनकतोविजयावबभूवु, विद्यानवद्ययशसोवितद्विनेयः ।
तेषां सुशीलविजयाः कवयो विनेयाः शिष्यौवभूवतुरतुल्यगतीतदीयाँ ।१४।
आद्यः श्री कमलाद्भिश्च विजयस्तस्मानुजन्माबुधः,
श्रीसिद्धेर्विजयोऽत्रतो ममगुरोर्दीक्षानुशिक्षागुरु ।
श्रीसन्मानकनाम्नि धाम्निमहसो द्रंगे विजित्यक्षणा-
ल्लुप्पाकेन्द्रगणान् जयश्रियम् सम्प्राप्तुविश्रुताम् ।१५।
यः षट्तर्क वितर्ककर्कशमतिः साहित्य सिद्धान्तवित्,
प्राणम्रक्षितिपः कृपादिविजयः प्राज्ञोविनेयस्तयोः ।
तत्पादाम्बुजभृंगमेघविजयो,पाध्यायलब्धात्मना,
ग्रन्थोमेरुमहीधरावधिरयं सिद्धिश्रियैनन्दतात् ।१६।
—युक्तिप्रत्रोधनाटक, प्रशस्ति ।
१९. प्राप्तस्फुरद्वाचकख्यातिः श्रीविजयप्रभाख्य भगवत्सूरेस्तपागच्छपात् ।
—शान्तिनाथचरित, अन्तिम प्रशस्ति ।
२०. देवानन्दमहाकाव्य, सप्तम सर्ग अन्तिम प्रशस्ति ।
२१. वातं विजयते ज्ञानं दर्शनं पित्तवारणम् ।
कफ़नाशाय चरणं धर्मस्तेनामृतायते ।। अर्हद्गीता ६/१५
२२. वही, १८/७
२३. अर्हद्गीता, १४/६-८

२४. "ओं० ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं श्री शंखेश्वरपार्श्वपरमेश्वराय जगदीश्वराय जगदेकवीराय नमः।" - दिग्विजयमहाकाव्य, ग्रंथारंभ एवं द्रष्टव्य—अर्हद्गीता प्रारंभ, हस्तसंजीवन १/१

२५. "ओं ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ह्रीं श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः। ऐं नमः।

—देवानन्द, पृष्ठ ५६, ६९

२६. इहास्ति शंखेश्वरतीर्थमद्भुतं सनायकं पार्श्वजिनाभिभूभुजा।
भुजंगमानां यमुपप्लवे भजन् नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः॥

—देवानन्दमहाकाव्य, १/१९

२७. इत्थं जैनप्रवचनमिहोद्भाव्य शंखेश्वरस्थं,
पार्श्वनन्तुतपगणगुरुर्जग्मिवान् संघयुक्तः।
अध्वक्लान्तेर्नवरसयुजां स्मेरपद्माननानां,
स्वेदपूरो युवतिसरितांव्यापगण्डस्थलानि॥

—देवानन्द महाकाव्य, ७/७७

२८. देवानन्दमहाकाव्य, ७/७९ प्रशस्ति।

२९. देवानन्दमहाकाव्य, ३१

३०. द्रष्टव्य—वही, ४/७२ एवं ५/४२

३१. वही, ७/६३

३२. वही, ७/६५

३३. सप्तसाधान महाकाव्य, १/५४

३४. द्र० पंचतीर्थीस्तुति।

३५. 'श्रीतपागच्छपट्टावलीसूत्रवृत्यनुसंधानम्'
दिग्विजय महाकाव्य के परिशिष्ट में प्रकाशित।

३६. स्वाध्याय जैन शासनदीपक
(देवानन्दमहाकाव्य, प्रस्तावना, पृ० ९ से उद्धृत)

३७. देवानन्दमहाकाव्य, २/७/

३८. द्रष्टव्य—दिग्विजय महाकाव्य की गुजराती भूमिका, पृ० ३, पंक्ति ३/

३९. संघाग्रहात् श्री तपगच्छधुर्यैः
पूज्यैरुपाध्यायपदं प्रदत्तम्।
मेघादिकानां विजयोत्तराणां
मेधाविनां तत्र महे महीयः॥
चक्रेऽथकीकाभिधठक्कुरस्य
प्रौढ़ा प्रतिष्ठा महता महेन।

श्री सूरिसिंहैर्विजयादिराजे
धीमत्युपाध्यायपदं ददे च ।।१७।६०
—विजयप्रशस्तिमहाकाव्य ।

४०. 'तत्सेवासक्तचेता अनवरततया प्राप्तलक्ष्मीविशिष्य,
शिष्यः श्रीमत्कृपादेर्विजयपदभृतः सत्कवेर्वाचकश्रीः ।
मेघः पद्माप्रसादाद् विशदमतिजुषां श्राव्यकाव्यं चकार
देवानन्दं सदैन्द्रोज्ज्वलविपुलधिया शोध्यतां शोध्यमत्र ।।'
देवानन्दमहाकाव्य प्रशस्ति, ७/८०

४१. द्रष्टव्य—दिग्विजय महाकाव्य की गुजराती भूमिका, पृ० ३

४२. 'श्रीमेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्परः परमः ।
चन्द्रचन्द्रप्रभां चक्रे भानूदयबुद्धिविवृद्धिकरी ।।११।।
भट्टोजिनामा भवदीक्षितेन' सिद्धान्तयुक्तावरकौमुदी या ।
श्रीसिद्धहैमानुगत व्यधायि सैवाश्रिया भानुविमोदनाय ।।१२।।
— चन्द्रप्रभा पूर्वार्द्ध प्रान्त प्रशस्ति ।

४३. 'मेघविजय और उनके ग्रन्थ'—लेख—पं० अगरचन्द्र नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।

४४. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, षष्ठ भाग, पृ० ७८ ।

४५. वही ।

४६. मेघविजय और उनके ग्रन्थ—पं० अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५५ अंक ४ ।

४७. कृपाविजयनामकवीन्द्राः सान्द्रचान्द्रमहसो यशसा ते ।
तद्विनेयवाग् विनयाऽऽढ्यो निर्ममे जिनपवित्रचारित्रम् ।।
— लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित अंतिम प्रशस्ति उद्धत ।

४८. दान दयामृत हिम्मत ग्रन्थमाला से वि० सं० १९९२ में प्रकाशित ।

४९. तपागणाम्भोज सहस्रभानुः सूरिजयी श्रीविजय प्रभावः ।
तत्पट्टदीपः श्रमणावनीपः प्रभासते विजयादिरत्नः ।।७६।।
—भविष्ययत्तचरित्र प्रान्तप्रशस्ति ।

५०. द्रष्टव्य-'मेघविजय और उनके ग्रन्थ' लेख—अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।

५१. वही ।

५२. राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय ।
—ले० विनयसागर (मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ० ३७६

५३. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेख—अगरचन्द नाहटा—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४
५४. अर्हद्गीता भूमिका
५५. अमरकोश टीका ६, ६, ७,
५६. शब्दकल्पद्रुम, पंचम खण्ड, पृ० २७०
५७. श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित, वि० सं० १९७०।
५८. स्वस्ति श्रीमद् भुवन दिनकृद्वीरतीर्थाभिनेतुः,
प्राप्यादेशं तपगणपतेर्मेघनामाविनेयः।
ज्येष्ठस्थित्यां पुरमनुसरन् नव्वरंगं ससर्ज,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥
मेघदूतसमस्यालेख
५९. यस्य ब्रह्मव्रतमविरतं विभ्रतश्चित्तवृत्तिं
शय्यास्तस्या अपि मधुरता नेतुमीशा न मोहम्।
पीनोरोजा सरसिजमुखी क्षाममध्यायताक्षी,
यत्रयत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥९२॥
मेघदूतसमस्यालेख
६०. माघकाव्यं देवगुरोर्मेघदूतंप्रभप्रभोः।
समस्यार्थं समस्यार्थं निर्ममे मेघपण्डितः ॥—मेघदूतसमस्यालेख, पृ० २८
६१. प्रत्यागम प्रणयिहृदयाम्भोरेणादरेणा—
दिष्टां वार्तां गुरुगुरुतरानुग्रहव्यंजिनी सः।
श्रुत्वा ज्ञानाचरणाचरणोद्भूत भाग्यप्रतिष्ठान्,
भोगानिष्टानविरतसुखं भोजयामास शश्वत् ॥१३०॥
मेघदूतसमस्यालेख
६२. जैन पादपूर्ति साहित्य, लेखक—अगरचन्द नाहटा, जैन सि० भा० भा०, ३ कि० २-३।
६३. दिग्विजयमहाकाव्य, गुजराती भूमिका।
६४. इति श्री नैषधीयमहाकाव्यसमस्यां महोपाध्याय मेघविजयगणि पूरितायां षष्ठः सर्गः।—शान्तिनाथचरित प्र० सर्ग समाप्ति।
६५. यदीयपादाम्बुजभक्तिनिर्भरात्,
प्रभावतस्तुल्यतया प्रभावतः।
नलसितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः,
क्षमापतिः प्राप यशः प्रशस्यताम् ॥—शान्तिनाथचरित।१/३३ प्र०सर्ग
६६. अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं, क्रियां परामृश्य विशिष्य जापतः।

विधेः प्रसत्यास्ववदान्यताकृते, नृपः सदार्थीभवेतेत्यधीलिखित् ।।
—वही, १/५०

६७. गच्छाधीश्वर हीर हीरविजयाऽऽम्नायेनिकायेधियां—
प्रेष्यः श्रीविजयप्रभाऽऽख्यसुगुरोः श्रीमत्तपाऽऽख्ये गणे ।
शिष्यः प्राज्ञमणेः कृपादिविजयस्याशाऽऽस्यमानाग्रणी,
श्चक्रेवाचकनाममेघविजय : शस्यां समस्यामिमाम् ।।
-- वही, ६/६५

६८. मुनिनंयन—अश्व—इन्दुमिते १७२७ वर्षे हर्षेण सादड़ीनगरे ।
ग्रन्थःपूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ।।
—देवानन्दमहाकाव्य प्रशस्ति ७/८५ ।

६९. गोपाल गिरि दुर्गे स्य लेखनं लेखनन्दनम् ।
वाचकैर्मेघविजयैः कृतं सुकृतहेतवे ।।—वही ३ ।

७०. शरेन्द्रियाद्रीन्दुमितेऽत्र (१७५५) वर्षे व्यलिखित् काव्यमिदं सुशिष्यः ।
श्रीमेरुशब्दात् विजयज्ञराजां श्रीसुन्दरादिविजयाऽभिधानः ।।१।।
—देवानन्द, अन्तिम प्रशस्ति-१

७१. क्रमेण जन्मस्य महे निवर्तिते,
स वासुदेवाह्वयमादधे शिशु ।
विधूत्य चिच्छक्तिमसौतमोऽवधे—
विलंघ्यलंकां निकषा हनिष्यति ।। -- देवानन्द १/७१

७२. किंचित् प्रास्ताविक देबानन्द महाकाव्य, पृ० ३

७३. राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय, लेख—विनयसागर मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ ।

७४. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेख—अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५५, अंक ४ ।

७५. द्रष्टव्य—राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय, लेख—विनयसागर, मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ । पृ० ३७८

७६. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार—मेघविजय' लेख—विनयसागर, मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७९ ।

७७. वही ।

७८. वही ।

७९. श्राद्ध सर्व नै बिहुं पारई धर्मलाभ कहवो । वलता लेख सविशेष समाचारइं लिखवा । अत्र जलद चारु छइ । गोहु दोढ मण । चिणा बे छइ । सुगाल

छइं। साता मानयो। संवत् १७५६ भाद्र सुदि १। उद्धृत देवानन्दमहाकाव्य, प्रस्तावना, पृ० ६

८०. 'किंचित् प्रास्ताविक' देवानन्द महाकाव्य पृ० ३

८१. लिखितोऽयं ग्रन्थः पण्डितश्री ५ श्रीरंगसोमगणि शिष्य मुनिसोमगणिना। सं० १७०६ वर्षे चैत्रमासे कृष्णपक्षे एकादशी तिथौ बुधौ लिखितं श्रीराजनगर तपागच्छाधिराज श्रीविजयदेवसूरीश्वरविजयराज्ये।
—विजयदेवमाहात्म्यविवरण प्रान्तपुष्पिका।

८२. समित्यर्थाश्वभूवर्षे प्रौढिरेषा भव सश्रिये।
भान्वादि विजयाध्यायहेतुतः सिद्धिमाश्रिता॥
—वृत्तमौक्तिक—टीका प्रशस्ति।

८३. 'मेघविजय और उनके ग्रन्थ' लेखक अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४।

८४. श्रीमेघविजयनाम्नोपाध्यायोऽध्यायतत्परः परमः।
चन्द्रचन्द्रप्रभांचक्रे भानूदयबुद्धिर्बिवृद्धिकरी॥११॥
भट्टोजिनाम्ना भवदीक्षितेन सिद्धान्तयुक्तावरकौमुदी या।
श्रीसिद्धहेमानुगता व्यधायि, सेवाश्रिया भानुविमोदयाय॥१२॥
विजयन्ते ते गुरवः शैलशऋषीन्दु (१७५७) वत्सरे तेषाम्।
आदेशात् देशपतेः स्थितिः कृता राजधान्यन्तः॥७॥
चातुर्मास्यामस्यां माम्नाश्रीआगरावराऽऽख्यायाम्।
नानायोगैरुचितैरेचिता चन्द्रप्रभा सुधिया॥८॥
—चन्द्रप्रभा पूर्वार्द्ध प्रान्त प्रशस्ति।

८५. स्वांगेसाष्टसहस्रलक्षणधरः क्लृप्ताभिषेकः सुरैः,
सेन्द्रैः साष्टसहस्रमानसहितैः कुम्भैश्चवृत्तैः स्तुतः।
ग्रंथेऽप्यष्टसहस्रसम्मिततया सल्लक्षणैर्लक्षिते,
कुर्यात् सोऽभ्युदयं धियां समुदयं वीरस्त्रिलोकीगुरुः॥१४॥
—चन्द्रप्रभा पूर्वार्द्ध प्रान्त प्रशस्ति।

८६. हेमचन्द्रसुगुरोः विनयस्य सिद्धेः शास्त्रार्णवोऽलभत पूर्णदशां रसेन।
दीपोत्सवस्य दिवसे कुशलेन योऽसौ सौभाग्य मेरुविजयादिभिरीक्ष्यमाणः
॥१५॥—वही।

८७. चन्द्रप्रभा, पृ० ४०।

८८. श्रीविजयप्रभसूरेः प्रेष्यः शिष्यः कृपादिविजयकवेः।
मेघविजयवाचकवरः कृतां चन्द्रिकां चक्रे॥१॥
प्रौढायाः सरसाभां वृथा विनिर्मान्तु बालस्य।
(भावाः शर्मदामुग्धायारूपश्रीःपठनकृतां क्रीड़ाहेतुः॥)

टीका—श्रीविजयप्रभसूरेरित्यादि स्पष्टम् । श्रीश्च विजयश्च तौ श्रीविजयौ ताभ्यां युक्ता प्रभा बुद्धिस्तेजः प्रतिष्ठा शोभा यस्मिन्, ईदृशः सूरिर्गणपतिस्तस्य । सेवकः कृतप्रत्यानां चन्द्रिकामिव चन्द्रिकां प्रकाशरूपां चक्रे । प्रौढ़ायाः इति हैम बृहद्वृतिस्तस्याः । के के भावा ? वचनसूत्रव्यवस्थादयः शर्म सुखं तस्य दायका न सन्ति । सर्वेऽपि सुखदाः सदा अस्या लघुत्वात् । मुग्धायाः वैचित्र्यकलितायाः क्रीडामात्रप्रवृत्तायाः रूपश्रीः रूपप्रसाधनं सैव पठनकृतां विलोकनकृता क्रीड़ाहेतुः ।"

— हैमशब्दचन्द्रिका प्रान्त प्रशस्ति ।

८९. द्वितीयं मध्य व्याकरणं पंचत्रिंशच्छतश्लोकमितम् ।
—वही, प्रस्तावना, पृ० १ ।

९०. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि एवं विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' लेख—विनयसागर मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ३८१ ।

९१. मणेः परीक्षा मणिकणिकेव पूर्णारसैः स्वारसिकैर्मुदेव ।
गंगेश्वर श्रीगृहसन्निधाना, ध्यानेऽवधायां शिवपूर्बतुर्या ॥१॥
—मणिपरीक्षा प्रान्तप्रशस्ति । उद्धृत 'मेघविजय और उनके ग्रन्थ' लेख — अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।

९२. भानुदय सदाध्याय बुद्धया यश्चामलं सृजेत् ।
अस्यामश्यामधीरर्हस्तुष्टस्तस्येह सुश्रिये ॥२॥—उद्धृत, वही ।

९३. श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेऽस्य सेवको मेघः ।
सभ्यक्त्वशुद्धिसिद्धिः कृतवान् तां मणिपरीक्षाम् ॥३॥—वही ।

९४. जैन पादपूर्ति साहित्य, लेख —अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३, किरण २-३ ।

९५. वही ।

९६. वाणारसीयैर्विहिताएव प्रश्नाः प्रबोधेन समाहितास्ते ।
न्यायागमज्ञैगुरुभिर्मदीयैर्लिपिमया तद्वचसां कृताऽस्मिन् ॥३॥
—युक्तप्रबोधनाटकप्रशस्ति ।

९७. कल्याणेनमयाप्रमेयमणयः सिद्धान्तदुग्धाम्बुधेः,
कल्याणणयसाधुबोधविधयाऽभ्युदयधृत्यराशीकृताः ॥
कल्याणात्मसुवर्णयोजनिकया लंकारवीजंसतां,
कल्याणाय भवन्त्वमीभगवतः यावत्तपः शासनम् ॥१५॥—युक्तिप्रबोधनाटक ।

९८. युक्तिप्रबोधनाटक प्रशस्ति ।

९९. चतुसहस्री श्लोकानां शतत्रयसमन्वितम् ।
प्रमाणमस्य ग्रन्थस्य निर्मितं तत्कृता स्वयम् ॥१॥
—वही ।

१००. प्राप्तोपाध्यायपदास्ते चक्रधर्ममंजुषाम् ।
श्रीमेघपूर्वविजयाह्णवाचकोऽसौ ।
श्रीमेदिनीपुरवरे स्वदृशा प्रययौ ॥
—उद्धृत 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' लेख—विनयसागर मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७३ ।

१०१. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेखक—अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।

१०२. स्थानांगसूत्रविषयीकृतवर्षप्रबोधज्ञानाय, यत्प्रकरणं विहृतं वितत्य ।
भक्त्याव्यदीयि जिनदर्शनमेवतेन,
लोकः सुखी भवतु शाश्वत बोधलक्ष्म्याः ॥—वर्षप्रबोध प्रशस्ति ।

१०३. क्वचित् प्राच्यैर्वाच्यैरतिशयरसात् श्लोककथनैः ।
क्वचिन्नव्यैः श्रव्यैः प्रकरणमभूदेतदखिलम् ।
सतां प्रामाण्याय क्वचिदुचित लोकोक्तिरुचितं,
जिनश्रद्धा भाजामपि चतुरराजां समुचितम् ॥१०१॥
—उद्धृत 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विचक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय'—लेख विनयसागर मरुधर केसरी अभिनंदन ग्रन्थ, पृ० ३८२ ।

१०४. श्रीमत्तपागणविभुः प्रसरत्प्रभावः,
प्रद्योतते विजयतः प्रभनामसूरिः ।
तत्पट्टपद्मतरणिर्विजयादिरत्नः,
स्वामीगणस्य महसा विजितद्युरत्नः ॥
—वर्षप्रबोध प्रशस्ति ।

१०५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० १७६ ।

१०६. चर्याऽसौप्रश्नसुन्दर्या धुर्या माधुर्यशालिनाम् ।
व्यानकेनीनुकार्या (?) धार्या त्वार्यादिभिः श्रिये ॥
प्रेष्यस्तपागणपतेर्विजयप्रभाख्यसूरीशितुः कविकृपाविजयस्य शिष्यः ।
चक्रेविचार्यरचनां साऽस्तु नित्या भोगश्रियेसमनुयोजितधर्मलाभात् ॥
सूर्याचन्द्रमसौयावत्यावन्मेरुमहीधरः
श्रीप्रश्नसुन्दरीसिद्धयैतावत् त्रिपुरसुन्दरी ॥

पद्मावतीनागलोकेमध्यलोके प्रभावती ।
श्रुतदेवीश्वरीतूर्द्धलोके त्रिपुरसुन्दरी ।।४।।
तद्मुस्त (?) मेघविजयैः वत्वकैः (वाचकैः) प्रश्नसुन्दरी ।
विहिताधर्मलाभेन क्रूरता गक्तंती (मक्षर्ती) श्रियाः ।।५।।
आद्यं सामुद्रिकं नाम्ना द्वितीयं लोकविश्रुतम् ।
सूक्ष्माक्षारं तृतीयं स्यात् तुर्यं त्रिपुरसुन्दरी ।।६।।
पद्मावत्वाभिधानां शुद्धं प्रकरणं स्मृतम् ।
पंचमं पंचभिर्वाच्यं संशोध्धाधिकधीवनैः ।।७।।
प्रश्नसुन्दरी प्रान्तप्रशस्ति

उद्धृत दिग्विजयमहाकाव्य प्रस्तावना, पृ० ८ ।

१०७. नत्वाऽर्हन्तं पार्श्वभास्वद्रूपं शंखेश्वर स्थितम् ।
श्री श्राद्धमदनात् सिंहे धर्मलाभः प्रतन्यते ।।१।।
श्रीकेशवकृतार्चस्य श्रीपार्श्वस्य प्रभावतः ।
प्रभासभाजनानन्द हेतुरत्रास्तु वस्तुतः ।।२।।
कृपामूलेऽर्हतां धर्मे श्रीमेघविजयोदयः ।
गवां रसप्रसारेण भूयाद् जीवनसम्पदे ।।३।।
—उदयदीपिका प्रारम्भ, उद्धृत देवानन्दमहाकाव्य प्रस्तावना पृ० ६

१०८. वही ।

१०९. श्रीमेघविजयः प्राप्तोपाध्यायपदविश्रुतः ।
भूविश्वेत्यादिकाव्यस्य व्याख्यानं चकृवानिदम् ।।
—वही ।

११०. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेख-अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४

१११. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विचक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार-मेघविजय' लेख—विनयसागर, मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ ।

११२. वही

११३. श्रीसामुद्रिकभावादभुतरर्स गम्भीरमध्यासितं ।
नानाकारमहार्थभासुरमणिज्योंतिर्भिरुद्भासितम् ।
—हस्तसंजीवन ४/४३

११४. अनुष्टुपां सपादोऽत्र ज्ञेयः पंचशतो ध्रुवम् ।
ग्रन्थसतां प्रसादाच्च श्रेयः श्रीरस्तु शास्वती ।।
—वही, पृ० ४/४७

११५. एवं यदबहुसम्मतं तदुदितं वामेऽपि रेखाफलं,
सर्वं चाप्यनया दिशैव सुधियाध्येयं विधेयं धिया।
औनत्यं समुदेति मेघविजयाद्यस्मादकस्माच्छ्रियं,
नित्याभ्यासविलासलभ्यमसकृल्लक्षणान्वीक्षणात् ॥
—वही, ४/४२।

११६. पद्मावती स्तवनेकथितार्विशति यन्त्रप्रतिष्ठा,
वाचकैर्मेघविजयैः विशद्यन्त्रसुसूत्रितम्।
श्रीवीर-पार्श्वयत्पद्मानुभावादस्तु सिद्धिदम्।
विअययन्त्राष्टमगत्यायवनमतविंशति यन्त्रप्रतिष्ठा-
देव्या पद्मावत्या भगवत्या स्वप्नकथितयन्त्रस्य।
संवादार्थं विवृतं वाचकमेघादिविजयेन।
—अनुभूतसिद्धिविंशादिकल्पसंग्रह, उद्धृत दिग्विजय महाकाव्य, प्रस्तावना, पृ० ८।

११७. आदि—अर्जुनपाताका—
श्रीअर्जुनपताख्ये विजयापर 'नामानि'।
स्यादर्घ ५ भू १ मितेयंत्रम् मध्ये पञ्चप्रतिष्ठया ॥
एवं यत्रत्रिभागाप्ति-यंत्राणिपूर्वसूरिभिः,
सर्वाणि तानि फलदान्युक्तानि नववेश्मसु।
पूर्वे नैर्ऋतिकोदीची-वायुमध्याऽग्निदक्षिणः।
ऐशानी पश्चिमा तासु क्रमाङ्कं निवेशनम् ॥
अन्तिम पद्य—

श्रीमेघविजयप्राप्तोपाध्यायपदविश्रुतः।
भूविश्वेत्यादिकाव्यस्य-व्याख्यानं चक्रवानिदम् ॥

११८. इतोऽधिकं किञ्चन् मातृकाया, व्याख्यानमादेशि मया बितस्य।
श्रीतत्वगीताहितसत्प्रतीताऽध्यायेषुसद्यं यधियोत्तरेषु ॥
—मातृकाप्रसाद प्रान्त प्रशस्ति।

११९. एस० के० कोटेचा अर्हद्गीता भूमिका, पृ० ६

१२०. अर्हद्गीता, १५।१५

१२१. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेख-अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४

१२२. ओं नमः सिद्धमित्यादेर्वर्णाम्नायस्य वर्णनम्।
चक्रे श्रीमेघविजयोपाध्यायो धर्मसाधनम् ॥

संवत्सरेऽश्ववार्ध्यश्व भूमिते पौष उज्जवले ।
श्रीधर्मनगरे ग्रन्थः पूर्णश्रियमशिश्रियत् ।।

—मातृकाप्रसाद प्रशस्ति—१

१२३. दिग्विजयमहाकाव्य, परिशिष्ट में प्रकाशित ।
१२४. अर्जुन पताका के साथ श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावली सूरत से प्रकाशित ।
१२५. मेघविजय और उनके ग्रन्थ, लेख अगरचन्द नाहटा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, अंक ४ ।
१२६. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित, पृ० ३८६ ।
१२७. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' लेख—विनयसागर, मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३८६ ।
१२८. वही ।
१२९. जैनपादपूर्ति साहित्य, लेख—अगरचन्द नाहटा, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ३, किरण २-३ ।
१३०. 'राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय' लेख—विनयसागर मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३८७ ।
१३१. वही ।
१३२. जैन ऐतिहासिक रासमाला भाग २ में पृ० १०२-१०७ में प्रकाशित ।
१३३. ऐतिहासिक सज्झाय माला, भाग १, पृ० २१-२२ पर प्रकाशित ।
१३४. देवानन्द महाकाव्य प्रस्तावना, पृ० ९
१३५. राजस्थान के संस्कृत महाकवि और विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न ग्रन्थकार मेघविजय, लेख—विनयसागर मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३८६ ।

कथावस्तु

सप्तसन्धान महाकाव्य में सात शलाकापुरुषों,[1] पाँच तीर्थंकर—ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और वासुदेव श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र समानान्तर रूप से एक साथ निबद्ध किये गये है। इन महापुरुषों के चरित्रों में परस्पर पार्थक्य है। अनेक घटनाएं ऐसी हैं, जो महापुरुष विशेष से ही सम्बन्धित हैं। उनका वर्णन करते हुए सातों के चरित्र में सामंजस्य बैठाना कठिन कार्य है, किन्तु मेघविजय इसमें पूर्णतया सफल हुए हैं। इस महाकाव्य के विस्तृत वर्णनों में कथा-वस्तु का सूत्र कहीं-कहीं टूटता हुआ-सा प्रतीत होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण कथा-वस्तु का संक्षिप्त रूप जान लिया जाय।

प्रथम सर्ग :

जम्बूद्वीप के मध्य विशाल भरतक्षेत्र नाना प्रकार की सम्पत्तियों से युक्त है। भरतक्षेत्र सुमेरुपर्वत के दक्षिण दिशा में स्थित है। भरतक्षेत्र में गंगा और सिन्धु नाम की नदियां प्रवाहित होती हैं तथा जहां मध्य, मगध आदि देश सुशोभित हैं। इनमें अयोध्या, हस्तिनापुर, शौर्यपुर, शिवपूः (वाराणसी), ब्राह्मण-कुण्ड (कुण्डपुर या कुण्डलपुर) तथा मथुरा प्रसिद्ध नगर है।

अयोध्या में नाभिराय और दशरथ, हस्तिनापुर में विश्वसेन, शौर्यपुर में समुद्रविजय, शिवपूः (वाराणसी) में अश्वसेन, ब्राह्मण-कुण्डनगर (कुण्डपुर या

कुण्डलपुर) में सिद्धार्थ तथा मथुरा में वसुदेव राजा राज्य करते थे। इनमें नाभिराय की मरुदेवी विश्वसेन की अचिरा, समुद्रविजय की शिवा, अश्वसेन की वामा, सिद्धार्थ की त्रिशला, दशरथ की कौशल्या और वसुदेव की देवकी नाम की रानियां थीं। इन रानियों में मरुदेवी, अचिरा, शिवा, वामा और त्रिशला ने चौदह*, कौशल्या ने चार और देवकी ने सात, रात्रि में शुभ-स्वप्न देखे, उन्होंने प्रातः निज पतिदेवों से स्वप्नों का फल पूछा। राजाओं ने स्वप्न का फल श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति बतलाया। आषाढ़ कृष्ण चतुर्थी को मरुदेवी, भाद्र कृष्ण सप्तमी को अचिरा, कार्तिक कृष्ण द्वादशी को शिवा, चैत्र कृष्ण चतुर्थी को वामा, आषाढ़ कृष्ण षष्ठी को त्रिशला तथा ऐसी ही किसी तिथि[2] को कौशल्या और देवकी ने गर्भ को धारण किया। नैगमेषी नामक देव ने ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी के गर्भ से महावीर के जीव को त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया।[3] गर्भस्थ बालकों के पूर्वभवों की संख्या बतायी गई है।

द्वितीय सर्ग :

गर्भ धारण के अनन्तर इन्द्र की प्रेरणा से अनुपम देवांगनाएं रानियों की गर्भ समयोचित परिचर्या करने लगीं। अनेक देवकन्याओं ने द्विविध प्रकार के नृत्यगान आदि से रानियों का मनोरंजन किया। नृपतिवर्ग ने रानियों से दोहद पूछा और उनके दोहदपूर्ति के सभी प्रबन्ध किये गए। सुखपूर्वक नव मास व्यतीत होने पर शुभ मुहूर्त में चैत्र-कृष्ण अष्टमी को मरुदेवी, ज्येष्ठ-कृष्ण त्रयोदशी को अचिरा, श्रावण शुक्ला पंचमी को शिवा, पौष-कृष्ण दशमी को वामा, चैत्र-शुक्ल त्रयोदशी को त्रिशला, चैत्र-कृष्ण नवमी को कौशल्या, भाद्र-कृष्ण अष्टमी को देवकी ने निज-पुत्रों को जन्म दिया। इनमें मरुदेवी का पुत्र वृषभ, अचिरा का पुत्र मृग; शिवा का पुत्र शंख, वामा का पुत्र सर्प, त्रिशला का पुत्र सिंह रूप चिह्नों से सुशोभित हुआ। कौशल्या का पुत्र (श्री राम) लक्ष्मण और हनुमान् से अभ्यर्चनीय चरणों वाला हुआ। इसी प्रकार देवकी का पुत्र (श्रीकृष्ण) गरूड़ध्वज रूप चिह्न से सुशोभित हुआ। देवियों ने मंगलगान किया और प्रसूति काल का कार्य सम्पादित किया। स्वर्ग से देवराज इन्द्र ने इन्द्राणी सहित तीर्थंकरों की माता का दर्शन किया। वहां से बालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाने की तैयारी की गई। अन्य देवगण भी सुमेरुपर्वत पर एकत्रित हुए।

---

*दिगम्बर आम्नाय के अनुसार जिनमाता षोडश (१६) स्वप्न देखती है। यह गर्भहरण की घटना दिगम्बर अम्नीय को स्वीकार नहीं है।

तृतीय सर्ग :

इन्द्र इन्द्राणी तथा सुर-असुरों के समुदाय तीर्थंकर बालकों के लिए सुमेरु पर्वत पर ले गये। राजा रानियों सहित जन-समुदाय बलभद्र बालक को अष्टापद[5] और वासुदेव को गोवर्धन पर्वत पर ले गया। वहां देवराज इन्द्र ने दक्षिणाभिमुख स्थित सिंहासन पर बैठाकर तीर्थंकर बालकों का क्षीरसागर के जल से अभिषेक किया।** अंगुष्ठपान मात्र से ही वृद्धि को प्राप्त हुए बालकों का बारहवें दिन पुण्यशाली पिता के द्वारा नामकरण-संस्कार आयोजित किया, जिसमें इनके ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर, राम और कृष्ण नामकरण किये गए। शनैः-शनैः देवताओं से सेवित होकर लोक में अभिनन्दित बालक वृद्धि को प्राप्त हुए। उन्हें मनोविनोद की साधनीभुत बाल-क्रीड़ाओं के सम्पन्न होने में कोई आयास नहीं हुआ। उन राजकुमारों का यौवनारम्भ प्रजा के लिए आनन्ददायक सिद्ध हुआ। वे बाल्यावस्था में ही ज्ञान की चरमसीमा पर पहुंच गए। यद्यपि सभी राजकुमार बाल्यकाल से ही सर्वगुणसम्पन्न थे, तथापि लोकमर्यादा निर्वाह हेतु उन्होंने गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की।

अनन्तर कुमार ऋषभ का सुमंगला और सुनन्दा, शान्ति का यशोमति, पार्श्व का प्रभावती,* महावीर का यशोदा, राम का सीता और श्रीकृष्ण का रुक्मणी के साथ विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। नेमि की बारात राजीमति के यहाँ जा रही थी, बलि हेतु बद्ध पशुओं की चीत्कार सुनकर नेमि को वैराग्य हो गया और वह अविवाहित ही रहे। प्रजा आनन्द से युक्त थी। सभी तरह की सुख-सुविधाएं उपस्थित थीं।

चतुर्थ सर्ग :

ऋषभ आदि का राज्याभिषेक हुआ, उसमें इन्द्र सहित सभी देवता उपस्थित हुए। इनके राजा होते ही सम्पूर्ण देश की समृद्धि का विकास हुआ। प्रजावर्ग आदन्दित हुआ। कुछ समय के बाद ऋषभदेव के सुमंगला रानी से भरत और सुनन्दा से बाहुबली आदि सौ पुत्र और दो पुत्रियां हुई। इसी प्रकार सभी सन्तति से सम्पन्न हो वृद्धि को प्राप्त हुए।

हस्तिनापुर में राजा शान्तनु राज्य करते थे। इनके भीष्मपितामह आदि पुत्र थे। इसी वंश के कुरु से कौरव और पाण्डु से पाण्डवों के वंश की वृद्धि हुई। पाण्डु ने वैराग्य धारण कर युधिष्ठिर को राज्य सौंपा। कौरवों में ज्येष्ठ दुर्योधन ने द्यूत क्रीड़ा का षडयंत्र रचकर युधिष्ठिर से राज्य जीत लिया और द्रौपदी का चीरहरण किया। पाण्डवों को वनवास मिला। ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और

*तीर्थंकर के अंगुष्ठपान का विधान दिगम्बर आम्नाय में नहीं है।

**दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार पार्श्वनाथ और महावीर का विवाह नहीं हुआ।

महावीर को वैराग्य जागृत हुआ। दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की घोषणा की। अज्ञातवास में पाण्डव भूपति विराट के यहां रहे। वहां कीचक द्वारा द्रौपदी के प्रति बुरी दृष्टि डालने पर भीम ने उसका वध किया। ऋषभ आदि ने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्रों को राज्य प्रदान किया। दशरथ नृपति ने कैकेयी के कहने पर भरत को राज्य दिया। राज्य देकर ऋषभ आदि दीक्षा ग्रहण के लिए उद्यानों में गये। अन्तःपुर के षड्यंत्र के कारण दशरथ ने राम को वन जाने के लिए आज्ञा दी। पिता के आज्ञापालन हेतु राम वन को गये। श्रीकृष्ण युद्ध के लिए सेना सहित प्रयाण करते हैं।

ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर उद्यान में पंचमुष्टि केशलोंच क्रिया का सम्पादन करते हैं। भरत विरक्त भाव से राज्य का संचालन करने लगे। केशलोंच आदि क्रियाओं को करने के बाद ऋषभ आदि ने जिनदीक्षा ग्रहण की।

पंचम सर्ग :

दीक्षा ग्रहण करने के अनन्तर ऋषभ आदि तीर्थंकर स्वेच्छा से प्राची दिशा में विचरण करने लगे। राम सुग्रीव से अधिष्ठित दिशा में चल पड़े। श्रीकृष्ण कुवलय नामक (कंस के गजरूप) असुर को मारने के कारण सुशोभित हुए। विहारकाल में ऋषभ आदि जिनेन्द्र महाप्रभु अनेक उपसर्गों को अनासक्त भाव से सहन करने लगे। राम राज्य से निर्वासित होने के कारण आपाततः प्रतिग्रह को स्वीकार करने लगे। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध आदि के द्वारा किये गए उपद्रव को स्थिर चित्त होकर उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए सहन किया। जिनेन्द्रों ने अपने कर्मों को वश में किया। राम और कृष्ण ने शत्रुओं को वश में किया। विहारकाल में ऋषभ आदि का अनुसरण करने वाले लोग उपवास आदि के कष्टों से उनको छोड़कर गंगा तट पर जटाधारी तपस्वी बन गए। जरासन्ध भी श्रीकृष्ण द्वारा प्रयुक्त भेदनीति के प्रयोग से समुद्र के पार विराजमान अतिपवित्र द्वारका-पुरी में चले गये।

ऋषभदेव आदि स्वयमेव शरीर के विषय में श्रमणोचित समता के भाव को धारण करते हुए सर्वाधिक दीप्ति को प्राप्त हुए। जम्बूद्वीप के अंशमात्र में विद्यमान भरतक्षेत्र के तीनों खण्डों को राम और कृष्ण ने अपने शासन से अधिकृत किया है।

ऋषभदेव आदि मार्ग में अनुयायियों के थक जाने के कारण ठहर जाते हैं और धार्मिक कथाओं को सुनाते हैं। राम और कृष्ण अपनी प्रियाओं के थक जाने से स्थान-स्थान पर रुकते हैं। बनेचरों की सुन्दरियों को देखकर कृष्ण आदि आसक्त नहीं हुए।

कुछ दिनों के बाद सरलता और नीति में निपुण युवराज श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव के पवित्र व्रत की पारणा इक्षुरस से करायी। शान्तिनाथ की सुमित्र, नेमि को वरद नामक द्विज, पार्श्वनाथ की कोषक नगर के राजा धन्यक तथा महावीर की बहुल नामक ब्राह्मण ने पारणा करायी। अनन्तर स्वर्णवृष्टि हुई। नमि और विनमि ने ऋषभदेव की सेवा की। अन्य सभी महापुरुषों की विनयशील पुरुषों ने सेवा की।

ऋषभ आदि ने संयमपालन के लिए अपराधी काम रूपी दुर्जन को दूर करके क्षणमात्र के लिए भी आत्मतत्त्व का दर्शन कब करेंगे, ऐसा विचार किया। सीता को चुराने की इच्छा वाले किसी म्लेच्छ ने सीता के प्रिय का क्षणमात्र के अन्दर विनाश कब देखूंगा, ऐसा विचार किया। जरासन्ध ने कंसापराधी वासुदेव (कृष्ण) का मरण देखने की इच्छा प्रकट की तथा उन्हें परास्त करने के लिए सेना को एकत्रित किया। ऋषभ आदि ने तपस्या के बल से काम आदि शत्रुओं को जीतने का उपक्रम किया। राम ने म्लेच्छ नृपति का वध करने के लिए सेना का संग्रह किया। कठोर तपस्या के बल से ऋषभ आदि ने कर्मशत्रुओं को जीत लिया और जिन हो गये। पराभूत होकर म्लेच्छ सेनापति ने राम से क्षमायाचना की। जरासन्ध कृष्ण से पराभूत हुआ।

जिनेन्द्र महाप्रभु पुनः दुर्गम पर्वतों एवं वनों में चले गये। लक्ष्मण ने सूर्पणखा को कष्ट दिया। प्रद्युम्न ने उषा हरण किया। राम और लक्ष्मण के साथ खरदूषण का युद्ध हुआ। रावण सीता को चुरा ले गया। जिनेन्द्रों ने कैवल्य प्राप्ति के लिए घोर साधना का आश्रय लिया। हनुमान् ने सीता का अन्वेषण किया। प्रद्युम्न ने भी घोर युद्ध किया। राम ने म्लेच्छ सेनापति रावण से युद्ध करने के लिए प्रयाण किया। सैन्य सहित श्रीकृष्ण पुनः जरासन्ध से युद्ध करने के लिए रणभूमि में पहुंचे। तपस्या करते हुए जिनेन्द्र महाप्रभु ध्यानमग्न हुए। देवता लोग यशोगान करने लगे। राम और श्रीकृष्ण के धनुष की लोग प्रशंसा करने लगे।

षष्ठ सर्ग :

इसके बाद जिनेन्द्र महाप्रभु ने शत्रुभूत काम विनष्ट करके अभ्युदय को प्राप्त किया राम और कृष्ण कामाभिभूत रावण अथवा प्रद्युम्न के शत्रु जरासन्ध के विनाश के लिए प्रयत्नशील हुए। कामक्रोध के नाशक जिनेन्द्र प्रभुओं (तीर्थंकरों) ने प्राणी मात्र को कंचन-कामिनी आदि में अनासक्त होने का उपदेश दिया तथा स्वयं पृथक्त्व वितर्क नामक ध्यान विशेष में लीन हो गये। इसके बाद प्रभु ने अपनी आत्मा के अन्वेषण पूर्वक धर्म का आचरण करते हुए जनसमूह को नवम और दशम[7] गुण-स्थान का माहात्म्य बताया। साथ ही हेय-उपादेय का भी ज्ञान कराया। जिनेन्द्र

महाप्रभु सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का पालन करते हुए समाधियोग में सुमेरु पर्वत के समान निश्चल हो गये।

रावण पर विजय पाने के लिए राम ने विचार किया कि शैथिल्य प्रवृत्ति को दूर करके उद्धतवृत्ति पर जय प्राप्त करना चाहिए। कृष्ण ने विचार किया कि अंगदेश के अधिपति कर्ण के स्थान को अधिकृत करने के लिए अर्जुन की तरह आकांक्षा करनी चाहिए। ज्ञानावरण को नष्ट करने के लिए प्रधान रूप से निर्मल आचरण को आगे करके जिनेन्द्र महाप्रभु ने सन्मार्ग का अन्वेषण किया। कष्ट-साध्य रावण एवं जरासन्ध के विभेदन में स्याद्वाद रूप सद्धर्म को स्वीकार करके राम और कृष्ण ने उत्तम बाणों का शोधन किया। जिनेन्द्र महाप्रभु ने मोहादि के मनोरथों को पूर्ण नहीं होने दिया अर्थात् वे मोहादि में आसक्त नहीं हुए। राम ने रावण के सीता प्राप्ति रूप मनोरथ को पूर्ण नहीं होने दिया तथा श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के मनोरथ को असफल बनाया।

जब ऋषभ आदि जिनेन्द्र केवलज्ञान प्राप्ति के लिए ध्यान में लीन हुए तब देवदुन्दुभियां बजने लगीं। उन केवलज्ञानशाली जिनेन्द्र ने पृथिवी को निरतिशय, निर्विकार, पुण्य प्रवृत्ति वाली तथा सज्जनों की कीर्ति से प्रकाशमान कर दिया। राम और कृष्ण ने भी पृथिवी को सत्कृत किया।

भगवान् जिनेन्द्र के स्थान पर अनेक देवयोनि के प्राणियों ने निश्छल भक्ति प्रदर्शित की। जिनेन्द्र ने काम आदि को पराजित किया। राम ने मेघनाद आदि को तथा कृष्ण ने जरासन्ध के पक्ष वालों को परास्त किया।

भगवान् के समवशरण[8] में देव लोग देवों में, मनुष्य मनुष्यों में और राजा राजाओं में बैठ गये। कहीं भी विजातीय व्यक्तियों का परस्पर सांकर्य नहीं हुआ। केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले जिनेन्द्र ने कर्मशत्रुओं पर विजयश्री प्राप्त की। लक्ष्मण ने रावण का वध किया।[9] राम ने सीता को प्राप्त किया। श्रीकृष्ण जरासन्ध को मारकर अर्धचक्री पद को प्राप्त किया।

जिनेन्द्र महाप्रभु ने इन्द्र की सभा में सभी प्राणियों को पाप-पुण्य जीवाजीव, अविद्याभेद से सम्बन्धित उपदेशामृत का पान कराया। अनन्तर कामवासना आदि का नाश कर समवशरण आदि मंगलों से तथा केवलज्ञान से सम्पन्न हुए। फाल्गुन मास की एकादशी को ऋषभदेव, पौषमास की शुक्लपक्ष की नवमी को शान्तिनाथ, आश्विन कृष्ण अमावस्या को भगवान् नेमिनाथ, चैत्रकृष्ण चतुर्थी को भगवान् पार्श्वनाथ, वैशाखमास की दशमी तिथि को महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। इसी दिन बलदेव राम की भी स्थिति कही गई है।

सप्तम सर्ग :

जिनेन्द्र महाप्रभु को केवलज्ञान होने पर इन्द्र समवशरण की रचना करता

है। समवशरण में प्रभु ने देशना की। अर्थात् प्राणीमात्र को कल्याण-मार्ग बताया। उपदेशों के श्रवण के लिए समवसरण में भरत जनसमुदाय के साथ आये। उपदेश श्रवण से सम्पूर्ण जगत् के प्राणी शान्तियुक्त हुए; प्रभु पुनः विहार को निकले। राम लंका से सीता को लेकर वापस अयोध्या आये। लंका में शान्ति हुई। विभीषण ने राज्य संचालन प्रारम्भ किया।

ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर के विहार काल में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् हेमन्त और शिशिर ऋतुएं आकर चली गई। विहार काल में प्रभुओं ने स्थान-स्थान पर ठहर कर प्राणी कल्याण के उपदेश दिए। उपदेशों से प्रभावित होकर प्राणियों की धर्म में रुचि बढ़ी। देव और मनुष्यों ने विहारकाल में प्रभु की सेवा की। प्रभु ने कल्याणकारी उपदेशों से प्राणीमात्र को लाभान्वित किया। राम और कृष्ण ने जनकल्याण के लिए प्रशस्त कार्य किए। भगवान् महावीर स्वामी ने अपने उपदेशों में चरित्र पालन की शिक्षा दी; और चरित्र के उपाय बताये। ऋषभ आदि जिनेन्द्रों का सातिशय प्रभाव दिग्दिगन्त में फैल गया। राम और कृष्ण के प्रभाव से सम्पूर्ण संसार व्याप्त हुआ।

अष्टम सर्ग :

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने षट्खण्डों के अधिपति बनने के लिए दिग्विजय हेतु प्रयाण किया। ऋषभ के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों ने विहार किया। राम और कृष्ण ने भी पुनः युद्ध के लिए प्रयाण किया। भरत ने चक्र का अनुवर्तन करते हुए प्राची दिशा में प्रयाण किया। वहां के अधिपतियों के ऊपर विजय प्राप्त की। चक्रवर्तियों में भरत का प्राथम्य माना गया। मगध के अधिपतियों पर विजय के बाद पश्चिम की ओर प्रयाण किया। सिन्धु नदी को पार कर मार्ग में जिन प्रतिमाओं के दर्शन और पण्डितों से पूर्व पुरुषों के चरित्र को सुनकर हिमालय की ओर गये। वहां के निवासियों को जीतकर ऋषभकूट पर्वत पर चक्रवर्ती सूची में अपना नाम लेखन कराया। खण्डप्रपाता गुहा को पार कर और गंगातटवर्ती लोगों पर आधिपत्य स्थापित करते हुए अपनी राजधानी अयोध्या में वापस आये। भरत बाहुबली का युद्ध हुआ। सुन्दरी आदि ने दीक्षा ग्रहण की।

कल्याणजनक शान्ति से समृद्ध कैलास पर्वत पर ऋषभदेव, सम्मेदशिखर (सम्मेतगिरि) पर शान्ति और पार्श्व, गिरिनार पर्वत पर नेमिनाथ और पावापुर (मध्यम पावा) में महावीर अन्तिम समय में गये। भेदबुद्धि त्यागपूर्वक प्रभु शान्ति में संलग्न हो गये। ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर ने क्रमशः कैलास पर्वत, सम्मेतगिरि, गिरनारगिरि और पावापुर से मोक्ष प्राप्त किया। जहां-जहां से प्रभु ने मुक्तिरमा को प्राप्त किया, वे स्थान कान्तिहीन हो गये। भगवान् जिनेन्द्रों का निरतिशय प्रभाव दिग्दिगन्त में फैला।

नवम सर्ग :

ऋषभदेव आदि की कीर्ति का विस्तार सुमंगला, सुनन्दा प्रभृति रानियों ने किया। प्रभुओं की कीर्ति का गान आठों दिशाओं में होने लगा। गुणगान करने वालों के ऊपर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि की गई। जिनेन्द्र नेमिनाथ प्रभु की कीर्तिगान का श्रवण श्रीकृष्ण की पत्नियों द्वारा भी किया गया। सीता की अग्नि परीक्षा हुई। सीता के तेज से अग्नि जल में परिवर्तित हुई। द्वारका का दहन होने से श्रीकृष्ण ने भी देहत्याग किया। सीता से राम ने क्षमायाचना की। सीता ने अयोध्या न जाने का दृढ़ निश्चय किया। रामचन्द्र आदि ने दीक्षा-ग्रहण की। बलदेव आदि के द्वारा भी दीक्षा ग्रहण की गई। सीता का स्वर्गवास हुआ। सीता ने मरकर सोलहवें स्वर्ग में सीतेन्द्रत्व की प्राप्ति की। सीता के द्वारा रामचन्द्र जी को अनुकूल उपसर्ग किया गया। अनन्तर रामचन्द्र जी को मोक्ष प्राप्त हुआ। तीर्थंकरों के गणधरों को भी मुक्ति प्राप्त हुई।

इस प्रकार सप्तसन्धान महाकाव्य में सप्त महापुरुषों की विस्तृत कथा को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कथावस्तु का मूल स्रोत

सप्तसन्धान महाकाव्य में जिन शलाकापुरुषों का चरित वर्णित है, उनका पूरा जीवनचरित सप्तसन्धान के पूर्वरचित अनेक पुराणों तथा काव्यों में उपनिबद्ध है। प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु का मूलस्रोत क्या है, इसके सम्बन्ध में रचयिता ने स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु ग्रन्थप्रशस्ति में यह लिखा है कि आचार्य हेमचन्द्रसूरि विरचित सप्तसन्धानकाव्य की क्षतिपूर्ति हेतु प्रस्तुत काव्य की रचना की गई है।[10] इससे मात्र इतना बोध होता है कि कवि का आकर्षण आचार्य हेमचन्द्र की ओर है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नामक विशाल पुराणकाव्य है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित १० पर्वों में विभक्त है। प्रत्येक पर्व अनेक सर्गों में विभक्त है। इसका आकार ३६००० श्लोक प्रमाण है। इस महान् ग्रन्थरत्न में जैनों के कथानक, इतिहास, पौराणिक कथाएं, सिद्धान्त एवं तत्त्वज्ञान का संग्रह किया गया है। इस विशाल काव्यकृति का प्रतिपाद्य ६३ शलाकापुरुषों का जीवनवृत्त ही है।

६३ शलाका पुरुष हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण (शत्रु)। इनके नाम निम्नलिखित रूप से निर्दिष्ट हैं—

२४ तीर्थंकर—१. ऋषभनाथ, २. अजितनाथ, ३. संभवनाथ, ४. अभिनन्दननाथ, ५. सुमतिनाथ, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्वनाथ, ८. चन्द्रप्रभ, ९. पुष्पदन्त, १०. शीतलनाथ, ११. श्रेयांसनाथ, १२. वासुपूज्य, १३. विमलनाथ, १४. अनन्तनाथ, १५. धर्मनाथ, १६. शान्तिनाथ, १७. कुन्थुनाथ, १८. अरनाथ १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमिनाथ, २२. नेमिनाथ, २३. पार्श्वनाथ, और २४. वर्द्धमान (महावीर)।

१२ चक्रवर्ती हैं—१. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति ६. कुन्थु, ७. अर, ८. सुभौम, ९. पदम्, १०. हरिषेण, ११. जयसेन, १२. ब्रह्मदत्त।

९ बलदेव, (बलभद्र) हैं—१. विजय, २. अचल, ३. सुधर्म, ४. सुप्रभ, ५. नन्दी, ६. नन्दिमित्र, ७. राम, ८. पदम्।

९ नारायण हैं—१. त्रिपृष्ठ, २. द्विपृष्ठ, ३. स्वयंभू, ४. पुरुषोत्तम, ५. पुरुषसिंह, ६. पुण्डरीक, ७. दत्त, ८. लक्ष्मण, ९. श्रीकृष्ण।

९ प्रतिनारायणों के नाम इस प्रकार हैं—१. अश्वग्रीव, २. तारक, ३. मेरक, ४. मधुकैटभ, ५. निशुंभ, ६. बलि, ७. प्रहरण, ८. रावण, ९. जरासन्ध।[11]

उक्त तिरेसठ शलाकापुरुषों का जीवनचरित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में सविस्तार वर्णित है। सप्तसंधान में वर्णनीय पाँच तीर्थंकर—ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर, बलदेव राम और नारायण श्रीकृष्ण उक्त तिरेसठ शलाकापुरुषों में ही सम्मिलित हैं, और उनका भी विस्तृत चरित त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित के भिन्न-भिन्न पर्वों में वर्णित है। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में वर्णित चरित को ही सप्तसन्धान महाकाव्य की कथावस्तु का मूल स्रोत माना जा सकता है; क्योंकि सप्तसन्धान में उपस्थित कथावस्तु का पूर्ण रूप 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में देखने को मिल जाता है। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में विद्यमान कथानक का संक्षिप्त निदर्शन सप्तसन्धान है।

सप्तसन्धान में कवि मेघविजयगणि ने अपने पाण्डित्य एवं प्रतिभा कौशल से 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के भिन्न-भिन्न पर्वों में वर्णित सप्त महापुरुषों के चरित को एक साथ ही बिना किसी व्यतिक्रम के संयोजित किया है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के सप्त महापुरुष, जिनका विवेचन सप्तसन्धान में हुआ है, उनका चरित पृथक्-पृथक् प्रस्तुत किया जा रहा है—

ऋषभनाथ

ऋषभदेव के तेरह पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। तेरहवें भव में वज्रनाभि चक्री का जीव सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर राजा नाभिराय की रानी मरुदेवी के

गर्भ में आया। कुक्षि में जीव के आने पर माता ने 14 शुभ स्वप्नों को देखा।* राजा ने स्वप्नों का फल पुत्ररत्न की प्राप्ति बतलाया। पूर्ण गर्भ होने पर चैत्रकृष्ण अष्टमी को मरुदेवी ने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया। प्रसूति क्रिया सम्पादन हेतु 56 दिक्कुमारियाँ उपस्थित रहीं। उन्होंने तेजस्वी बालक के जन्म का वर्णन किया। तीर्थंकर बालक का जन्म होते ही इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। इन्द्र तीर्थंकर बालक की उत्पत्ति जान तुरन्त ही शची के साथ पालक विमान से माता के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने अपने पाँच रूपों को प्रस्तुत किया। बालक को सुमेरु पर्वत पर ले गये। सुमेरु पर्वत पर एक हजार आठ कलशों से इन्द्रों ने बालक का अभिषेक किया। इसके बाद नन्दीश्वर द्वीप में अष्टान्हिका पर्व मनाया गया। बालक को माता पिता के पास पहुंचाकर सभी अपने-अपने स्थान को चले गये।

दशवें दिन नामकरण संस्कार हुआ संस्कार में सभी इन्द्रों सहित सभी देवों ने बालक का नाम ऋषभनाथ रखा। बालक ऋषभ ने क्रमशः बाल्यावस्था से युवावस्था को प्राप्त किया। युवावस्था को प्राप्त होने पर ही उनका सौन्दर्य चरम सीमा पर पहुंचा। युगल से उत्पन्न युगलिनी सुनन्दा ने भी यौवन को प्राप्त किया। सौधर्म इन्द्र ने विवाह की स्वीकृति प्राप्त कर ऋषभ और सुनन्दा, सुमंगला का पाणिग्रहण कराया। ऋषभदेव सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए 100 पुत्र और दो पुत्रियों के पिता बने।

जब युगलिक धर्म अवसान की ओर जा रहा था, उस समय ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ। उनके राज्याभिषेक होते ही कुबेर ने 'विनीता' नगरी विशेष की रचना की। 'विनीता' की शोभा वर्णनातीत है। कल्पवृक्षों की समाप्ति होने लगी। लोगों में अन्न भोजन की प्रवृत्ति जागृत हुई। अग्नि की उत्पत्ति हुई। ऋषभ ने सर्वप्रथम शिल्पकला का उपदेश दिया। सुखमय बसन्त के वातावरण में प्रभु को पूर्वसुख का स्मरण आया और वैराग्यभावना जाग गई।

भरत चक्रवर्ती का राज्याभिषेक कराकर पुत्रों को राज्य बांटकर और सांवत्सरिक दान देकर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। इन्द्र ने दीक्षा महोत्सव मनाया। प्रभु ने केशलोंच किया। 'मनः पर्ययज्ञान"[12] की उत्पत्ति हुई। प्रभु ने विहार किया। प्रभु को भिक्षा नहीं मिली। साथ में उपस्थित कक्ष महाकक्षादि को क्षुधा-वेदना हुई। प्रभु ने मौन धारण कर लिया। कक्ष महाकक्षादि ने तापसवृत्ति अपनाई। नमि, विनमि प्रभु की सेवा में रहे। धरणेन्द्र प्रभु की वन्दना को आया। प्रभु की सेवा में लीन नमि, विनमि को देखकर उन पर प्रसन्न हुआ। उन्हें अनेक विद्याओं सहित वैताढ्य का राज्य दे दिया।

भगवान् ने भिक्षा लेने का निर्णय किया और हस्तिनापुर आये। हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को स्वप्न आया। उसने इनको इक्षुरस से पारणा कराई। तभी

---

* दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि जिनमाता १६ स्वप्न देखती है।

से अक्षयतृतीया की स्थापना हुई। प्रभु से लोगों ने स्त्री समूह को संघ में लेने का आग्रह किया। प्रभु ने उन्हें स्वीकृति दे दी। अनन्तर प्रभु बाहुबली की तक्षशिला में गये। बाहुबली दर्शनार्थ निकले किन्तु प्रभु को न पाकर अत्यन्त दुखित हुए। बाहुबली ने अष्टाह्निका[13] पर्व मनाया।

इसके बाद प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इन्द्र ने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। इन्द्र ऐरावत हाथी को लाया। समवसरण[14] की रचना हुई। प्रभु उसमें उपस्थित हुए। उसमें बारह परिषद् लगी हुई थीं। इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की। मरुदेवी को पुत्रविरह से शोक हुआ, तो भरत ने समझाया। भरत ने मरुदेवी से प्रार्थना की। मरुदेवी हाथी पर बैठकर प्रभु की बन्दना को पहुंची। वहां केवलज्ञान हुआ और उन्हें मुक्ति मिली*। भरत ने प्रभु की स्तुति की। प्रभु ने संसार की असारता का उपदेश दिया। अनेक लोगों को वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रभु ने ज्ञान, दर्शन, चरित्र की आवश्यकता को बतलाया। वृषभसेन आदि ने दीक्षा को ग्रहण किया। गणधर[15] पद की स्थापना हुई। उन्होंने द्वादशांग की रचना की। गणधरों ने भी देशना दी। यक्ष-यक्षिणी की स्थापना हुई। अनन्तर प्रभु ने अन्यत्र विहार किया।

भरत चक्रवर्ती ने चक्ररत्न का पूजन किया। अनन्तर भरत ने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। दिग्विजय में मगध, प्रभास, वैताढ्य, तमिस्रगुहा, उत्तराखण्ड आदि क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करते हुए कमलापीड अश्व को प्राप्त किया। सिन्धु हिमाद्रि आदि को अपने अधिकार में करके ऋषभकूट की ओर प्रयाण किया। ऋषभकूट पर भरत के नाम का पट लिखा गया। वैताढ्य की ओर जाने पर विद्याधरों ने नमि, विनमि की ओर से युद्ध किया। अन्त में दोनों वश में हो गये। सुभद्रा नाम की स्त्रीरत्न की प्राप्ति हुई। गंगा के पास जाने पर भरत पर गंगादेवी मोहित हो गई। इसके बाद खण्डप्रपाता गुहा को खोला गया। चक्री ने उसमें प्रवेश करके अयोध्या की ओर प्रयाण किया। 14 रत्न नवनिधि सहित अयोध्या में प्रवेश किया। अट्टमतप पूर्वक भरत राजमहल में पहुंचे। राज्याभिषेक हुआ। सुन्दरी की स्थिति जानकर भरत को दुख हुआ। सुन्दरी ने चारित्र ग्रहण करने की इच्छा की। भरत चक्रवर्ती बन्धुवर्ग को साथ लेकर जिनेन्द्र प्रभु की बन्दना के लिए गये। सुन्दरी सहित 98 भाइयों ने दीक्षा ग्रहण की।

चक्र का आयुधशाला में प्रवेश न होने पर भरत ने कारण पूछा। मन्त्री ने उसका निराकरण किया। चक्री ने बाहुबली के पास तक्षशिला को सुवेग दूत भेजा। दूत को अपशकुन हुए। दूत के पहुंचने पर बाहुबली ने समाचार पूछा। भरत के मन की स्थिति जानकर सुसेन सेनापति ने बाहुबली को युद्ध की आवश्यकता बतायी। अनन्तर भरत और बाहुबली दोनों की सेनाएं युद्ध के लिए

---

* दिगम्बर सम्प्रदाय में स्त्रीमुक्ति का निषेध है।

तैयार हो गई। देवताओं ने भरत और बाहुबली से युद्ध न करने की प्रार्थना की। इन्द्र के माध्यम से द्वन्द्वयुद्ध का निर्णय हुआ। भरत और बाहुबली दृष्टियुद्ध को तैयार हुए। दृष्टियुद्ध में भरतचक्री की हार हुई। अनन्तर वाक् और दृष्टियुद्ध में भी चक्रवर्ती हार गये। भरत ने दण्ड प्रहार किया, तो बाहुबली के जानु तक पृथ्वी धंस गई। बाहुबली के दण्डप्रहार करने पर भरत कण्ठ तक पृथ्वी में धंस गये। चक्री ने बाहुबली के ऊपर चक्र छोड़ा। बाहुबली को क्रोध आया किन्तु फिर वे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हो गये। प्रभु ने सुन्दरी को बाहुबली के पास भेजा। उनके वचनों से बाहुबली का मान समाप्त हुआ और केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

भरतपुत्र मरीचि ने प्रभु के समीप दीक्षा ग्रहण की। चरित्र की कठोरता के कारण उसने त्रिदण्डी परिव्राजकत्व का रूप धारण किया। अनेक शिष्यों को उसने अपने धर्म में दीक्षित किया।

भगवान् अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। देवों ने समवसरण की रचना की। भरत वन्दना को पहुंचे। भरत ने बाहुबली से राज्य ग्रहण का अनुरोध किया। उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। भरत को खेद उत्पन्न हुआ।

शान्तिनाथ

शन्तिनाथ के ग्यारह पूर्वभवों में अन्तिम मेघरथ का जीव हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन की रानी अचिरा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता अचिरा ने 14 शुभस्वप्न देखे। विश्वसेन ने स्वप्नों का फल श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति बतलाया। बालक के गर्भ में आने से मरकी (शारीरिक व्याधि) आदि की शान्ति हुई। गर्भ की परिणति होने पर तीर्थंकर बालक की उत्पत्ति हुई। इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव मनाया गया। 10वें दिन शान्ति नाम स्थापन किया गया। शनैः-शनैः शान्ति ने युवावस्था को प्राप्त किया। यौवन को प्राप्त होते ही उनका राज्याभिषेक कर दिया गया और अनेक कन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। शान्तिनाथ की रानी यशोमती के गर्भ में सर्वार्थसिद्धि से दृढरथ का जीव आया। रानी ने शुभ स्वप्न देखे। गर्भ की पूर्ण परिणति हुई। तदनन्तर एक बालक का जन्म हुआ, जिसका नाम चक्रायुध रखा गया।

शान्तिनाथ की आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। शान्ति ने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। मागधादि देव स्वयमेव साध्य हो गये। उन्होंने शान्ति को भेंट प्रदान की। इसके बाद किरातों के साथ युद्ध हुआ। उन्होंने मेघकुमार का आराधन किया। मेघकुमारों ने उपद्रव किये। प्रभु के सेवक देव मेघकुमार के पास गये और समझाया। किरात वश में हो गये।

शान्ति ने ऋषभकूट पर अपनी दिग्विजय का नामपट लगाया। नवनिधि

सहित हस्तिनापुर में प्रवेश किया। पुनः चक्री के रूप में राज्याभिषेक हुआ। लौकान्तिक देव उपस्थित हुए। कालान्तर में प्रभु को वैराग्य हुआ। वैराग्य होते ही सांवत्सरिक दान देकर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। प्रभु की प्रथम पारणा हुई। इसके बाद केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। देवों ने समवसरण की रचना की। चक्रायुध प्रभु की वंदना के लिए गये। प्रभु से जब इन्द्र ने भरत के खेद को दूर करने का प्रभु से उपाय पूछा, तो प्रभु ने पांच प्रकार के अवग्रह आदि का प्रजा को दान देने का उपदेश दिया। भरत ने तदनुरूप किया। भगवान् ने अन्यत्र विहार किया। भरत ने आर्षवेद की रचना की। कालान्तर में वे विपरीत हो गये।

भगवान् पुनः अष्टापद पर्वत पर पहुंचे। वहां 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव, 9 प्रतिवासुदेव होने का उपदेश दिया। भरत ने 24वें तीर्थंकर का प्रश्न किया, तो प्रभु ने मरीचि को 24वें तीर्थंकर होने की भविष्य-वाणी की।

भरत मरीचि के पास पहुंचे तथा उससे प्रभु की भविष्यवाणी बताई। उसे सुनकर मरीचि का अभिमान जाग गया और जिससे उसको नीच गोत्रकर्म का बंध हुआ। भगवान् शत्रुंजय पर्वत पर पहुंचे वहां पुडरीक गणधर रहे। उसी पर्वत से मोक्ष-गमन हुआ।

भगवान् अष्टापद पर्वत पर आये। वहां अनशन (उपवास) धारण किया। भरत ने यह जानकर दुख प्रकट किया। प्रभु के निर्वाण होने पर इन्द्र ने निर्वाण महोत्सव मनाया। अग्निहोत्र का प्रारम्भ हुआ। भरत ने प्रभु के न रहने पर प्रलाप किया। अनन्तर अपने राजमहल में चले गये। वहां अंगूठी हाथ से गिरने पर भरत को वैराग्य हुआ। उन्होंने क्षपकक्षेणी का आरोहण किया और केवल-ज्ञान की निष्पत्ति हुई। भरत ने मुनिवेश को स्वीकार किया। आदित्य-यश का राज्याभिषेक हुआ। भरतमुनि ने विहार किया। अन्ततः भरत ने मुक्तिरमा को प्राप्त किया। समवसरण में उपदेश दिए। चक्रायुद्ध ने दीक्षा ग्रहण की और गणधर पद प्राप्त किया। यक्षयक्षिणी कुरुचन्द्र ने पूर्वभव सम्बन्धी प्रश्न किए। प्रभु ने उत्तर में उसके पूर्वभव के रूप में वसन्तदेव, कामपाल, मदिरा और केशिरा का वर्णन किया। प्रभु कुछ समय बाद परिवार सहित सम्मेदशिखर पहुंचे। वहां से मोक्ष प्राप्त किया। चक्रायुध गणधर का कोटिशिला से मोक्षगमन हुआ।

नेमिनाथ

नेमिनाथ के सात पूर्वभवों में अन्तिम में शंखकुमार का जीव अपराजित विमान से च्यवन कर शौर्यपुर के राजा समुद्रविजय की रानी शिवा के गर्भ में

आया। रानी ने शुभस्वप्न देखे। राजा ने उनका फल श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति बताया। श्रावण शुक्ला पंचमी को बालक ने जन्म लिया। दिक्कुमारियों एवं इन्द्रादि ने जन्मोत्सव मनाया। उसका नाम अरिष्टनेमि रखा गया।

अरिष्टनेमि ने बाल्यावस्था से युवावस्था को प्राप्त किया। उनसे विवाह का आग्रह करने पर उन्होंने उसका निराकरण किया। सागरचन्द्र कमलामाला और उषा-अनिरुद्ध का विवाह हुआ।

अरिष्टनेमि कृष्ण की आयुधशाला में गये। वहां जाकर उन्होंने शंख को ग्रहण किया और कृष्ण के साथ अपना बल परीक्षण किया। कृष्ण को पराजित होने की चिन्ता उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर वे नेमि को विवाह के लिए मनाने लगे। नेमिनाथ ने स्वीकृति प्रदान की। उनका राजमती के साथ विवाह निश्चित हुआ। उन्होंने विवाह के लिए प्रयाण किया। राजमती नेमि को देखने बाहर निकली। मार्ग में नेमिनाथ ने पशुओं की पुकार सुनी। उन्हें छुड़ाकर प्रभु वापिस मुड़ गये। कुटुम्ब के आग्रह करने पर प्रभु ने उन्हें समझाया। अनन्तर सांवत्सरिक दान देकर दीक्षा के लिए प्रयाण किया। प्रभु सहस्राम वन में पहुंचे और वहां दीक्षा ग्रहण की।

अनन्तर प्रभु ने प्रथम पारणा की। रथनेमि और राजीमती के प्रसंग उपस्थित हुए। कालान्तर में नेमिनाथ को केवलज्ञान हुआ। इन्द्रों ने समवसरण की रचना की। कृष्ण आदि वन्दना करने गये। प्रभु ने समवसरण देशना दी। २२ अभक्ष्यों के त्याग का उपदेश दिया। वरदत्त ने दीक्षा ग्रहण की। राजमती के द्वारा भी दीक्षा ग्रहण की गई। पूर्वभव के सम्बन्ध वाले कनिष्ठबंधु और विमलबोध के जीव समवसरण में आये और दीक्षा ग्रहण की। पाण्डवों ने भी दीक्षा ग्रहण की। प्रभु परिवार सहित गिरनार पर्वत पर गए। वहां से उन्होंने मोक्षपद प्राप्त किया। इन्द्रों ने निर्वाण महोत्सव मनाया।

पार्श्वनाथ

पार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वाराणसी नगरी में राजा अश्वसेन की रानी वामादेवी की कुक्षि में दशम देवलोक से च्यवन कर देव पुत्र के रूप में आया। रानी द्वारा १४ स्वप्न देखे गए। राजा ने उनका फल जनकल्याण बताया। गर्भ के पूर्ण होने पर पौषकृष्ण दशमी को अश्वसेन के घर में तीर्थंकर बालक ने जन्म लिया। दिक्कुमारियों ने प्रसूतिक्रिया सम्पादित की। इन्द्र ने जन्मोत्सव मनाया और पिता अश्वसेन के द्वारा भी जन्मोत्सव मनाया गया। अनन्तर बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।

कुमार पार्श्वनाथ ने शनैः-शनैः बाल्यावस्था से युवावस्था प्राप्त की। अश्वसेन

की सभा में राजा प्रसेनजित का मनुष्य आया और उसने राजा प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती के साथ पार्श्व के विवाह का प्रस्ताव रखा। प्रसेनजित की पुत्री पर पार्श्व का अनुराग हुआ। प्रभावती को स्वयंवरा के वेश में वाराणसी भेजने का निश्चय किया गया। यह बात यवन राजाओं को पता चली तो उन्होंने घेरा डाला। तब प्रसेनजित ने अपने मित्र पुरुषोत्तम को अश्वसेन के पास भेजा। अश्वसेन ने कुमार पार्श्व को सहायतार्थ भेजा। इन्द्र के सारथि ने प्रभु से प्रार्थना की। पार्श्वकुमार ने बात को स्वीकार किया। पार्श्व के साथ यवन राजा का युद्ध हुआ। वह अपने स्थान चला गया। अनन्तर पार्श्व और प्रभावती का पाणि-ग्रहण हुआ।*

नगर के लोगों का पूजा सामग्री लेकर बाहर जाने का कारण पूंछकर पार्श्व प्रभु ने कमठ तापस के अज्ञान का निवारण किया। अग्नि से सर्प को निकाला। सर्प मरकर धरणेन्द्र हुआ और कमठ मरकर मेघमाली नामक देव हुआ।

पार्श्वकुमार ने सांवत्सरिक दान देकर आश्रमपदोद्यान में दीक्षा ग्रहण की। प्रथम पारणा के बाद प्रभु ने विहार किया। मेघमाली देव ने उपसर्ग किए। उनका धरणेन्द्र द्वारा निवारण किया गया। प्रभु की दोनों पर समान दृष्टि रही। भेदबुद्धि का ज्ञान होने पर मेघमाली ने क्षमायाचना की। अनन्तर सब अपने-अपने स्थान को चले गये।

प्रभु को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। देवों ने समवसरण की रचना की। वनपाल ने अश्वसेन को बधाई दी। वह वन्दना करने समवसरण में गया। वहां प्रभु ने उपदेश दिए। प्रभु के परिवार ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली। गणधर और चर्तुविध संघ की स्थापना हुयी। प्रभु विहार को निकल गये। सागरदत्त ने और बन्धुदत्त ने अपनी-अपनी प्रियदर्शना के साथ दीक्षा ग्रहण की। पुनः नवनिधि के स्वामी के नगर में प्रभु का समवसरण रचा गया। उसने प्रभु से पूर्वभवों को जानकर दीक्षा ग्रहण की। प्रभु सम्मेदशिखर पर पहुंचे, वहां पर निर्वाण हुआ।

महावीर

महावीर के २६ पूर्वभवों का वर्णन किया गया है। अन्तिम भव में महावीर का जीव प्राणत स्वर्ग से आयुपूर्ण कर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम के ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में आया। अनन्तर ८३वीं रात्रि को नैगमेषी देव ने महावीर के जीव को देवानन्दा के गर्भ से हरण करके राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया।** रानी त्रिशला ने १४ शुभस्वप्न देखे। राजा ने स्वप्नों का फल बताया। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को त्रिशला ने तीर्थंकर बालक

---

* दिगम्बर सम्प्रदाय में पार्श्वनाथ का पाणिग्रहण हुआ, ऐसी मान्यता नहीं है।

** यह गर्भहरण घटना दिगम्बर आम्नाय में मान्य नहीं है।

को जन्म दिया। जन्मोत्सव मनाया गया। राजा ने बालक का नाम वर्धमान और इन्द्र ने महावीर रखा।

वर्धमान ने बाल्यकाल में ही आमलकी क्रीड़ा, तिन्दूषकी क्रीडा के साथ विद्याध्ययन प्रारंभ कर दिया। बालक वर्धमान ने शनैः-शनैः युवावस्था को प्राप्त किया और यशोदा से विवाह किया।*

महावीर के २८ वर्ष के होने पर उनके माता-पिता स्वर्गस्थ हो गये। तदनन्तर चाचा और बड़े भाई के अनुरोध से दो वर्ष घर रहे। तीस वर्ष की अवस्था में मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी को चन्द्रप्रभा पालकी में बैठ ज्ञातृखण्ड उद्यान में पहुंचे। वहां पंचमुष्टि कैशलोंच किया। सिद्धों को नमस्कार कर दीक्षा ग्रहण की। उसी समय उन्हें मनः पर्यय ज्ञान की प्राप्ति हुई।

दीक्षा के बाद साढ़े बारह वर्ष तक उन्होंने तपस्या की। उसके बीच में अनेक उपसर्गों को सहन किया। साढ़े बारह वर्ष बाद जृम्भक ग्राम के पास ऋजुकूला (पालिका) नदी के तट पर महावीर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने केवलज्ञान महोत्सव मनाया और समवसरण की रचना की। प्रभु ने जनकल्याण के लिए देशना दी। दूसरा समवसरण अपावा (पावा) नगरी के महासेन वन में लगा। इस समवसरण में इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति व्यक्त, सुधर्भा, मंडिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास इन ग्यारह महापण्डितों ने अपनी-अपनी प्रच्छन्न शंकाओं का समाधान पाकर अपनी-अपनी शिष्य मण्डली सहित महावीर के पास दीक्षा ले ली। इन्हें गणधर पद प्राप्त हुआ। उसी समय चन्दना को राजा तथा मैत्रिपुत्रियों के साथ महावीर ने दीक्षा दी एवं हजारों नरनारियों को श्रावक-श्राविका बनाया।

कैवल्य प्राप्ति के बाद का तीस वर्ष का काल तीर्थंकर काल था। इस काल में उन्होंने श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार आदि अपनी पुत्री प्रियदर्शना, दामाद जमालि, रानी मृगावती, पोदनपति प्रसन्नचन्द्र, पृष्ठचम्पा के राजा सरल तथा रोहिणेय चोर आदि को दीक्षित किया था। आनन्द, कामदेव आदि ने भी श्रावक धर्म अंगीकार किया था।

भगवान् महावीर कई स्थानों पर विहार करते हुए अपावा नगरी आये। अपने जीवन का अन्तिम समय जानकर वहां उन्होंने अन्तिम उपदेश दिया। कार्तिक कृष्ण अमावस्या को महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ। ज्ञानदीपक महावीर के निर्वाण होने पर राजाओं ने द्रव्य दीपक जलाये।

श्रीरामचन्द्र

अयोध्या के राजा दशरथ की रानी कौशल्या के गर्भ में बलदेव राम का

---

* भगवान् महावीर के विवाह का प्रसंग दिगम्बर सम्प्रदाय को स्वीकार नहीं है।

जीव आया। रानी कौशल्या ने चार शुभस्वप्नों को देखा। राजा के द्वारा स्वप्नों का फल श्रेष्ठ पुत्र-रत्न का होना बताया। दशरथ के यहां चैत्र शुक्ल नवमी को बालक ने जन्म लिया। राजा ने जन्मोत्सव मनाया। अष्टापद पर्वत पर अभिषेक किया। दसवें दिन नामकरण संस्कार हुआ। उसमें बालक का नाम राम रखा गया। विदेह के राजा जनक के यहां सीता का जन्म हुआ।

बालक राम ने शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ना प्रारंभ किया। कालान्तर में सीता के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। राज्याभिषेक के पूर्व वनवास मिला। भरत ने वनवास से वापिस लाने के प्रयत्न किए।

वनवास में विविध वृत्तान्त उपस्थित हुए। चन्द्रहास खड्ग से लक्ष्मण के द्वारा शम्बूक का वध किया गया। खरदूषण के साथ युद्ध हुआ। सीता को रावण हर ले गया।

विराध के साथ राम पाताललंका पहुँचे। सुग्रीव ने राम की सहायता की। हनुमान् सीता के अन्वेषण के लिए निकल पड़े। लंका में सीता मिल गयीं। हनुमान् ने लंका में अपने पराक्रम का परिचय दिया। हनुमान् के द्वारा सीता की सूचना पाने पर राम लक्ष्मण ने रावण के साथ युद्ध करके सीता को लेने के लिए प्रयाण किया। लंका पहुंचकर रावण के साथ महायुद्ध हुआ। युद्ध में रावण मारा गया।

अनन्तर राम लक्ष्मण ने अयोध्या की ओर प्रयाण किया। सीता को गर्भप्राप्ति हुई। अयोध्या पहुंचकर राम का राज्याभिषेक हुआ। अनन्तर सीता के ऊपर मिथ्या कलंक लगे। रामचन्द्र ने सीता का वन में परित्याग कर दिया।

सीता वज्रजंघ के यहां गयीं। वहां लवणांकुश ने जन्म लिया। लवणांकुश युवावस्था को प्राप्त कर अयोध्या की ओर चले। राम लक्ष्मण के साथ उनका युद्ध हुआ। इसके बाद पिता-पुत्र का मिलन हुआ। सीता ने अग्नि में प्रवेश किया। अग्नि जल हो गई। राम ने क्षमायाचना की किन्तु सीता ने अयोध्या न जाने का व्रत ले लिया।

लवणांकुश का पाणिग्रहण हुआ। लक्ष्मण की मृत्यु हो गई। सीता अच्युतेन्द्र हुई। राम ने दीक्षा ले ली। सीता ने राम के ऊपर अनुकूल उपसर्ग किए, किन्तु राम निश्चल रहे। राम ने मोक्षपद प्राप्त किया। सीतेन्द्र ने रावण और लक्ष्मण के पास जाकर उपदेश दिए।

श्रीकृष्ण

वसुदेव की रानी देवकी के गर्भ में श्रीकृष्ण का जीव आया। देवकी ने सात शुभ स्वप्न देखे। जिनका फल श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति बताया गया। भाद्र-कृष्ण अष्टमी

को देवकी ने एक बालक को जन्म दिया। बालक को नन्द के यहां पहुंचाया गया और नन्द की पुत्री देवकी के पास लाई गई। कंस का सेवक बालिका को कंस के पास ले गया। बालक का नाम श्रीकृष्ण रखा गया। बालक कृष्ण के शरीर की वृद्धि शुरू हुई। उसका पराक्रम चारों ओर फैल गया। बलराम बालक कृष्ण की रक्षा के लिए तत्पर रहते थे। बलराम कृष्ण को नाना कलायें सिखायीं।

कृष्ण के ऊपर गोपांगनाओं का अविच्छिन्न प्रेम रहता था। एक बार कंस ने नैमित्तिकों से अपने विषय में पूंछा। नैमित्तिक ने उसकी मृत्यु का निमित्त कृष्ण को बताया। कंस ने अपनी बहिन सत्यभामा का स्वयंवर रचा। उसमें मल्लयुद्ध की योजना की गयी। कृष्ण ने वहां पहुंचकर सभी मल्लों को हराकर कंस का वध किया तथा सत्यभामा के साथ पाणिग्रहण किया।

कृष्ण जरासंध का परस्पर युद्ध हुआ। कृष्ण ने सूर्यदेव का आराधन किया। देव के प्रकट होने पर श्रीकृष्ण ने उससे द्वारका बसाने की मांग की। कुबेर ने द्वारिका नगरी को बसा दिया।

श्रीकृष्ण का रुक्मिणी के साथ विवाह हुआ। अनन्तर जाम्बती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती एवं गान्धारी के साथ विवाह करके आठ पट्टरानियां बनायीं। रुक्मिणी ने प्रद्युम्न और सत्यभामा ने भानु को जन्म दिया। रुक्मिणी को प्रद्युम्न का वियोग हुआ। जरासंध के साथ हुए युद्ध में कृष्ण ने गरुड़व्यूह की रचना की। उसी महायुद्ध के मध्य में कौरव पाण्डवों का भी युद्ध प्रारंभ हुआ। इस युद्ध में कौरवों का विनाश हुआ। जरासंध ने कृष्ण को मारने के लिए चक्र फेंका। चक्र कृष्ण के पास ही रह गया और उसी चक्र से जरासध की मृत्यु हो गई।

कृष्ण ने कोटिशिला उठायी फिर द्वारिका आये। द्वारिका आने के बाद कृष्ण का आठ हजार राजाओं ने राज्याभिषेक किया। कृष्ण आठवें वासुदेव कहलाये। कृष्ण और नेमि ने आयुधशाला में पारस्परिक बल परीक्षण किया। द्रौपदी का पद्मोत्तर ने हरण कर लिया। कृष्ण की सहायता से वह वापिस लाई गई।

नेमिनाथ चातुर्मास में द्वारिका में आये। कृष्ण ने उनसे चातुर्मास में विहार न करने का कारण पूछा। उसे जानकर वे चार मास पर्यन्त महल में ही रहे। कृष्ण ने नेमिनाथ से यादवों के अन्त के विषय में भी प्रश्न किए। उन्होंने यथानुकूल उत्तर दिए। कृष्ण ने द्वारिका में मद्यपान का निषेध करवा दिया।

शाम्ब प्रद्युम्न आदि कुमारों एवं रुक्मिणी आदि स्त्रियों ने दीक्षा ग्रहण की। द्वारिका में उत्पात होना शुरू हुआ। उसमें बलराम कृष्ण के आयुधरत्न लुप्त हो गये। द्वैपायन ने द्वारिका में आग लगा दी। उसमें कृष्ण के माता-पिता फस गये। कृष्ण ने निकालने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। बलराम और श्रीकृष्ण

पाण्डवों के समीप गये । मध्यममार्ग में श्रीकृष्ण को तृषा ने सताया। बलराम ने उन्हें जल लाकर दिया। मार्ग में जरदकुमार के बाण से कृष्ण का पैर विध गया। जरदकुमार पास आया तो उसे पाण्डवों के पास वास्तविक वृत्तान्त कहकर प्रेषित किया। षड्मासपर्यन्त अयोध्या जलती रही। कृष्ण को सद्भाव जागृत हुआ किन्तु अन्त में क्रोध के साथ उनका मरण हुआ।

तुलना

आचार्य श्री 'हेमचन्द्रसूरि' विरचित 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में वर्णित ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, मर्यादापुरुषोत्तम राम और श्रीकृष्ण के चरितों और सप्तसन्धान महाकाव्य में उपस्थापित सातों महापुरुषों के चरितों में यत्किंचित अन्तर परिलक्षित होता है। यह अन्तर विशेषरूप से सात महापुरुषों के भिन्न-भिन्न विस्तृत चरितों को एक साथ निबद्ध करने के कारण हुआ है। प्रकृत काव्य में काव्यकार की दृष्टि संक्षिप्तता की ओर रही है, जिसके फलस्वरूप अनेक घटनाएं छूट गयीं और अनेक घटनाओं का मात्र संक्षिप्त रूप ही उपस्थित हो सका है।

सप्तसन्धान और कथास्रोत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के कथानकों में तुलना के आधार पर निम्नलिखित अन्तर प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, वर्धमान, राम और श्रीकृष्ण सातों के विस्तृत चरित वर्णित हैं, किन्तु सप्तसन्धान महाकाव्य में उक्त सातों महापुरुषों के कथानकों का प्रस्तुत होने पर भी विशेषतया आद्य तीर्थंकर ऋषभनाथ का चरित ही चित्रित है।

कथास्रोत ग्रन्थ में सभी नायकों के पूर्वभवों का नामोल्लेखपूर्वक विस्तृत विवेचन किया गया है, किन्तु प्रकृत काव्य में उन महापुरुषों के पूर्वभवों की संख्या-मात्र का निर्देश है।[16]

त्रिषष्टि० में ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर पांचों तीर्थंकरों की मोक्षतिथि का उल्लेख है, किन्तु ग्रन्थकार ने मात्र ऋषभ और शान्तिजिनेन्द्र की मोक्ष प्राप्ति तिथि का निर्देश किया है।[17]

सामान्य अन्तरों को प्रस्तुत करने के अन्तर पृथक्-पृथक् नायक को दृष्टि में रखकर तुलना की जा रही है।

ऋषभनाथ

त्रिषष्टि० में ऋषभदेव के १०० पुत्रों और दो पुत्रियों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जबकि मेघविजय भरत और बाहुबली दो पुत्रों का सनाम उल्लेख

कर अन्य पुत्रों का मात्र संकेत ही करते हैं ।

मूलकथा में ऋषभदेव द्वारा प्रदत्त असि, मषि, कृषि, वाणिज्य आदि सम्बन्धी शिक्षाओं का सविस्तर विवेचन किया गया है किन्तु काव्यकार ने इसमें उन शिक्षाओं का निर्देश भी नहीं किया ।

कथास्रोत ग्रन्थ में भरत और बाहुवली के मध्य हुए तीन प्रकार के युद्धों का वर्णन मिलता है किन्तु कवि ने उन युद्ध प्रसंगों को पूर्णतया छोड़ दिया है ।

शान्तिनाथ

त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित के अनुसार शान्तिनाथ का (जो कि एक चक्रवर्ती महाराज थे,) अनेक कन्याओं के साथ विवाह दर्शाया गया है, किन्तु प्रकृत काव्य-ग्रन्थ में केवल यशोमती के साथ विवाह का उल्लेख है ।

मूलकथा में शान्तिनाथ का किरातों के साथ हुए युद्ध का वर्णन है, किन्तु सप्तसंधान में उसे अप्रासंगिक समझकर छोड़ दिया गया है ।

कथास्रोत ग्रन्थ में शान्तिनाथ द्वारा की गयी दिग्विजय का सविस्तर विवरण विद्यमान है, किन्तु इसमें शान्तिनाथ को तीर्थंकर के आदर्श रूप में वर्णित होने से और अन्य तीर्थंकरों के साथ वर्णन-संगति बैठाने के कारण इनकी दिग्विजय का वर्णन न कर कर्मशत्रुओं के ऊपर की गयी विजय का निर्देश है ।

अन्य अनेक वर्णन कवि ने अप्रासंगिक समझकर छोड़ दिए हैं ।

नेमिनाथ

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में नेमिनाथ और राजीमती के विवाह प्रसंग में अत्यन्त मनोहर चित्र खींचा गया है । राजीमती बारात देखने महल के बाहर निकलती हैं । वह अद्भुत सुन्दरी है इत्यादि प्रकार से मनोरम वर्णन है, किन्तु कवि ने केवल इतना कहकर छोड़ दिया कि नेमिनाथ ने विवाह नहीं कराया था । प्रभु की बारात और पशुओं की पुकार सुनकर प्रभु के वैराग्य वाले सुन्दर दृश्यों की कवि ने उपेक्षा की है, जो सहृदयों के लिए अत्यन्त प्रिय एवं रोचक सिद्ध होते । मूलकथा में नेमिनाथ द्वारा बताये गये २२ अभक्ष्यों का वर्णन है, किन्तु काव्यकार ने उनका संकेत करना भी उचित नहीं समझा ।

पार्श्वनाथ

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में उल्लिखित है कि प्रसेनजित की पुत्री प्रभावती को म्लेच्छों ने अपहरण करने का षड्यन्त्र रचा था । कुमार पार्श्व ने उसकी रक्षा की थी, किन्तु इस घटना का और पार्श्वकुमार के साथ यवनों के युद्ध का प्रसंग

सप्तसन्धान में उपस्थित नहीं किया गया।

मूल कथा में पार्श्वनाथ के ऊपर कमठकृत उपसर्गों (कष्टों) का विस्तृत विवेचन है, किन्तु काव्यकार ने उनका उल्लेख तक नहीं किया है।

कथास्रोत (ग्रन्थ) में बताया गया है कि दीक्षा के अनन्तर प्रभु ने सागरदत्त, बन्धुत्व आदि के पूर्वभवों को बताया, उन्होंने ज्ञान होने के अनन्तर प्रभु के समक्ष दीक्षा ग्रहण की। नवनिधि स्वामी के नगर में प्रभु का समवशरण रचा गया। उसने प्रभु से अपने पूर्वभव पूछें प्रभु ने उसके पूर्वभव बताये इत्यादि अनेक प्रसंगों का उल्लेख है किन्तु ग्रन्थकार ने इन समस्त वृत्तान्तों को प्रकृत काव्य में स्थान नहीं दिया है।

महावीर

'त्रिषष्टि०' में उल्लिखित है कि तीर्थंकर बालक को सुमेरु पर्वत पर पिता द्वारा वर्धमान संज्ञा दी गयी थी और इन्द्र द्वारा महावीर। इस काव्य में नामकरण उत्सव प्रसंग में पिता द्वारा दी गयी वर्धमान संज्ञा का ही निर्देश है।

मूलकथा में यह आता है कि महावीर जब २८ वर्ष के हुए थे, तभी उनके माता-पिता उन्हें वियुक्त करके स्वर्गस्थ हो गये। महावीर को संसार से वैराग्य जागृत हुआ। अपने बड़े भाई एवं चाचा के निवेदन करने पर दो वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे। इन प्रसंगों को काव्य में स्थान नहीं मिला है।*

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में महावीर के साधना काल में हुए उपसर्गों का विवेचन है, किन्तु कवि ने सप्तसन्धान में उनका संकेत भी नहीं किया।

मूलकथा में सती चन्दनवाला का वर्णन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कवि ने प्रकृतकाव्य में उस मनोरम वर्णन को प्रस्तुत न कर काव्य के सरस पक्ष की उपेक्षा की है।

रामचन्द्र

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में आये हुए रामचरित को कवि मेघविजय ने सप्तसन्धान महाकाव्य में यथासम्भव ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, किन्तु कुछ घटनाएं छूट गयी हैं, जैसे—मूलकथा में सीता का अच्युतेन्द्र होना, सीता द्वारा राम के प्रति किए गये अनुकूल उपसर्ग, सीतेन्द्र का अच्युत[18] स्वर्ग से रावण और लक्ष्मण के पास जाना और उन्हें उपदेश देना, इत्यादि महत्त्वपूर्ण घटनाएं वर्णित हैं, किन्तु कवि ने उक्त घटनाओं को प्रकृतकाव्य में स्थान नहीं दिया।

श्रीकृष्ण

'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में वर्णन है कि वसुदेव की पत्नी देवकी ने भाद्र-

---

* उक्त प्रसंग दिगम्बर सम्प्रदाय में नहीं है।

कृष्ण अष्टमी की रात्रि में श्रीकृष्ण को जन्म दिया। रात्रि में ही वसुदेव ने कृष्ण को गोकुल में नन्द के यहां पहुँचाया और नन्द की पत्नी यशोदा के पास सोयी हुई कन्या को लाकर देवकी के पास रख दिया। कंस के सेवक ने उस बालिका को कंस को सौंपा, इत्यादि वर्णन मिलता है, किन्तु सप्तसन्धान में मथुरा के राजा वसुदेव के यहां श्रीकृष्ण जन्म का वर्णन करते हुए राजशाही विधि से उनका लालन पालन वर्णित है। अर्थात् श्रीकृष्ण के गोकुल वर्णन को उपस्थित न कर कवि ने कथा में परिवर्तन कर दिया है।

कथास्रोत (ग्रन्थ) में श्रीकृष्ण के गोपियों के साथ प्रगाढ़ प्रेम का चित्रण किया गया है, किन्तु कवि ने उक्त वर्णन को उपस्थित नहीं किया। श्रीकृष्ण को भी एक उत्कृष्ट राजा के रूप में चित्रित किया है। श्रीकृष्ण रुक्मिणी, सत्यभामा, जामबती, गान्धारी आदि अनेक रानियों के साथ परिणय करते हैं, किन्तु गोपियों के साथ प्रेमालाप आदि नहीं करते हैं।

मूलकथा में इसका निर्देश है कि बल परीक्षणार्थ नेमिनाथ और श्रीकृष्ण का मल्लशाला में मल्लयुद्ध हुआ था, किन्तु यह घटना काव्य में अप्रासंगिक समझी गयी।

उपर्युक्त पार्थक्य के प्रदर्शन से स्पष्ट हो जाता है कि मेघविजय ने प्रत्येक वर्णन का अतिसंक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया है, और उन्हें अनेक रोचक प्रसंग भी छोड़ने पड़े हैं; क्योंकि काव्य में सात महापुरुषों के पृथक्-पृथक् कथानकों को एक साथ संयोजित करना सरल नहीं है, और यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि मेघविजय ने इस अल्पकाय महाकाव्य में जो सातों महापुरुषों के भिन्न-भिन्न चरितों को एक साथ संयोजित किया है, वह वस्तुतः उनका स्तुत्य प्रयास है।

रचना का उद्देश्य

यह मानव स्वभाव है कि वह जो भी कार्य करता है, सोद्देश्य करता है, क्योंकि निष्प्रयोजन मन्द बुद्धि भी किसी कार्य में प्रवृत नहीं होता। इसलिए जब कोई कवि काव्य रचना करता है, उसके पीछे उसका कोई उद्देश्य अवश्यमेव रहता है। इस सन्दर्भ में आचार्य मम्मट द्वारा बतलाये गये काव्य प्रयोजन—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

—काव्य-प्रकाश १/२

सदा स्मरणीय हैं, अतएव स्पष्ट है कि काव्य सृजन के पीछे अनेक प्रयोजन होते हैं। मेघविजय भी एक कवि हैं, अतएव वह भी इन उद्देश्यों से विमुख नहीं हो सकते हैं। उनके द्वारा सप्तसन्धान रूप श्लिष्ट रचना करने में विशेष उद्देश्य रहा है।

मेघविजय ने इस रचना का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है—'श्री हेमचन्द्रसूरि विरचित सप्तसन्धान काव्य के अकाल काल कवलित हो जाने के कारण उसकी क्षति-पूर्ति और साथ ही सज्जनों की सन्तुष्टि हेतु मैंने इस काव्य की रचना की है'।[19]

सात संख्या का महत्त्व दर्शाते हुए कवि अपने काव्य के सप्त शब्दमुक्त होने की सार्थकता सिद्ध करता है।

अर्थाः सप्त समर्थिताः कणभुजामाभासनेशासने
सप्त श्रीजिनसम्मते ह्याभिमते प्रामाणिकानामपि।
राज्यांगानि तथैव दैवरसतः स्युर्भूभुजः सिद्धये,
काव्येऽस्मिन्ततएव सप्तकथिता अर्थाः समर्थाः श्रियौ॥

—सप्त० ४/४२

नैयायिक (गौतमीय न्याय) के समवर्ती वैशेषिकशास्त्र में सात पदार्थ प्ररूपित किये गये हैं। जिस प्रकार प्रामाणिक तत्त्व समीक्षकों के अभीष्ट श्री जिनेन्द्र के शुद्ध मत (जैनदर्शन) में सात जीव आदि तत्त्व निरूपित हैं, उसी प्रकार राजाओं की विजयोपलब्धि के लिए स्वामी, अमात्य, सुहृत कोष आदि सात राज्यांग भी समर्थित हैं। इसीलिए शास्त्र और व्यवहार दोनों में सात संख्या का महत्त्व स्वीकार किये जाने के कारण इस संधान (सप्तसंधान) काव्य में भी सप्त-विशेषण— मंगल बोधन के लिए प्रयुक्त हैं और सात संख्या में निर्धारित अर्थ की भी व्यवस्था की गई है।

सात संख्या के द्वारा यह भी स्पष्ट है कि इस काव्य मे सात चरितों को एक साथ निबद्ध किया गया है। काव्य के प्रति अपनी सद्भावना को प्रकट करते हुए कवि ने कहा है—सात महाप्रभुओं के उदात्तचरित के माध्यम से सात अर्थों का प्रकाशन कराने वाली सप्तसंधान नाम की यह रचना अनन्त काल तक ज्ञान पिपासुओं की ज्ञान पिपासा का उपशमन, ऐश्वर्याभिलाषी शासकों की कीर्ति का उन्नयन एवं जिनानुरागता का अभ्युदय कराती रहे।'[20]

इस प्रकार कवि के द्वारा पूर्वाचार्यों के प्रति विनम्रता का प्रकाशन तथा अपने काव्य के प्रयोजन का भी निर्देश कर दिया गया है।

संदर्भ :

१. "'शलाका' शब्द का अर्थ नाप 'या' प्रमाणबोधक-वस्तु' है। प्राचीन समय में चुनाव के समय शलाका का व्यवहार किया जाता था। यहाँ शलाका पुरुष से ऐसे महत्वशाली गणमान्य व्यक्तियों का ग्रहण किया गया है, जो समाज में गणनीय थे। जिनका अस्तित्व समाज के लिए आवश्यक माना जाता था। जिन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के आधार पर समाज का मूल्यांकन किया जाता था, ऐसे व्यक्तियों को जैन वाङ्मय में 'शलाला पुरुष' कहा गया है।
—'जैन वाङ्मय में शलाकापुरुष' लेख—श्री रंजनसूरिदेव
(गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० ५७२)।

२. ग्रन्थ में तिथि का उल्लेख नहीं है। द्र० रामायण एवं श्रीमद् भागवत।

३. द्र० सप्त० म० १/७६

४. द्र० सप्त० म० १/८०-८१

५. द्र० भौगोलिक विवरण।

६. निर्ग्रन्थसाधु केशों को अपने हाथ से उखाड़ फेंकता है। वह पंचमुष्टि केशलोंच कहा जाता है। इसके बाद दीक्षा ग्रहण करता है। दीक्षा समय से जीवन पर्यन्त साधु अपने हाथ से ही केशों को उखाड़ता है।

७. द्र०—दार्शनिक शब्दावली।

८. द्र०—दार्शनिक शब्दावली।

९. जैन पुराणों में रावण का वध लक्ष्मण द्वारा ही वर्णित किया गया है। मोक्षगामी महापुरुष किसी का बध नहीं करते। राम मोक्षगामी महापुरुष थे। उन्होंने किसी का भी बध नहीं किया।

१०. श्रीहेमचन्द्रसूरीशैः सप्तसन्धानमादिमम्।
रचितं तदलाभे तु स्तादिदं तुष्टये सताम्॥—सप्त०, ग्रन्थप्रशस्ति खं० २।

११. द्रष्टव्य—तिलोयपण्णत्ती, अ० ४, गाथा ५ १-५१९।

१२. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान होता है वह मनः-पर्ययय ज्ञान है। —तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १९

१३. अषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन मास के अन्तिम आठ दिनों में मनाये जाने वाला पर्व—पर्वविशेष

१४. द्रष्टव्य—धार्मिक एवं दार्शनिक शब्दावली।

१५. द्रष्टव्य—परिशिष्ट-गणधर।

१६. द्र० सप्तसन्धान १/८०-८१

१७. द्र० वही, ८/१८

१८. सोलहवां स्वर्ग।

१९. सूत्रतः सूत्रिता ग्रन्थे द्विचत्वारिंशदन्विता।
चतुःशतीह काव्यानां सप्तसंधाननामनि॥
श्रीहेमचन्द्रसूरीशैः सप्तसन्धानमादिदम्।
रचितं तदलाभे तु स्तादिदं तुष्टये सताम्॥—सप्तसन्धान प्रशस्ति १-२

२०. सप्तसन्धान—१/८२

साहित्यिक परिशीलन

सप्तसन्धान का महाकाव्यत्व

किसी भी महाकाव्य, खण्डकाव्य अथवा गद्यकाव्य के अध्ययन के साथ ही प्रत्येक अध्येता के सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रस्तुत काव्य की संगति काव्यशास्त्रीय परिभाषा से बैठती है या नहीं। इसी लक्ष्य को रखकर सप्तसन्धान महाकाव्य के ऊपर भी विचार किया जा रहा है कि काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं के आधार पर ही इसकी रचना की गई है अथवा नहीं।

सप्तसन्धान महाकाव्य के महाकाव्यत्व के निर्धारण के पूर्व महाकाव्य की परिभाषा पर विचार कर लेना भी युक्तिसंगत होगा। अतएव काव्यशास्त्रकारों की दृष्टि से महाकाव्य के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम भामह ने महाकाव्य की परिभाषा करते हुए कहा है—

"महाकाव्य सर्गबद्ध होता है, उसमें महान् चरित्रों का वर्णन किया जाता है और स्वयं भी महान् होता है। उसमें अलंकृति प्रधान शिष्ट (साहित्यिक) भाषा का प्रयोग होता है। उसमें राजदरबार, दूतसंप्रेषण, सैन्यप्रयाण, युद्धादि वर्ण्य-विषयों का समावेश करके जीवन के विविध रूपों एवं अवस्थाओं का चित्रण किया जाता है। महाकाव्य का नायक कुलीन, वीरता, विद्वत्ता आदि गुणों से युक्त होता है, उसके अभ्युदय का वर्णन होता है। अन्य किसी का उत्कर्ष दिखाने के लिए नायक का बध नहीं दिखाया जाता है। पंचसंधियों की योजनापूर्वक, कथानक संगठित होता है, जिससे महाकाव्योपयुक्त गरिमा आ जाती है। समस्त रसों का परिपाकहोता है और लोक स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है। धर्म, अर्थ, काम,

मोक्ष चारों वर्गों को स्थान दिया जाता है, किन्तु प्रधानता अर्थ की होती है।[1]

भामह के अनन्तर महाकाव्य की परिभाषा का विकास दृष्टिगत होता है। दण्डी ने भामह का ही अनुकरण किया है, किन्तु भामह के 'महताम्' (महान् चरित्र) के स्थान पर इतिहासकथोद्भूत तथा चतुरोदात्त नायक कहकर नायक के क्षेत्र तथा 'महताम्' की मर्यादा सीमित कर दी। इनके द्वारा महाकाव्य सम्बद्ध रूढ़ियों एवं वर्ण्यविषयों की नामावली भी प्रस्तुत की गई है।[2]

रुद्रट अलंकृति को महाकाव्य का प्रधान लक्षण नहीं मानते हैं और भामह, दण्डी द्वारा मान्य रूढ़ियों को भी महत्त्व नहीं देते। इन्होंने महाकाव्य कथानक में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार किया है। साथ ही प्रतिनायक का भी उल्लेख किया हैं।[3] भोज ने भामह और दण्डी का अनुसरण ही किया है, वाग्भट ने पूर्वाचार्यों का अनुगमन करते हुए, इसके विषय में कुछ नवीनता प्रस्तुत की है। इनका कथन है कि—महाकाव्य के एक सर्ग में दुष्कर चित्रबन्धन की योजना, प्रत्येक सर्ग के अन्त में कवि की विशिष्ट छाप, संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, अपभ्रंश, ग्राम्य भाषाओं में भी महाकाव्य की रचना होनी चाहिए। वाग्भट के समकालीन हेमचन्द्रसूरि ने महाकाव्य का उद्देश्य लोकरंजकता, कहीं- सर्ग के स्थान पर आश्वासक में कथा का विभाजन, छन्द की पूर्व मान्यता को स्वीकार करते हुए यह माना है कि सम्पूर्ण काव्य में एक छन्द भी हो सकता है। नगरादि का वर्णन भी आवश्यक है।

इसके अनन्तर आचार्य विश्वनाथ ने पूर्वाचार्यों द्वारा उद्भावित महाकाव्य स्वरूपों का आधान करते हुए अपनी कुछ नवीन उद्भावनाओं के साथ महाकाव्य की विशद् परिभाषा प्रस्तुत की है। विश्वनाथ की परिभाषा की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

१—महाकाव्य का नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त सद्वंशोत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिए। एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।

२—शृंगार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक रस अंगी होना चाहिए। शेष रसों का समावेश अंग रूप में हो।

३—सर्गों की संख्या आठ से कम न हो। सर्गों का आकार न तो बहुत बड़ा और न बहुत छोटा हो। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द हो, अन्त में भिन्न और कहीं अनेक छन्दों का प्रयोग होता है। सर्गान्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना होनी चाहिए।

४—महाकाव्य का नामकरण कवि, कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य पात्र के नाम के आधार पर होना चाहिए और सर्गों के नाम सर्गगत कथा के

आधार पर होना चाहिए।

यद्यपि आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रदत्त परिभाषा का चित्र व्यापक है तथापि नायक, छन्द, रस एवं सर्ग निर्धारण से इनकी व्यापकता सीमित हो गई है। आठ सर्गों से अधिक संख्या का होना इनकी नवीन कल्पना है जो पूर्वाचार्यों ने नहीं की है और पूर्वाचार्यों की अपेक्षा इन्होंने सीमित क्षेत्रों का निर्धारण किया है।[4]

उक्त परिभाषाओं के पर्यालोचन के अनन्तर यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकाव्य में निम्न तत्त्व होना चाहिए—

१. सुसंगठित और व्यापक कथानक, २. उदात्त और शालीन चरित्र-चित्रण, ३. जीवन की सर्वांगीण अभिव्यक्ति, ४. तीव्ररसव्यंजना, ५. वस्तु, ६. प्रौढ़ भाषा शैली, ७. छन्दोबद्धता और कथानक का खण्डों में विभक्त होना, ८. महान् चरित्र।

एक आदर्श महाकाव्य में उक्त समस्त तत्व विद्यमान होने चाहिए, किन्तु कोई भी महाकाव्य सर्वगुण विभूषित नहीं प्राप्त होता है। महाकाव्य में कुछ लक्षणों का अभाव होने पर भी यदि अन्य तत्त्व विद्यमान हों और सहृदयजनसंवेद्य हो तो भी वह महाकाव्य की श्रेणी में आ जाएगा। दण्डी ने भी कहा है—

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
मधुपात्रेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥—काव्यादर्श 9/20

अर्थात् यदि महाकाव्य का स्वरूप और उसके विभिन्न तत्त्व सुसम्बद्ध एवं सहृदजनों के लिए आनन्ददायक हों तो कुछ लक्षणों के अभाव में भी महाकाव्य-महाकाव्य ही रहता है। उसे महाकाव्य की श्रेणी से निकाला नहीं जा सकता है।

उक्त सभी परिभाषाओं के पर्यवेक्षण और उक्त तथ्यों को दृष्टि में रखकर सप्तसन्धान महाकाव्य के महाकाव्यत्व पर विचार किया जाता है।

सप्तसन्धान महाकाव्य में महाकाव्य के लक्षणानुसार सर्गबद्धता है। महाकाव्य में महान् चरित्र का वर्णन किया जाता है, इसमें सात महापुरुषों के महान् चरित्रों का वर्णन किया गया है। काव्य में जिन सात महापुरुषों की घटनाएं हैं उनमें पांच तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम, नगरी, गर्भाधान, स्वप्न, दोहद, जन्म-महोत्सव, बालक्रीड़ा, स्वयंवर, पत्नीनाम, युद्ध, राज्याभिषेक आदि सामान्य घटनाएं तथा तीर्थंकरों की लौकान्तिक देवों द्वारा अभ्यर्थना, सांवत्सरिक दान, दीक्षा, तपस्या, पारणा, केवलज्ञानप्राप्ति, देवों द्वारा समवसरण की रचना, उपदेश निर्वाण, गणधर, तीर्थंकरों के पांचों कल्याणकों की तिथियां, रामचन्द्र श्रीकृष्ण का युद्ध विजय, राज्य का सार्वभौमत्व, स्वर्गादि घटनाएं कथाओं की कड़ियां तो हैं ही, कई विशिष्ट अन्य घटनाओं का भी उल्लेख है। उन सभी का एकत्र संयोजन है।

उक्त सभी तत्वों का एक महाकाव्य में होना अनिवार्य है, सप्तसन्धान में भी सभी विद्यमान हैं।

महाकाव्य अध्येता के लिए बोधगम्य होना चाहिए। प्रस्तुत काव्य काव्य-मर्मज्ञों एवं प्रौढ़ मनीषियों के लिए बोध्य है। इस ग्रन्थ में सात कथाओं (सात अर्थों) के एक साथ संयोजन करने के कारण काठिन्य स्वाभाविक है। इसमें कहीं अनुप्रास श्लेषादि अलंकारों से, कहीं कल्पना के गौरव से और कहीं अर्थ—गांभीर्य से दौर्बोध्य की अभिवृद्धि अवश्य की गई है फिर भी काव्यतत्त्ववेत्ता प्रौढ़ गतिमान् व्यक्तियों के लिए सरल है और अत्यन्त आनंदप्रदायक सिद्ध होता है।

महाकाव्य दुर्जननिन्दा, सज्जनप्रशंसा, देश, नगर, षड्ऋतु आदि का वर्णन अपेक्षित होता है, ये सभी तत्त्व प्रस्तुत महाकाव्य में विद्यमान हैं।

भामह महाकाव्य को अलंकृति प्रधान मानते हैं और प्रकृत महाकाव्य इसका अनुपम उदाहरण है। इस काव्य में अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों का बहुलता से प्रयोग होने पर भी, मनोरम उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अर्थालंकारों का भी यथास्थान सुन्दर संयोजन हुआ है।

प्रस्तुत काव्य का इतिवृत्त ऐतिहासिक पुराण त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित से गृहीत है। सभी नायक क्षत्रिय वंशोत्पन्न एवं उदात्त चरित्र से सम्पन्न हैं। यह नव सर्गात्मक महाकाव्य है। सभी सर्गों में छन्दों का प्रयोग विधान प्रायः नियम पूर्वक किया गया है। इसकी कथावस्तु संगठित है। इसमें चतुर्वर्ग की फल प्राप्ति का निर्देश है, किन्तु प्रधानता मोक्ष वर्ग की ही है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस सप्तसन्धान में महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण विद्यमान हैं, यह बात दूसरी है कि यत्र-तत्र थोड़ी-बहुत शिथिलता अवश्य परिलक्षित होती है किन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कतिपय लक्षणों के न घटने पर भी इसके महाकाव्यत्व में कमी दृष्टिगत नहीं होती। श्लेष का बाहुल्य इसकी काव्यता में किंचिदपि बाधक नहीं हैं। अपितु श्लिष्ट काव्यशैली उसकी वर्णनाशक्ति की परिचायिका है और जिसके कारण कवि के विमल यश की संसिद्धि में सन्देह नहीं किया जा सकता है।

अलंकार-योजना

अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति काव्याचार्यों ने दो प्रकार से की है—
१. अलंकरोतीति अलंकारः अर्थात् जो आभूषित करता है, वह अलंकार है।
२. अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा वृद्धि की जाती है वह अलंकार है। इन व्युत्पत्तियों में प्रथम व्युत्पत्ति के आधार पर अलंकार काव्य का स्वाभाविक धर्म और द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार साधनमात्र माना

जाएगा।

उक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर अलंकार शास्त्रियों में दो वर्ग हो गए, जिनमें एक वर्ग ने काव्य में अलंकार को अनिवार्य तत्व माना है और वे उसके बिना काव्य को काव्य की संज्ञा से अलंकृत नहीं करना चाहते। दूसरे वर्ग ने अलंकार को काव्य का साधन मात्र स्वीकार करके अलंकार के अभाव में भी काव्यसत्ता को स्वीकार किया है।

अलंकार प्रधान रूप से काव्य में सौन्दर्य वृद्धि के साधन हैं। काव्य में इनका उपयोग भावों को सजाने एवं रमणीयता प्रदान करने के लिए होता है। अलंकारों के द्वारा ही काव्य की अभिव्यक्ति में तीव्रता एवं भावों में प्रभावात्मकता आ जाती है। श्रेष्ठ कवि की कविता में अलंकार स्वतः स्फुरित हो जाते हैं।

आचार्य भामह 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्' के आधार पर करते हैं कि वाणी सुन्दर नहीं होती, उसकी सुन्दरता के लिए अलंकार अनिवार्य हैं। शब्द और अर्थ की वक्रता ही वाणी में चमत्कार एवं अलंकार की योजना करती है।[5] दण्डी भी अलंकारयुक्त काव्य को चिरस्थायी मानते हैं।[6] वामन ने 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' अर्थात् काव्य मात्र अलकार के कारण ग्राह्य है।[7] जयदेव तो यहां तक कह गये कि—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्येत कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥[8]

काव्यशास्त्रियों की अलंकार विषयक उक्त धारणाओं को दृष्टि में रखकर काव्यकारों ने काव्यों में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है।

काव्य में प्रायः शब्दालंकार एवं अर्थालंकार दोनों का प्रयोग समान रूप से मिलता है। किन्तु कतिपय काव्य-कृतियों में शब्दालंकारों का आधिक्य है और उनमें अर्थालंकार सहायक रूप में गृहीत हैं, ऐसे ही महाकाव्यों में से सप्तसन्धान भी एक महाकाव्य है।

सप्तसन्धान एक श्लेष प्रधान रचना है। यह शब्दश्लेष, अर्थश्लेष उभय रूप से परिव्याप्त है। यमक और अनुप्रास जैसे शब्दालंकारों का भी इसमें कम व्यवहार नहीं हुआ है।

शब्दालंकार

किसी शब्द विशेष के विद्यमान होने पर जब किसी अलंकार की सत्ता रहती है, उस शब्द को परिवर्तन कर उसी का पर्याय रख देने पर वह अलंकार न रहे तो यह अवश्य मान लेना चाहिए कि वह अलंकार शब्दनिष्ठ हैं अतएव वह

शब्दालंकार कहलाता है।

प्रकृत काव्य में अनुप्रास, यमक और श्लेष नामक शब्दालंकारों का ही बाहुल्य है। अतएव काव्य से इनके कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

अनुप्रास—जहां व्यंजन वर्णों की समानता हो, स्वरों का साम्य हो अथवा नहीं, वहां अनुप्रास अलंकार होता है। सामान्यतः अनुप्रास दो प्रकार का होता है। छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास।

छेकानुप्रास

छेकानुप्रास में दो या अधिक व्यंजनों की एक ही क्रम से केवल एक बार आवृत्ति होती है।[9]

नये प्रसक्ता विनयेऽनुरक्ता
जयेन तद्वद् विजयेन पूर्णा।
नवा भवाप्ता बहुशोभयाऽऽप्ताः
अविक्रियास्तेऽतिथिसत्क्रियाङ्गाः॥ —सप्त० १/५३

यहां पर न् य् व्यंजनों की क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है। अतएव छेकानुप्रास अलंकार है।

वृत्यनुप्रास

अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य वृत्यनुप्रास कहलाता है।[10]

चान्द्रीं क्रियां चक्रिरुपेत्य चान्द्रीं,
सौरी च गौरी दधिरात्मदर्शनम्।
शैषी च योषाभरणाद्यनैषीत्,
तस्या उपास्याविधिरेवमासीत्॥—सप्त० २/४

यहां पर च र और श की अनेक बार आवृत्ति हुई है। इसलिए वृत्यनुप्रास अलंकार स्पष्ट है।

यमक—अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनरावृत्ति यमक अलंकार है।[11] चरणों की पुनरावृत्ति के आधार पर यमक अलंकार के ११ भेद होते हैं—(१) मुख, (२) संदेश, (३) आवृत्ति, (४) गर्भ, (५) सन्दष्ट, (६) पुच्छ, (७) पंक्ति, (८) युग्मक, (९) परिवृत्ति, (१०) अर्धश्लोकावृत्ति और (११) श्लोकावृत्ति।

उक्त भेदों में से अधिकांश भेदों के उदाहरण सप्तसन्धान में प्राप्त होते हैं, जिन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है—

मुखसंज्ञक यमक - जहां प्रथम पाद की द्वितीयपाद में आवृत्ति होती है, वहां मुखसंज्ञक यमक नामक अलंकार होता है।

कुतूहलेनोद्वहनं सृजन्ति,
कुतूहलेनोद्वहनं सृजन्ति।
यद्देशवास्तव्यजनाः परोप-
जापे, प्रसक्ता न परोपजापे॥

प्रस्तुत पद्य में प्रथम पाद द्वितीय पाद में आवृत्त है, अतएव यहां मुखसंज्ञक यमक की आवृत्ति स्पष्ट है।

पुच्छनामक यमक—जहां तृतीय पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में हो, वहां पुच्छ नामक यमक होता है।

सुमनसि मनोवृत्तिर्नव्योपकारविधौ भवेत्
तदितरमनोवृत्तिर्नव्यापकारविधौ भवेत्।
परसुरगतिं लब्ध्वा पूर्वः सुखं विलसत्यहः
परशुरगतिं लब्ध्वा पूर्वः सुखं विलसत्यहः॥
—सप्त० ५/३९

इस पद्य में तृतीय पाद की आवृत्ति चतुर्थ पाद में होने से पुच्छ नामक यमक है।

पंक्तिनामक यमक—जब प्रथम पाद की आवृत्ति शेष तीन पादों में होती है तो पंक्ति नामक यमक अलंकार होता है।

न दानवानां न महावहानां, नदा नवानां न महा वहानाम्।
नदानवानां न महावहानां, न दानवानां न महावहानाम्॥
—सप्त० ७/२२

यहां प्रथम पाद की आवृत्ति शेष तीनों पदों में होने से पंक्ति नामक यमक है।

युग्मक नामक यमक—जहां प्रथम पाद की द्वितीय पाद में और तृतीय पाद चतुर्थ पाद में आवृत्ति होती है, वहां युग्मक नामक यमक होता है।

"न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तं
न गौरवं ध्यायति विप्रमुक्तम्।
पुनर्नवाचारभासा नवार्था-
पुनर्नवाचारभासानवार्थाः॥"—सप्त० १/५२

यहां प्रथम पाद की द्वितीय और तृतीय पाद की चतुर्थ पाद में आवृत्ति होने से युग्मक नामक यमक अलंकार है।

श्लोकार्धावृत्ति यमक—जहां श्लोक के पूर्वार्द्ध की आवृत्ति उत्तरार्द्ध में होती है वहां श्लोकार्धावृत्ति यमक होता है।

'नागाहत विवाहेन तत्क्षणे सदृशः श्रियः ।
नागाहत-विवाहेन तःक्षणे सदृशः श्रियः ।।—सप्त० ६/५४

यहां पूर्वार्द्ध आवृत्ति उत्तरार्द्ध में होने से श्लोकार्धावृत्ति यमक अलंकार है ।

शब्दश्लेष—जहां शब्द परिवर्तन सह्य न हो, वहां शब्दश्लेष होता है।

गोपाः स्फुरन्ति कुसुमायुधचापरोषात्,
कोपादिवाऽम्बुजदृशः कृतमानलोपाः ।
क्रीडन्ति लोलनयनानयनाच्च दोला-
स्वान्दोलनेन विबुधाश्च सुधाशनेन ।।—सप्त० ३/४

"तेजस्वी अथवा स्वर्गपालक देवता अथवा वज्र की रक्षा करने वाले इन्द्रादि और देवसामान्य कन्दर्प के धनुर्मुक्त बाणों से मानो काम पर क्रोध करने से अपने लिए अभीष्ट आलिंगन, वीक्षण आदि के विरोधी कर्म पर कृत्रिम रूप से उत्पन्न होने वाले क्रोध का विनाश हो गया है। जिन्होंने काम में विरोध उत्पन्न करने वाले मान को लुप्त कर दिया है, ऐसे लोग प्रकाशमान दिखाई दे रहे हैं और चंचल नेत्र वाली रमणियों के आकर्षणपूर्ण आनयन से, कमल-नयन नारियों के अधरामृत पान से, दोला पर आन्दोलन क्रिया से अपने को विनोदमग्न कर रहे हैं।"

यहां पर गोपा आदि पद से अनेक अर्थों की प्रतीति हो रही है। यदि गोपा का पर्याय रखा जाए तो अनेक अर्थों की प्रतीति न हो सकेगी अतएव शब्दश्लेष स्पष्ट है।

धरां केऽकृ वलिनश्चकुः परां विकृतिवर्जिताम् ।
पुण्यप्रवृत्तिं सत्कीर्ति-धवलां सकलां किल ।।—सप्त० ६/३२

केवलज्ञानी अथवा आत्मज्ञानवान या कामजयी अथवा शारीरिक ममत्व रहित, अथवा मन को जीतने वाले अथवा सर्वेन्द्रियजयी अथवा भगवान् जिनेन्द्र ने निरतिशय निर्विकार पुण्यप्रवृत्ति वाली सत्कीर्ति से धवलित अथवा सज्जनों की कीर्ति से प्रकाशमान समग्र पृथ्वी को कर (टैक्स) दिया।

यहां पर यदि 'केवलिनः' पद को परिवर्तित करके उसके पर्याय को रख दिया जाए तो अनेकार्थ की प्रतीति नहीं होगी। इसलिए केवलिनः पद के कारण इसमें शब्दश्लेष अलंकार है।

शब्दार्थोभयश्लेष—जहां कहीं शब्द का परिवर्तन कर देने पर अर्थद्वय की प्रतीति न हो और कहीं किसी शब्द का परिवर्तन कर देने पर भी अर्थद्वय की प्रतीति हो, ऐसे स्थलों में शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनों की स्थिति रहने के कारण शब्दार्थोभयश्लेष अलंकार होता है।

खले प्रतीता बहुधान्यपाताद्,
विक्षेपणा क्षेपमतिर्नृपस्य।
मुखे निबन्धेन गवां नृणां वा
निजार्जितस्यापि मनाग् न भोगः ।।—सप्त० १/१०

"दुर्जन के न रहने पर नाना प्रकार की विपत्तियां सहन करनी पड़ती हैं। अभीष्ट के दूर करने में या राजकार्य के संचालन में विलम्ब होता है अथवा विघ्न आता है। खलिहान में रखे हुए गेहूं, धान्य, चना आदि की दमरी का उन-उन अन्य विशेषों के एकत्र करने में खेटक पंचांग की प्रवृत्ति होती है, यह प्रसिद्ध है। गौ वृषभ आदि पशु धान्यों को उत्पन्न करने पर भी उनका उपयोग नहीं कर पाते। राजदूत आदि कार्यों के नियोजन और निबंधन करने पर भी वे अपने द्वारा अर्जित वेतन आदि का स्वल्पांश भी उपयोग नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि खल व्यक्ति अन्य व्यक्तियों को नाना प्रकार से कष्ट देते हैं।

यहां 'खल' में शब्दश्लेष है। क्योंकि खल शब्द के हटा देने से अर्थद्वय की प्रतीति नहीं होगी। 'विक्षेपणा क्षेपमति निजार्जितस्यापि मनाग् न भोगः' ये शब्द दोनों अर्थ प्रतीत करा रहे हैं, तथा इस शब्द समुदाय को परिवर्तन करने पर भी अर्थद्वय की प्रतीति होती है। अतएव अर्थश्लेष भी स्पष्ट है। दोनों की स्थिति एकत्र होने से यह शब्दार्थोभयश्लेष का उदाहरण है।

श्लेष से विविध अर्थों का चमत्कार :

सहचरतया ये संजातास्तवा च-रणादिषु,
निरशनतया तेऽपि प्रापुर्भुवं हरशेखराम्
सुरसमुदितां सिन्धोः पारे भवस्य परम्परा-
क्रमणवशतो-लंकारागं प्रतीत्य महापदम् ।।—सप्त० ५/७

ऋषभदेव पक्ष—उस समय युद्धादि के विषय में आदि जिनेन्द्र ऋषभदेव के अलौकिक चमत्कारी व्यापारों में अनुगामी बनकर जो लोग अनुगमन कर रहे थे, वे भी उपवास के रूप से उसी तरह रहने लगे जिस तरह भगवान् जिनेन्द्र पवित्र भिक्षा को न प्राप्त करने से कुछ दिनों तक उपवास करते रहे थे। उनके अनुगामी उस तरह की सामर्थ्य न रहने के कारण, वैसा करने में असमर्थ होकर प्रभु को छोड़कर, शंकर के शिर पर विराजमान गंगा के उस तट पर चले गये, जहां देवता लोग आसन जमाये हुए थे। वे संसार सागर के तट पर जन्म परम्परा से अनेक जन्मों में किये गये पुण्य पुंजों के प्रभाव से बहुत ऊंचे पद को प्राप्त कर गये, जो आत्यन्तिक सुख देने वाले थे और सांसारिक विषयों के राग का परित्याग करके

आत्मरूप ब्रह्म का अर्थात् मोक्ष के अतिशय अनुराग को छोड़कर गंगा तट पर गये।

अन्य तीर्थंकर पक्ष—व्रत के ग्रहण करने के समय अनुचर रूप से रहने वाले जो राजा लोग उन जिनेन्द्रों के व्रतादि के ग्रहण में लग गये, वे देवताओं के साथ संश्लिष्ट भूमि को संसार समुद्र के पार बारम्बार (जन्ममरण) के कारण उत्पन्न महान् संकट के जनक शरीर के विषय में राग का परित्याग करके उच्च भूमि पर पहुंचे।

राम पक्ष—अनुचर रूप से वनगमन काल में राम की यात्रा आदि के विषय में जो लोग अनुसरण करते थे, वे राम से परित्यक्त होने के कारण अत्यन्त पवित्र अयोध्यापुरी में लौट आये। ऐश्वर्य की दीप्ति को प्राप्त होने वाले धनिकों से सम्मिलित अयोध्या को समुद्र के पार जो भूभाग वहां बराबर जाने के कारण लंका नाम की नगरी में अनुराग रखने वाले लोग भयंकर रावण को जानकर लौट आये।

आदिनाथ पक्ष में द्वितीय अर्थ भी निकलता है—उस समय श्री आदिनाथ के दीक्षा ग्रहणादि व्यापारों में जो लोग अनुचर होकर के सम्मिलित हुए थे अर्थात् कच्छ महाकच्छादि रूप से दीक्षा ग्रहण करके उपवास के साथ संसार सागर के पास निरन्तर आने-जाने के कारण सांसारिक वैषयिक सुखों को बहुत बड़े दुःख का कारण समझकर देवताओं से अधिष्ठित गंगा के प्रदेश वाले भूभाग को प्राप्त हुए अर्थात् वे गंगा के तट पर जटाधारी बनकर रह गये।

श्रीकृष्ण पक्ष—युद्धादि के समय में सहायक रूप से जरासन्ध के युद्ध आदि में संगत होने वाले लोग भी कृष्ण के द्वारा प्रयुक्त भेदनीति के प्रयोग से बहुत बड़ी समृद्धि से संकुल अथवा समुद्र के पार में विराजमान अतिपवित्र द्वारकापुरी में पहुंच गये। मंगल के उत्तरोत्तर सम्पादन करने के कारण निश्चित रूप से अत्यन्त ऐश्वर्यशाली प्रभु श्रीकृष्ण के विषय में चारों ओर से बढ़ते हुए अनुराग का अनुभव करके वे द्वारका में पहुंच गये।

यहां सभी अर्थ प्राकरणिक हैं अतएव इन अर्थों के बोध कराने में अभिधा नियंत्रित नहीं होती। सभी अभिधा व्यापार द्वारा ही गम्य हैं अतः ऐसे स्थलों में श्लेष अलंकार माना जाता है।

अर्थालंकार

सप्तसन्धाव में शब्दालंकारों के चमत्कार के साथ उपमा, रूपक, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, निदर्शना, समासोक्ति, व्याजस्तुति, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, परिसंख्या, अतद्गुण, उदात्त

आदि अर्थालंकारों का संयोजन सुनियोजित ढंग से हुआ है। अतएव प्रमुख अर्थालंकारों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

उपमा—यह अलंकारों का शिरोरत्न है इसलिए प्रत्येक कवि का ध्यान इसकी संयोजना में अवश्य रहता है। मेघविजय ने भी इसका सुन्दर प्रयोग किया है—

एवं सुरासुरकृताऽभिषवोत्सवश्री-
र्देवः प्रभावविभवाऽनुभवत्रयेण।
अंगुष्ठजामृतसमाशनलब्धिपूर्ण-
स्तूर्णं सनन्दभवने ववृधे शशी व ॥—सप्त० ३/११

"इस प्रकार सुर और असुरों के द्वारा जिसका अभिषेकोत्सव सम्पन्न किया जा चुका है, ऐसे भगवान् जिनेन्द्र स्तनपान को किये बिना ही अपनी भक्ति और शक्ति के लिए वशीभूत इन्द्र के द्वारा हाथ के अंगूठे में अमृत संचार कराके उसी को भोजन और पान रूप में प्राप्त करके अथवा अंगुष्ठ में व्याप्त अमृत का उत्तम भोजन प्राप्त करके पुष्ट होने लगे। प्रभाव (तेज) विभव (ऐश्वर्य) अनुभव (ज्ञान) त्रितय से प्रकाशमान भगवान् जिनेन्द्र ने प्राग दक्षिण द्वार प्रासाद में सम्पत्ति से अथवा पिता के घर में जो कुबेर के द्वारा समर्पित चांदी रत्न का सिंहासन और करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से समृद्ध प्रासाद में चन्द्रमा की तरह अल्पकाल में ही वृद्धि को प्राप्त किया।"

यहां जिनेन्द्रप्रभु उपमेय, चन्द्रमा उपमान, वृद्धि रूप साधारण धर्म तथा बाचक इव शब्द का प्रयोग होने से पूर्णोपमा अलंकार है।

लुप्तोपमा—उपमा के चारों अवयवों में से जब किसी एक या दो अथवा तीन का भी कथन न किया जाय अर्थात् किसी अवयव का लोप (अकथन) हो तो लुप्तोपमा होती है। यथा—

वामाऽभिरामांग्यचिराऽर्थसिद्धौ
शिवाऽऽख्ययाऽस्य प्रियकारिणीस्त्री।
श्रिया सुदेवीसहशीललीला,
कौशल्यकान्ताम्बुजलोचनश्रीः ॥—सप्त० १/६१

"राजा अश्वसेन की वामा नाम की भार्या थी, जो सभी कार्यों को शीघ्र सम्पन्न करती थी और अपने नाम से भी कल्याण का सम्पादन करती थी। उसके सभी अंग सुन्दर थे। वह पति की हितकारिणी थी। वह अपनी सुन्दरता और सौभाग्य से उत्तम देवी की तरह सदाचार सुस्वभाव विलासविशेष तथा गतिविशेष से प्रिय का अनुकरण करने वाली थी। कार्यकुशलता के कारण प्रशंसनीय थी। उसके नेत्र कमल के समान शोभाशाली थे।

यहाँ पर 'अम्बुजलोचनश्रीः' पद से लुप्तोपमा प्रतीत हो रही है, क्योंकि 'अम्बुजस्य इव लोचनस्य श्रीः यस्याः सा' इस विग्रह में प्रतीत होने वाला वाचक इव का समस्त पद हो जाने पर लोप हो गया है अतएव वाचक लुप्तोपमा स्पष्ट है।

काव्य में प्रायः श्लेष का ही चमत्कार है इसलिए श्लेषमूलक उपमा आदि के उदाहरण भी प्राप्त हो सकते हैं।

बाल्यं व्यतीत्यतरुणस्तरुणैवसाम्यं,
धत्ते फलैरपि कलैः किशलैर्दलैर्वा।
सम्पूर्णतामनुनयन सुमनोभरेण,
सामोद-एव कृतया-वनसम्पदा स्यात्॥ — सप्त० ३/१८

"कुमार बचपन बिताकर युवावस्था में वृक्ष के सादृश्य को धारण करने वाला हो गया है। वृक्ष फलों से और कुमार परोपकार आदि कार्यों से, वृक्ष पक्षियों के मधुर और अव्यक्त शब्दों से तथा कुमार कलाओं से, वृक्ष पल्लवों से और कुमार पल्लवों के समान सघन सैन्यों से, वृक्ष पुष्प समृद्धि से सम्पूर्णता को प्राप्त होने वाला और पंडित वर्ग से कुमार परिपूर्णता को प्राप्त करने वाला, वृक्ष वन सम्पदा से और कुमार अवन (रक्षण) सम्पत्ति से, सामोदवृक्ष अनुपम सुगन्धी से युक्त और कुमार आनन्द से युक्त होकर दोनों परस्पर सदृश हुए।"

यहां कलैः और किसलैः पदों से अनेकार्थ प्रतीति के साथ-साथ उपमा भी प्रतीत हो रही है, इसलिए श्लिष्टोपमा की स्थिति स्पष्ट है।

रूपक—कवि के लिए अर्थालंकारों में रूपक अधिक प्रिय जान पड़ता है, क्योंकि कवि ने अनेक स्थलों पर रूपक की सुन्दर योजना की है। सर्वप्रथम मंगलाचरण में ही रूपक अलंकार का प्रयोग देखने को मिलता है—

श्रीनाभिजन्माऽन्वयपद्मभास्करः,
स्तुतोऽञ्चितः श्री मुनिसुव्रतान्वये।
जिनः शिवायास्तु दधद्महोदयं,
सभासतां यद्भजने जयाश्रयः॥—सप्त० १/१

जिनकी (ऋषभदेव आदि) सेवा करने पर सभ्यजन बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, वे श्रीमान् नाभिराय के पुत्र अपने कुलकमल के दिवाकर, श्रीमान् मुनियों और उत्तमवृतयुक्त जनों के समूह में पूजित इन्द्रादि के द्वारा स्तुत्य, ३४ अतिशयों की समृद्धि रूप महान् ऐश्वर्य को धारण करने वाले रागादि दोषों को जीतने वाले भगवान् जिनेन्द्र (ऋषभदेव) भव्य-पुरुषों के कल्याण

के साधक हों।"

यहां अन्वय के ऊपर पद्म का आरोप तथा जिनके ऊपर भास्कर का आरोप होने से तथा उपमान उपमेय दोनों के शब्दोपात्त रहने के कारण रूपक अलंकार की स्पष्ट प्रतीति हो रही है।

भरतक्षेत्र का वर्णन करते हुए कवि ने सांगरूपक की अनुपम संयोजना प्रस्तुत की है—

क्षेत्राऽवनीशोऽब्धिदुकू-लवास—
स्तत्र प्रभासो मगधाधिवासः।
पादौ, वराद् दामगिरिर्नितम्बः,
क्षेत्रस्य नास्त्येव ततोऽस्यबिम्बः॥—सप्त० १/२०

'समुद्र जिस भरतक्षेत्र का दुकूल है तथा प्रभास एवं मागध तीर्थ दोनों पैर हैं, वरदाम पर्वत जिसका नितम्ब है, इसलिए इस (क्षेत्र) का सादृश्य कहीं नहीं है।

यहां क्षेत्र के ऊपर अवनीश, समुद्र के ऊपर दुकूल, प्रभास एवं मागध तीर्थों पर पैरों और वरदाम पर नितम्ब का आरोप होने से सांगरूपक की स्पष्ट प्रतीति हो रही है।

उल्लेख—ज्ञाता अथवा विषय भेद से यदि एक वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन हो तो उल्लेखालंकार होगा।[11] यथा—

नृपेन्द्रभावे जयवाहिनीयं,
तद्वैष्णवे साकमलाऽवतीर्णा।
तद्राजयोगे खलुरोहिणीव,
व्यावर्णनीया बहुलब्धवर्णैः॥—सप्त० १/६८

'वह रानी अपने पति को देवराजत्व बोधन में जयन्त को धारण करने वाली शची रूपा है। विष्णुरूपता में वह लक्ष्मी रूप को धारण करने वाली है और चन्द्ररूपता के सम्बन्ध में रोहिणी रूपवती है। इस प्रकार कवियों के द्वारा विशेष वर्णनीय सिद्ध हुयी।

यहां पर एक ही रानी का जयवाहिनी, लक्ष्मी, रोहिणी आदि अनेक रूप से वर्णन किया गया है, अतएव अनेकथा उल्लिखित होने से उल्लेख अलंकार है।

उत्प्रेक्षा—कवि कल्पना का धनी है। उसने दृष्टि और स्मृति द्वारा संचित किए गए ज्ञान को कल्पना से व्यवस्थित और आनन्दप्रद बनाया है। उत्प्रेक्षा की उत्पत्ति इसी कल्पना से हुयी है। नगरी के वर्णन प्रसंग में कवि की कल्पना

दर्शनीय है—

सूनोरनूनोदयमत्रधैर्याद्,
रमाऽवधार्येव दधौस्थिरत्वम् ।
बालश्चलत्वं विजहौमहौजा—
स्तत्किंमया धार्यमितिह्रियेव ॥—सप्त० १/४६

'लक्ष्मी ने अपने पुत्र काम की इस नगर में अत्यधिक अभिवृद्धि का निश्चय करके मानो धैर्य से निश्चलता को धारण किया। मेरे पुत्र कामदेव ने महाबलशाली और प्रकृत्या चपल होते हुए भी जब चंचलता को छोड़ दिया है। अतः उसकी मां होने के कारण क्या मुझे चंचलता धारण करनी चाहिए। यदि चंचलता धारण करूं तो लड़के से भी न्यून हो जाऊं मानो इसी लज्जा से लक्ष्मी ने स्थिरता को धारण किया।"

यहां अवधार्य इव, ह्रिया इव इन दोनों पदों में प्रयुक्त इव पद से उत्प्रेक्षा अलंकार वाच्यविधेया प्रतीत हो रहा है। उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण और द्रष्टव्य है —

चिन्तामणिर्जलधिमध्यमिवाध्युवास,
कल्पद्रुमादिव मिवारुरुहुर्ह्रियेव ।
नृणां तदाऽनृणकृतां भजनाज्जनानां,
न्याय्ये चरिष्णुरिति राज्यबलेतदीये ॥—सप्त० ३/४६

"उस समय जिनेन्द्र महाप्रभुओं की नीति का अनुसरण करके चलने वाले साम्राज्यों में कोई व्यक्ति, ऋण लेने वाला नहीं हुआ, इसलिए चिन्तामणि मानों लज्जा से समुद्र के भीतर प्रविष्ट हो गया अर्थात् जिस प्रकार पराजय-मूलक लज्जा को प्राप्त करके कोई पानी में डूब मरता है, उसी तरह प्रभु के शासन में समग्र चिन्तित समृद्धि को प्राप्त किए हुए लोगों के समान लज्जित होकर मानो यह समुद्र में डूब गया और कल्पवृक्ष मानो लज्जा के कारण ही स्वर्गारोहण कर गये।"

यहां पर 'आरूरुहुरिव' इस क्रिया पद के साथ इव का प्रयोग होने से क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है।

अतिशयोक्ति - श्रेष्ठ राजाओं के कारण उनकी सेना और पृथ्वी के अतिशय गौरव को प्रदर्शन करने में अतिशयोक्ति अलंकार की सुन्दर योजना हुयी है—

श्रीविश्वसेनाऽवनिपं तमाप्य—
ज्योत्स्नेव तापं सहसाऽपजह्रे ।

चलाचलानां च खलानलानां,
सुधाऽभिषिक्ता वसुधातदाऽभूत् ।।—सप्त० १/५६

"विश्वसेन प्रभृति राजा को प्राप्त करके शोभायुक्त समग्र सेना ने चन्द्रिका की तरह अत्यन्त चंचल स्वभाव वाली अग्नि की तरह सन्ताप जनक खलों से उत्पन्न दुर्जनता जनक उपद्रव को सहसा छोड़ दिया और पृथ्वी भी उस समय राजाओं के प्रभाव से दुर्जनों का दमन करके पूर्णतया अमृत की तरह जल से अभिषिक्त हो गयी थी।"

प्रस्तुत स्थल पर 'सुधाऽभिषिक्ता' इस पद में जल का निगरण होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है।

श्लेषमूलक अतिशयोक्ति अलंकार का एक अन्य उदाहरण को प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्रीड़ाऽऽस्पदं यद् भरतं रमाया,
जनस्ततोऽस्मिंश्चरतः प्रमायाम् ।
रत्नप्रसक्तो निगमः क्षमाया,—
मायास वर्जं बहुलक्षमायाः ।।—सप्त० १/२४

"जो भरतक्षेत्र लक्ष्मी का लीला निकेतन है इसलिए इसमें लक्ष्मी के नित्य निवास करने के कारण यहां के निवासियों को शरीर रक्षा इत्यादि की चिन्ता नहीं रहती है। वे यथार्थ ज्ञान (प्रमार्थक ज्ञान) में और उस ज्ञान के साधन सत्कर्मों में सदा निरत रहते हैं। रत्नसंग्रह में तत्पर और लाखों लाख सम्पत्ति को प्राप्त करने वाले हैं। यहां का वणिक वर्ग (व्यवसायी लोग) बिना प्रयास के ही पर्याप्त सम्पत्ति प्राप्त करता है क्योंकि यहां की पृथ्वी रत्नगर्भा है। वाणिज्य का मार्ग बिना प्रयास के ही रत्नप्रापक है।"

प्रस्तुत पद्य की अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त 'बहुलक्षमायाः' पद से 'बहवः लक्षाः सन्ति यस्याः सा मा अथवा बहूनां लक्षानां—लक्षसंख्याकानां पंक्तीर्ना समाहारः इति बहुलक्षं तदात्मिका मा (लक्ष्मीः) तां याति प्राप्नोतीति' इस विग्रह से लक्ष रूप उद्देश्य के ऊपर लक्षसंख्या का अध्यवसाय होने से श्लेषमूलक साध्यवसाना अतिशयोक्ति लक्षित हो रही है।

तुल्ययोगिता—जहां अनेक प्रस्तुतों (उपमेयों) अथवा अनेक अप्रस्तुतों (उपमानों) का एक धर्म कहा जाय वहां तुल्ययोगिता अलंकार होता है।[12] यथा—

यद् गोरसाधिक्यमुदेतिलोके—
खलस्यपर्यायविनाशनेन ।

संभाव्यतेऽस्मादमृताशनस्यां—
धिकाधिकाराद्विबुधात्मनैव ।।—सप्त० १/१२

"लोक में खलि के खा लेने से गोरस (दुग्ध आदि) की प्रचुरता उत्पन्न होती है। इसलिए गोरस के आधिक्य होने से दुग्ध घृत आदि से युक्त भोजन के निरन्तर प्रचार से पण्डितरूपता की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि शुद्ध आहार एवं विहार से निर्मल बुद्धि होना स्वाभाविक है।

द्वितीय अर्थ—दुर्जन के पर्याय नृशंस, घातक कर आदि जो शब्द हैं उनके निराकरण से वाणी के आस्वाद विशेष की समृद्धि होती है अथवा पृथ्वी के रस अर्थात् क्षमा आदि का आधिक्य प्रकाशित होता है। इस गोरस के आधिक्य से अमृत भक्षी देवता के अत्यधिक सम्बन्ध से सभी में देवत्व की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है।"

यहां पर अप्रस्तुत खल और अप्रस्तुत देवत्व इन दोनों का विबुधात्मता रूपी एक धर्म होने के कारण तुल्ययोगिता अलंकार है।

दीपक—जहां उपमेय और उपमान का एक ही धर्म कथित हो वहां दीपक अलंकार होता है।[13] यथा—

व्यर्था सपक्षरुचिरम्बुजसंधिबन्धे,
राज्ञो न दर्शनमिहास्तगतिश्च मित्रे।
किं किं करोति न मधु-व्यसनं च दैवा—
दस्माद् विचार्य कुरु सज्जन ! तन्निवृत्तिम् ।।—सप्त० ७/९

"वसन्त के आने पर उसके पक्षपाती कोयल में प्रीति दृढ़ हो जाती है और पुष्पों के पराग से आकाश धूसरित हो जाता है, जिससे चन्द्रमा के दर्शन नहीं होते और सूर्योदय होने पर राजा (चन्द्रमा) अस्त हो जाता है। इसी प्रकार मद्यपान का व्यसन जिस राजा को लग जाता है, तो वह शिकार खेलने में शर सन्धान की रुचि करने लगता है। कमलों के संकुचित होने पर उसमें प्रेम व्यर्थ समझता है एवं मदमत्तावस्था में किसी को दर्शन भी नहीं देता। मित्रों के विषय में उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इस प्रकार मद्य का प्रभाव इतने समर्थ लोगों पर भी बहुत बुरा पड़ता है। इसलिए विचार करके हे सज्जनो ! इससे मुख मोड़ लो।"

यहां पर प्रस्तुत राजा चन्द्रमा के अप्रस्तुत किसी अन्य राजा के साथ समान धर्म का कथन होने से दीपक नामक अलंकार की स्थिति है।

दृष्टान्त—उपमेय और उपमान जब साधारण धर्म युक्त, बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रूप से होते हैं वहां दृष्टान्त अलंकार होता है। यथा—

सम्यक्कलाकुशलताध्ययनं विनास्य,
लोकेऽन्यागौरवधियाऽध्ययनं प्रपद्य ।
सूर्यः करोति भुवनं प्रकटं स्वतस्तत्,
किं पाटवेऽस्यघटते परसम्पराय: ।।—सप्त० ३/२४

"संसार में सामान्य लोग गुरु के पास अध्ययन करके कला कुशलता को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये वर्णनीय सातों महापुरुष अध्ययन के बिना ही कला कुशलता को प्राप्त हुए। जैसे सूर्य सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड को स्वयं प्रकाशित करता है, उसे जगत् को प्रकाशित करने में दूसरों की सहायता अपेक्षित नहीं होती है। इन चरित्र नायक सातों महापुरुषों की कला कुशलता गुरु शुश्रूषा के बिना ही प्राप्त थी किन्तु लोक में दूसरे लोग इस प्रकार का आचरण करें, इस बुद्धि से गुरुकुल में निवास करके कला कुशलता प्राप्त की।

यहां पर ऋषभ आदि महापुरुषों के साथ सूर्य का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव दर्शाया गया है। अतएव दृष्टान्त अलंकार स्फुट है।

निदर्शना—जहां दो असम्बद्ध बातों को उपमा के आधार पर समन्वित किया जाता है वहां निदर्शना अलंकार होता है। यथा—

यत्रार्कसूतिरभवद् बहुलातपश्री,
रामाभियोगकलया विलयाद् शुकादेः ।
आमोदमोदकरसादवशाशनेन,
चित्रातिशायिनि विधौ परशासनेन ।।—सप्त० ७/१५

"जिस वसन्त ऋतु में आतप की श्रीवृद्धि हो गयी। पत्तों के गिर जाने से या शुक पक्षी के आकाश में लीन हो जाने से अथवा शोक आदि के विनष्ट हो जाने से मृग के सम्बन्ध की कला से अथवा रमणी के सम्बन्ध के आकलन से प्रचुर सुगन्ध से हर्ष उत्पन्न करके विषाद को पराभूत करने से चित्रा नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा के होने पर अत्यन्त उत्कृष्ट जो शासन उससे उपलक्षित अर्कसूति (मन्दार पुष्पों) का उद्गम हो गया।"

राम कृष्ण पक्ष—सूर्यवंश में उत्पन्न होने वाले राम अथवा सूर्य के पुत्र कर्ण या सुग्रीव घनीभूत आतप की शोभा के समान शोभा वाले शोक आदि के विलय हो जाने से सीता के सम्बन्ध संकलन अथवा तारा के सम्बन्ध के संयोग से हर्ष के कारण सुखकर होने से विषाद को समाप्त करने वाले आश्चर्य रूप से भाग्य के अनुकूल हो जाने पर शत्रु के ऊपर शासन करने से राम कर्ण या सुग्रीव सुशोभित हुए।

यहां पर आतप की उज्ज्वलता वाले सूर्य आदि हैं और परसन्तापकारी प्रताप

रखने वाले राम आदि हैं इन दोनों में उपमान-उपमेय भाव की परिकल्पना से निदर्शना अलंकार है।

समासोक्ति—शिष्ट विशेषणों के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थों की योजना करके कवि ने अलंकार का संयोजन किया है। यथा—

तमीश्वरं प्राप्य तमीश्वराभं
समर्थसिद्धार्थ कृतार्थभावात्।
कराग्रहात् तुल्यमनाधरा ऽऽसीत्
स्वयं स्वयम्भूदयनात्प्रियेव ॥—सप्त० १/६०

"चन्द्रमा के समान विश्वसेन प्रभृति राजा (स्वामी) को पाकर पृथ्वी कार्य सम्पादन समर्थ अथवा लोगों के सभी प्रकार के मनोरथ पूरा करने के कारण एवं धान्यादि के निष्पादन से सफल होने के कारण कृतार्थ हो गई। राजाओं के द्वारा ग्रहण करने योग्य (टैक्स) के ग्रहण न करने से एवं विष्णु के सदृश रक्षा करने से अथवा पृथ्वी का स्वयं प्रत्यवेक्षण करने से पृथ्वी प्रिया की भांति प्रसन्नतापूर्वक हृदयहारिणी हो गयी।"

अप्रस्तुत वनिता पक्ष—"वनिता चन्द्रमा के समान सुन्दर पति को प्राप्त करके उसकी सुरतादि क्षमता से मनोरथों को सम्पन्न करके उत्तम सन्तान आदि को जन्म देकर कृतकृत्यतावश योग्यपुरुष के द्वारा पाणिग्रहण होने से काम सम्बन्धी विकारों के आविर्भाव से अथवा स्वयं उत्पन्न होने वाले स्तनों के उत्थान से सदा प्रसन्न चित्त वाली पति में प्रीति उत्पन्न करने वाली प्रिया होती है। उसी प्रकार उन राजाओं को प्राप्त करके वसुन्धरा भी राजाओं की प्रीति की सम्पादिका बनी।"

यहां पर श्लिष्ट विशेषणों के कारण अप्रस्तुत व्यवहार का आरोप हुआ है, जैसे ईश्वर के ऊपर नायक के व्यवहार का आरोप तथा धरा के ऊपर नायिका के व्यवहार का आरोप हुआ है। उस आरोपित व्यवहार के सहायक 'कराग्रहात् स्वयम्भूदयनात्' पदों से पाणिग्रहण तथा काम का उदय आदि है अतः समासोक्ति अलंकार है।

व्याजस्तुति—जब निन्दा का पर्यवसान स्तुति में और स्तुति का पर्यवसान निन्दा में होता है, तब व्याजस्तुति की परिस्थिति उपस्थिति हो जाती है। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा है—"वाच्य निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर और वाच्य स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति अलंकार होता है।"[14] यथा—

मुखेन दोषाकरवत् समानः,
सदा-सदम्भः सवने सशौचः ।
काव्येषु सद्भावनयानभिज्ञः,
किं वन्द्यते सज्जनवन्नीचः ।।—सप्त ०१/५

"दुर्जन सज्जन की तरह वन्दनीय क्यों नहीं ? जबकि ये दोनों (सज्जन और दुर्जन) में कार्यानुसार समानता ही लक्षित होती है। सज्जन पुरुष अपने मुख से दोषाकर (चन्द्रमा) के समान सम्मानयुक्त हैं और दुर्जन भी अपने मुख से दोषाकर (दोषों की खान) के समान हैं साथ ही वह साहंकार भी है। सज्जन सत्य रूप जल में अवगाहन करने से निर्मलता युक्त होता है अर्थात् सज्जन सदा सत्यनिष्ठ है और दुर्जन दम्भ सहित मद्यपान आदि के सम्बन्ध में सदैव अशुचि (अपवित्र) रहता है। सज्जन पुरुष काव्य की उत्कृष्ट भावना से अनभिज्ञ नहीं रहता और दुर्जन गतिहीन होने से अपटु रहता है। इस तरह से लगभग दोनों समान हैं तो तुल्य वन्दना क्यों नहीं होती।"

यहां 'दोषाकर' द्वारा 'चन्द्र' अर्थ की प्रतीति हो रही है किन्तु श्लेष के द्वारा 'दोषाणाम् आकरः' इस व्युत्पत्ति द्वारा दोष की खान अर्थ से निन्दा की भी अभिव्यक्ति हो रही है। इसलिए निन्दा के व्याज से स्तुति की गयी है सो व्याजस्तुति अलंकार है।

कहीं-कहीं स्तुति के व्याज से निन्दा की जाती है। जो निम्न उदाहरण में द्रष्टव्य है।

खलादरो यश्च गवां स्वभुक्तौ
भवेत्पशुनामुचितो न नृणाम्।
स गो पतित्वाद् यदि भूपसर्गे,
तत्पाशुपत्यं ध्रुवमीश्वरस्य ।।—सप्त० १/६

"खल-खली (तिल की खली) का आदर पशुओं में ही पाया जाता है, मनुष्यों में नहीं। अर्थात् खल (खली) को पशु ही पसन्द करते हैं। मनुष्यों के मध्य में खल (दुष्ट) का सम्मान नहीं होता। कदाचित् यदि खल (व्यक्ति) पृथ्वी का अधिपति बन जाये, तो निश्चय ही इससे विधाता का पाशुपत्य (मूर्खत्व) प्रकट होगा।"

यहां पर स्तुति के व्याज से निन्दा अभिव्यक्त हो रही है। अतः यह भी व्याज स्तुति अलंकार है।

विरोधाभास—एक ही व्यक्ति में दो विरोधी गुणों का वर्णन करते हुए कवि ने इस अलंकार की योजना की है। यथा —

ये कामरूपा अपि नो विरूपाः,
कृताऽपकारेऽपि न तापकाराः।
सारस्वता नैव विकर्णिकास्ते,
कास्तेजसां नो कलयन्ति राजीः ।। —सप्त० १/३८

"जो कामरूप (कामदेव के समान अवगत रूप) हैं, वे विरूपा : (रूप रहित नहीं) हैं। जो इच्छा रूप (सुन्दर रूप) वाला है वह विपरीत वेष वाला नहीं है। अपकार करने पर भी सन्ताप देने वाला नहीं है। सापराध होने पर भी कष्टप्रद नहीं है। पण्डित होने पर भी नाना प्रकार की लेखन सामग्री से रहित है। विद्वान् होने पर भी कर्णभूषण से रहित है। वह किन-किन तेजस्वी गुणों की राशि को धारण नहीं करता अर्थात् समग्र को धारण करता है।"

यहां पर जो कामरूप है, वह विरूप कैसे, जो कृतापकारी है तापकारी क्यों नहीं है इत्यादि पदों से विरोध आपाततः प्रतीत हो रहा है, किन्तु विरूप की 'विगतं रूपं येषां ते' अर्थात् आकार रहित इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विरोध का परिहार हो जाता है। अतएव विरोधाभास अलंकार स्पष्ट है।

अर्थान्तरन्यास—विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का समर्थन कर अर्थान्तरन्यास की योजना की जाती है। यथा—

उच्छृंखलात्किं खलतो न बिभ्येत्,
सभ्यस्तथेभ्यः परमार्थनाशात्।
नाशा ह्यनाशा किमु वर्धनीया,
श्रुत्याविहीनस्य सकर्णतायाम् ।। —सप्त० १/६

"सभ्य और धनाढ्य व्यक्ति अपने सम्मान और धननाश के भय से अदण्ड खल से भयभीत रहते हैं। शास्त्राभ्यास से रहित बधिर व्यक्ति औषधि आदि के सेवन से अपने बधिरत्व को दूर कर शास्त्रज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार से खल भी उपदेश शिक्षण आदि के द्वारा उदण्डता को छोड़ सज्जनता प्राप्त कर सकता है।"

यहां पर सज्जन का भय रूप सामान्य पदार्थ का कर्णविहीन अथवा शास्त्र-विहीन व्यक्ति कर्ण अथवा शास्त्र सम्पादन हेतु अपरिच्छिन्न आशा का बढ़ाना रूप विशेष से समर्थन हो रहा है। अतएव यहां अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

काव्यलिंग—देशों के वैभव का वर्णन करते हुए कवि ने काव्यलिंग अलंकार की सुन्दर संयोजना की है। यथा—

यत्सूपदेशो बहुधान्यकार्यं,
करोतिलाधण्यसुसंस्कृतार्थः ।

विशालतातस्य सरोऽनुसारात्,
क्षुद्रस्ततोऽन्यस्यनुकूपदेशः ।। —सप्त० १/३५

"जिस देश का सुन्दर समीपवर्ती भाग है। सौन्दर्य से परिष्कृत वस्तुओं से एवं प्रचुर धान्य आदि (इनली, अन्न) रूप कार्यों का सम्पादन करता रहता है। उस देश की विशालता विशाल सरोवर के समान है। उससे भिन्न भूभाग का समीपवर्ती भाग कुत्सित रूप से उपलब्ध होता है अथवा यह देश सरोवर के समान है, अन्य देश कूप के समान तुच्छ हैं, अतएव अन्य देश निवास के योग्य नहीं है।

द्वितीय अर्थ—जिस पण्डित का सुन्दर उपदेश अर्थात् हितानुशासन प्रसाद आदि गुण सौन्दर्य से अत्यन्त विभूषित अर्थों से युक्त रहता है एव अनेकों प्रकार से उपदेश के अतिरिक्त आह्लादकारीकार्यों को प्रगट करता है। उस उपदेश का विस्तार ज्ञान के अनुसार है। उससे भिन्न दूसरों के उपदेश कुत्सित हैं। अतएव क्षुद्र होने से अग्राह्य हैं।

यहाँ पर 'लावण्य सुसंस्कृतार्थ' आदि हेतुओं के द्वारा उपदेश द्योतित हो रहा है इस उपदेश के समक्ष अन्य जो उपदेश हैं, वह 'कूपदेश': पद के श्लिष्ट प्रयोग से 'कुत्सित उपदेशः' कूपदेशः, कुत्सित उप-समीप देशः-कूपदेशः इस प्रकार श्लेषमूलक काव्यलिंग की प्रतीति होती है।

परिसंख्या—जहाँ वस्तु के अन्य स्थान में विद्यमान रहने पर भी वहाँ से उसका अभाव दिखाकर उसको अन्य स्थान में नियंत्रित कर दिया जाय तो परिसंख्या अलंकार होता है। कथन के पृष्ट और अपृष्ट होने के कारण इस के दो भेद होते हैं।[15] यथा—

न वामनस्य प्रकृति द्विधापि,
न संनिभं कोऽपि बिभर्तिरूपम्।
नालीकनाम्नोऽस्त्रवरे प्रयोगो,
भोगे च नालीकमनाजनोऽस्यात् ।। सप्त०—१/४९

"इस नगरी में कोई भी व्यक्ति मन और वचन से भी दुःखात्मक प्रकृति का नहीं हुआ, और कोई भी व्यक्ति वामन (ठिगने कद की) आकृति को धारण नहीं करता है। श्रेष्ठ अस्त्र विशेष में नालीक नाम का प्रयोग चलता था किन्तु सुख अथवा भोजन आदि के विषय में कोई व्यक्ति निष्फल चित्त वाला नहीं दिखायी देता था।"

यहां एक स्थान से हटाकर वस्तु को दूसरे स्थान में प्रयुक्त किया गया है, अतएव परिसंख्या अलंकार की प्रतीति हो रही है।

अतद्गुण—अत्यन्त उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु का योग होने पर भी उसके गुण

का अनुसरण न करना असद्गुण अलंकार है अर्थात् योग्यता के होते हुए भी न्यून गुण वाला पदार्थ अन्य (उत्कृष्ट गुण वाले निकटवर्ती पदार्थों के गुणों को ग्रहण न करे तो वहां असद्गुण अलंकार होता है।[16] यथा—

दिव्या-गमाः पवनदुर्यवनावधूता,
भूता इवातिबिषमाकृतयः स्फुरन्ति।
जाड्यान्न तत्समुचितं बहुपात्रयोगे,
ऽप्येषां यतः फलबले रसभेद एव ॥—सप्त० ३/४४

"वायु के प्रचण्ड वेग से विकम्पित कल्पवृक्ष आदि भूत की तरह भयानक रूप में दिखायी दे रहे हैं। अनेक सत्पात्रों के इकट्ठे होने पर स्थावर होने के कारण बाह्यज्ञान की विमुखता से याचकों की ओर से परांगमुख होना उचित नहीं, क्योंकि विमुखता के कारण रस भंग हो जाता है। अर्थात् कल्पवृक्षों की जो दानवीरता थी वह इस समय विमुखता और भूताभिनिवेश से भयानक हो गयी।"

प्रस्तुत स्थल में उत्कृष्ट गुण वाले कल्पवृक्ष आदि का समीप में रहने वाले अन्य स्थावर (वृक्ष) अनुसरण करते हुए नहीं प्रतीत हो रहे हैं, अतएव अतद्गुण अलंकार लक्षित होता है।

उदात्त—जहां किसी वस्तु की सम्पत् (बड़प्पन) का वर्णन किया जाय वहां उदात्त अलंकार होता है।[17] यथा—

पात्राण्यमर्त्या ननृतुः पदे पदे,
समुन्ननादाऽऽनकदुन्दुभिर्मुदे ।
घनाघनस्य भ्रमतो वदावदे,
मयूरवर्गे नटनान्निसर्गतः ॥— सप्त० २/८

"सुर नर आदि की प्रसन्नता के लिए प्रोत्साहन देने वाली दुन्दुभि बजने लगी और देवता लोग नाट्य क्रिया के अभिनय शील नायक आदि का रूप धारण करके प्रत्येक स्थान में नाचने लगे अथवा दिव्य नाट्यों के सम्पादन करने वाले अभिनेताओं को अर्थात् गन्धर्व, अप्सरा आदि को नचाने लगे, क्योंकि वर्षाकालिक मेघ के आकाश में संचरण करने से बार-बार केका ध्वनि करने वाले मयूर वर्ग में स्वभावतः नृत्यप्रवणता के दर्शन करने से देवता लोग नाचने लगे।"

यहां पर बताया गया है कि तीर्थंकर बालक के जन्म लेने से समस्त प्राणी नाच उठे। उत्साहदायक नगाड़े बजने लगे। मयूर वर्ग स्वभावतः मेघ दर्शन की भांति सानन्द नृत्य प्रवण हो गये। यह सब जन्म का प्रभाव ही था, इसलिए उक्त लक्षण के अनुसार उदात्त अलंकार स्पष्ट है।

संकर— जहां पर अनेक अलंकार मिश्रित हों किन्तु उनमें साजात्यातिशय के कारण पृथकता सुस्पष्ट न होती हो अथवा प्रधान और अप्रधान भाव विद्यमान रहता हो, अथवा एक ही वाचक शब्द से अनेकविध समासादि के द्वारा उपमा, रूपक आदि अलंकारों की सम्भावना रहती हो तो वहां सन्देहसंकर, अंगांगिभाव-संकर और एकवाचकानुप्रवेश सकर माना जाता है।

अंगांगिभावसंकर—अपने स्वरूप मात्र में जिनकी विश्रान्ति न हो (जो परस्पर निरपेक्ष स्वतंत्ररूप से अलंकार न बनते हों) उनका अंगांगिभाव होने पर संकर होता है।[18] यथा—

तत्राऽवतीर्णस्त्रिदशावतारो,
सुरः प्रभाभासुर एव कश्चित्।
आपन्नसत्वा मणिनेव भूमी,
राज्ञी विरेजे गरभाऽनुभावात्॥—सप्त० १/७६

"उस समय कान्ति से देदीप्यमान देव जो तेतीस मुख्य गणों से युक्त हैं, वे अंशावेश से प्रादुर्भूत होने के कारण स्वभाव वाले कोई दिव्य जीव रानी के गर्भ में प्रविष्ट हुआ। तदनन्तर वह राजरानी गर्भवती होने के बाद गर्भ के प्रभाव से इस प्रकार सुशोभित हुयी जिस प्रकार गर्भस्थ रत्न से वसुन्धरा सुशोभित होती है।"

यहां काव्यलिंग अर्थात् दीप्तिमत्ता का कारण गर्भ को बतलाकर काव्यलिंग और गर्भस्थरत्न से सुशोभमान पृथ्वी के समान अपने गर्भस्थ शिशु से दीप्तिमती रानी को उपमित करने से उपमा अलंकार है। अतः काव्यलिंग के उपमा का अंग होने से अंगांगिभाव संकर की सत्ता स्पष्ट होती है।

इसके अतिरिक्त संदेहसंकर और एकाश्रयानुप्रवेशसंकर के भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

संसृष्टि—जहां अनेक अलंकार परस्पर निरपेक्ष होकर रहते हों, सबकी सत्ता स्वतंत्र रूप से परिस्फुटित होती हो एवं सब मिलकर उस पद्य की शोभा बढ़ाने में सहकार करते हों तो वहां तिलतण्डुलवत् संसृष्टि मानी गयी है।

स्वप्नान् विलोक्याऽम्बुनिधिप्रमाणान्,
स्वच्छाशयैवद्विगुणान् यथार्हम्।
असंशयानाऽप्यभृशंशयाना-
राज्ञीस्मराज्ञीकृतविश्वरूपा॥—सप्त० १/७५

"निर्मल मन वाली अनुपम सौन्दर्यशालिनी त्रिशला पटरानी ने चौदह स्वप्न

देखे। वासुदेव की माता ने तो केवल सात ही स्वप्न देखे और वलदेव की माता ने चार स्वप्नों को यथोचित रूप में देखकर उनके फल के सम्बन्ध में संशय रहित होकर स्वप्नदर्शन के अनन्तर निद्रा का परित्याग कर दिया।

प्रस्तुत पद्य में अम्बुनिधि शब्द से श्लेष द्वारा सात और चार संख्या का बोध किया गया है अतः श्लेष अलंकार है और असंशयाना, अभ्रशंशयाना इन दोनों पदों में शयाना शब्द की आवृत्ति होने से यमक अलंकार उपस्थित है। 'राज्ञीस्मराज्ञी' पद में राज्ञी राज्ञी दो बार उपस्थित हुआ है अतः छेकानुप्रास अलंकार भी है।

सभी अलंकार परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि का रूप धारण करते हैं।

छन्दो-विधान

कवि के कमनीय काव्यगत भावों की अभिव्यक्ति कतिपय निश्चित छन्दों के अन्तर्गत नियमित हुआ करती है। कारण यह है कि यदि भाव सुन्दर हैं और उनका सन्निवेशन भी शोभन एवं मर्यादित हुआ है, तो वहां औचित्य का निर्वाह सम्भव है और वही रसाभिव्यक्ति में परोपकारक होता है। ऐसी स्थिति में छन्द यदि एक तरफ काव्य के लिए आवरण हैं, तो दूसरी ओर उनके द्वारा काव्य में औचित्य का निर्वाह भी संभाव्य है।

काव्य में यह छन्दो-विधान एक अच्छे कवि की हृदयस्पर्शी कल्पनाओं एवं भावों को और भी अधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक होता है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के वर्ण पृथक्-पृथक् रसों के अभिव्यंजक होते हैं, उसी प्रकार छन्दों का विभाजन भी रसादि की व्यंजना के आधार पर ही किया जाता है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है—निर्दोष गुणयुक्त एवं सुन्दर वृत्तों में मौलिक की भांति निवेशित प्रबन्ध अति सुशोभित होता है, अतएव काव्यकारों को रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार छन्दों का विभाजन कर उनका प्रयोग करना चाहिए।[19]

प्रकृत काव्य में प्रायः भाव एवं वर्णन के अनुरूप ही छन्दों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। शृंगार के आलम्बन स्वरूप उदार नायिका के वर्णन प्रसंग में उपजाति (छन्द) का प्रयोग उपयुक्त होता है।[20] मेघविजय ने भी अश्वसेन प्रभृति राजाओं की रानियों के उदार स्वरूप वर्णन के सन्दर्भ में उपजाति छन्द की सुन्दर योजना की है। यथा—

सौभाग्यमस्याः प्रवदेत् समस्या-
ख्यानात् सुधावा सकलार्थसिद्धिः।
सुधाऽधरस्था, करपद्मगाऽन्या,
तत्तुल्यता वस्तु न जीव लोके ॥—सप्त० १/६४

इसी प्रकार उदारता रुचि औचित्य आदि गुणों के वर्णन के लिए हरिणी छन्द उपयुक्त माना जाता है।[21] मेघविजय इस प्रसंग में भी उक्त नियम का अनुवर्तन करते हुए प्रतीत होते है, जैसे—जिनेन्द्र महाप्रभु की वन विहार एवं तपस्या आदि के प्रति रुचि और औचित्य के वर्णन प्रसंग में हरिणी का ही प्रयोग करते हैं। यथा—

कमपि मनसा नाधान्नाथः प्रियं यदि वाऽप्रियं,
कलिलमपि त्यक्तुं व्यक्तः क्वचित्प्रययौ रहः।
क्वचनविजने तस्थौ स्वस्थो रक्ष न रक्षकं,
न खलु परतो रक्षापेक्षा प्रभौ हरिणाश्रिते ॥—सप्त० ५/९

इस प्रकार कवि ने भावानुरूप छन्दों का सम्यक् निर्वाह करते हुए प्रकृत काव्य में लगभग १४ छन्दों का प्रयोग किया है। इनमें उपजाति छन्द का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त इन्द्रव्रजा, उपेन्द्रव्रजा, इन्द्रवंशा, वंशस्थ, मालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, हरिणी, अनुष्टुप्, स्वागता, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित आदि वृत्तों की विनियोजना है। इसके दृष्टान्त अग्रिम पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं।

उपजाति—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा इन दोनों छन्दों का मिश्रित स्वरूप उपजाति छन्द होता है।[22] इस छन्द में श्लोक के कुछ पाद इन्द्रवज्रा के होते हैं और कुछ पाद उपेन्द्रवज्रा के होते हैं।

श्रीनाभिजन्माऽन्वयपद्मभास्करः, (इन्द्रवज्रा)
स्तुतोऽञ्चितः श्रीमुनिसुव्रतान्वये। (उपेन्द्रवज्रा)
जिनः शिवायास्तु दवद्महोदयं (उपेन्द्रवज्रा)
सभासतां यद्भजनेजयाश्रयः ॥[23] (उपेन्द्रवज्रा)

प्रस्तुत पद्य के तीन चरण उपेन्द्रवज्रा के हैं और प्रथम चरण इन्द्रवज्रा का है, अतएव उपजाति छन्द है।

प्रयोग के स्थल :

प्रथम सर्ग—२, ४, ५, ७-१४, १६-१८, २१, २४, २६, ३३, ३५-३९, ३३, ४१-४९, ५५-५९, ६१-६२, ६४-६८, ७०-७२, ७४-७८, ८०-८१।

द्वितीय सर्ग—१-३, ५-१९, २१, २२, २४।

नवम सर्ग—१-८, १०-२६; २८, ३१।

इन्द्रवज्रा[24]—कवि ने इन्द्रवज्रा का अनेक स्थानों पर प्रयोग किया है—

यो वीतरागः कृततीर्थयागः,
प्रोद्यत्सभामण्डल संविभागः।

यो नीतिकारी भुवनोपकारी,
सेव्यः स भव्यैर्नवकाव्यनव्यः ।।—सप्त० १/३

यहां प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु हैं, अतएव इन्द्रवज्रा छन्द है ।

प्रयोग के स्थल :

प्रथम सर्ग—६, १५, १६, २०, २२, २३, २५, २७, ५१, ६३, ६६, ७६ ।
द्वितीय सर्ग—४, २०, २३ ।
नवम सर्ग—६ ।

उपेन्द्रवज्रा[25] :

देशः सदेशस्थितिभून्नरेशः
सुरार्चनाहूतमहीसुरेशः ।
तपस्विवर्गेण यशस्विभिर्वा,
कृतप्रवेशः स्थिरसन्निवेशः ।।—सप्त १/६

यहां प्रत्येक चरण में एक जगण, एक तगण, एक जगण और अन्त में दो गुरु हैं अतएव उपेन्द्रवज्रा छन्द है ।

प्रयोग के स्थल :

प्रथम सर्ग—३०, ३१, ३२, ३४, ५०, ५२, ५३, ६०, ७३ ।
सप्तम सर्ग—२२, २३ ।
नवम सर्ग—२७ ।

इन्द्रवंशा—इसका प्रयोग मात्र एक ही पद्य में हुआ है । जिनेन्द्रों के जन्म से पवित्र होने वाली नगरियों का निर्देश करते हुए कवि इन्द्रवंशा का प्रयोग कर रहा है । यथा—

श्रीमण्डनब्राह्मणकुण्डसंज्ञया,
या सुप्रमाता मधुरारसाश्रयैः ।
तां मध्यदेशे जिनजन्मपावितां,
स्थैर्येण वा शौर्यपुरं समीक्षताम् ।।—सप्त० १/४०

यहां पर प्रत्येक पाद में दो तगण, एक जगण और एक रगण है अतः द्वादश वर्ण वाला इन्द्रवंशा नामक छन्द है ।

वंशस्थ[26]—कवि ने ऋषभदेव के शरीर की शोभा का वर्णन करते हुए उन्हें नमस्कार करते समय वंशस्थ का प्रयोग किया है—

सुवर्णवर्णं गजराजगामिनं
प्रलम्बबाहुं सुविशाललोचनम्।
नरामरेन्द्रैः स्तुतपाद पंकजं,
नमामि भक्त्या वृषभं जिनोत्तमम् ॥—सप्त० ६/३०

प्रस्तुत पद्य में एक जगण, एक तगण, एक जगण और एक रगण है इसलिए वंशस्थ छन्द हुआ।

प्रयोग स्थल—प्रथम सर्ग—२८।

मालिनी[27]—विश्वसेन, अश्वसेन, नाभिराय प्रभृति राजाओं के नाम ल्लेख करते हुए कवि मालिनी छन्द का प्रयोग कर रहा है—

अवनिपतिरिहासीद् विश्वसेनोऽश्वसेनो-
प्यथ दशरथ नाम्ना यः सनाभिः सुरेशः।
बलिविजयिसमुद्रः प्रौढसिद्धार्थसंज्ञः,
प्रसृतमरुणतेजस्तस्य भूकश्यपस्य ॥—सप्त० १/५४

यहां पर प्रत्येक चरण में दो नगण, एक मगण तथा दो यगण पाये जाते हैं। अतः इसमें मालिनी छन्द है।

स्रग्धरा[28]—स्रग्धरा छन्द का प्रयोग प्रायः सर्गों के अन्त में ही हुआ है—

एवं श्री आदि देवप्रमुखमुनिमितार्थाऽवताः रैः प्रभाव्ये।
काव्ये श्राव्ये सतां स्वे मनसिविहसतां वीक्ष्य दक्षप्रयत्नम् ॥
अर्हद्भक्तिं चिरायुर्विपुलमनुभवं वैभवं राज्याभाजाम्।
दत्तां चित्रांगवार्ताऽप्युदयमपि चिरं सप्तधाऽऽविर्भवन्ती ॥
—सप्त० १/८२

यहां एक मगण, एक रगण, एक मगण, एक नगण और तीन यगण हैं अतः यहां स्रग्धरा छन्द है।

प्रयोग स्थल—तृतीय सर्ग—४८। पंचम सर्ग—५८। नवम सर्ग—३२।

शार्दूलविक्रीडित[29]—जिनेन्द्र प्रभु के जन्म ग्रहण करने पर देवता लोग जिनेन्द्र के शौर्य आदि गुणों से आकृष्ट होकर एकत्रित हुए, इस प्रसंग में शार्दूल-विक्रीड़ित छन्द का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र[30] ने भी लिखा है कि राजाओं के शौर्य आदि गुणों की स्तुति के लिए शार्दूलविक्रीडित उचित होता है। जिनेन्द्र प्रभु के शौर्य का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

आकृष्टा भगवद्गुणैरिव दिवः श्रीअच्युताद्याः समे।
देवेन्द्राः समुपेयुरत्र मनसा चित्रीयमाणश्रिया ॥

आलोक्याऽद्भुतधामधाम सुचिरं राज्यं त्रिलोक्या इह।
न्याय्यंकर्तुमतोऽभिषेकमचले मेरौ पयोभिः प्रभोः ॥
सप्त० २/२५

यहां क्रमशः एक मगण, एक सगण, एक जगण, एक सगण, दो तगण तथा अन्त में एक गुरु है अतः शार्दूलविक्रीडित छन्द है।

प्रयोग के स्थल—चतुर्थ सर्ग—४२। षष्ठ सर्ग—६३। सप्तम सर्ग—४, ४२। अष्टम सर्ग—२८।

वसन्ततिलका[32]—प्रकृति वर्णन के प्रसंगों में कवि ने वसन्ततिलका छन्द की सफलतापूर्वक संयोजना की है। यथा—

धारां पुपोष विपरीततया न राधां,
राजांगजाभ्युदयितां दयितांगरागात्।
उक्तिः प्रिया पवनशालिवनप्रियाणां,
कामं जनेषु विनयाज्जनयाम्बभूव ॥ — सप्त० ७/१७

यहां क्रमशः एक तगण, एक भगण, दो जगण, और दो गुरु हैं, अतएव वसन्ततिलका छन्द की स्थिति स्पष्ट है।

प्रयोग के स्थल - तृतीय सर्ग—१-४७। चतुर्थ सर्ग—१-४१। षष्ठ सर्ग—६०, ६१, ६२। सप्तम सर्ग—५-२१, २४-२७, ३०-३३, ३६-४१।

हरिणी[33]—जिनेन्द्र प्रभु की रुचि और औचित्य आदि दीक्षा और वन आदि भ्रमण के प्रसंग में इस छन्द का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यथा—

समयमनया वृत्यारण्येऽरण्यजवन्मनो-
रथमथ परे न्यस्यन्नुच्चैर्निनाय सनायकः।
उदधिरधिकप्रीत्यादित्यस्थितावपि सुस्थिता,
व्यधित नगरीं तत्र द्वारावतीं किमु काञ्चन ॥—सप्त० ५/१८

प्रस्तुत पद्य में प्रति चरण नगण, सगण, मगण, रगण, सगण अन्त में एक लघु एक गुरु होने से हरणी छन्द स्पष्ट है।

प्रयोग के स्थल—पंचम सर्ग—१-१७, १९-५७। सप्तम सर्ग—१, २, ३, २८, २९।

अनुष्टुप्[34]—मेघविजय ने जिनेन्द्र प्रभु के द्वारा कर्मशत्रुओं के नष्ट करने, राम-रावण और कृष्ण-जरासन्ध के युद्ध के वर्णन प्रसंगों में इस छन्द की सुन्दर विनियोजना की है। यथा—

अथश्रीमदनेकान्त-कवचं कान्तमुद्वहन् ।
उदियाय जयश्रीमान् कामरारेर्भिदे विभुः ॥ —सप्त० ६/१

इस पद्य के प्रति चरण में छटवां वर्ण गुरु और पंचम लघु है तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में सप्तम वर्ण दीर्घ है अतएव यहां अनुष्टुप् छन्द है ।

प्रयोग के स्थल—षष्ठ सर्ग—२-५९ ।

स्वागता[35]—शीतऋतु के वर्णन करते हुए कवि स्वागता वृत्त की संयोजना करता है । यथा—

उष्णभोजनरसः परकान्ता,
संगमेन बहुधा लयभावः ।
कृष्णवत्रुचिर्मरुप्यति जाड्या-
त्सैष तैषनवदेषविशेषः ॥ —सप्त० ७।३४।

यहां पर प्रत्येक चरण में एक रगण, एक नगण, एक भगण और अन्त में दो गुरु हैं । अतएव यहां स्वागता छन्द है ।

शिखरिणी[36]—माघ मास में शीत जनित सन्ताप के दुखजनक होने के कारण कवि ने शीत को ताप के रूप में शिखरिणी छन्द के द्वारा वर्णित किया है । सप्त-सन्धान में इसका एकमात्र उदाहरण यह है—

स-सीतासंतापस्तपसि जपसिद्धेः कपिपते-
विशिल्या कौशल्यात्समितिरुचिता भारतभुवि ।
नृचक्षोविक्षोभाद्धिमकरविधौकान्तिरुदधौ,
निलीनाशालीना विलसदमलीनाहत तपाः ॥—सप्त० ७।३५

यहां प्रत्येक चरण में क्रमशः एक यगण, एक मगण, एक नगण, एक सगण, एक भगण, और अन्त में एक गुरु, एक लघु है, अतः यहां शिखरिणी छन्द है ।

द्रुतविलम्बित—भरत की दिग्विजय वर्णन और जिनेन्द्र प्रभु के उपदेशों के प्रसंग में कवि ने द्रुतविलम्बित छन्द की योजना की है । यथा—

हरिपरिस्फुरितां दिशमाविशत्,
स्थितिमुदीर्य विभुर्भरतं प्रति ।
शुभरते भरतेऽविरते रतेः,
प्रथमतोऽथ मतोऽवनिचक्रिणाम् ॥ —सप्त० ८।४

यहां पर क्रमशः एक नगण, दो भगण और एक रगण है, अतः द्रुतविलम्बित छन्द हुआ ।

प्रयोग के स्थल— अष्टम सर्ग—१, २, ३, ५-२७ ।

कवि के द्वारा प्रयुक्त उक्त सभी छन्द अनुपम छटा लिये हुए हैं। ये छन्द प्रायः भावों के अनुसार संयोजित किये गए हैं। इन छन्दों के प्रयोग से कवि की छन्द प्रियता एवं छन्दोविधान सामर्थ्य दोनों वस्तुएं परिलक्षित हो रही हैं। साथ ही महाकाव्य में अनेक छन्दों का संयोजन होना चाहिए, इस परम्परा का भी कवि ने सम्यक् निर्वाह किया है।

(घ) रस-भाव विमर्श

रस काव्य का सर्वस्व है तथा वही काव्य की आत्मा है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं। भाव, सुख-दुःख के रूप में, जीवन में हर्ष विषाद का सृजन करते हैं। काव्य में ये भाव विभाव, अनुभाव और संचारी की संज्ञा प्राप्त करते हैं। जो भाव हमारे हृदय में सुषुप्तावस्था में स्थित रहते हैं, वे स्थायिभाव कहलाते हैं। ये ही स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत होते हैं। अजितसेन ने रस की अभिव्यक्ति बड़े ही सुन्दर ढंग से की है—

नवनीतं यथाज्यत्वं प्राप्नोति परिपाकतः।
स्थायिभावो विभावाद्यैः प्राप्नोति रसतां तथा॥

—अलंकार चिन्तामणि ५।८४

जिस प्रकार परिपाक हो जाने से नवनीत ही घृत रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभाव ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से रस रूप में परिणत हो जाता है।

रस के आस्वादन से ही काव्य के पाठक या श्रोता को आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।

प्रकृत महाकाव्य का अंगीरस शान्त है। शान्तरस पर काव्याचार्यों में वैमत्य है, अतएव इस पर संक्षिप्त विचार कर लेना आवश्यक है।

भरतोक्त आठ ही रस साहित्यशास्त्री स्वीकार करते हैं[37], किन्तु अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के उल्लेखों के आधार पर ही शान्तरस को भी भरत सम्मत माना है।[38] इसके लिए अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की 'क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः' और अन्य पंक्तियां आधार मानते है।[39] अभिनवगुप्त के पश्चाद्वर्ती उद्भट ने तो स्पष्ट शब्दों में नव रसों में शान्त को मान्यता दी है[40], किन्तु इनके पूर्व जैन सम्प्रदाय के महामनीषी जिनका नाम आर्यरक्षित था, ने शान्तरस का उल्लेख किया है।[41] यद्यपि उन्होंने उसकी संज्ञा शान्त के स्थान पर प्रशान्त दी है।

इस प्रकार शान्त ने विद्वानों द्वारा एक रस के रूप में मान्यता प्राप्त की है।

उक्त शान्तरस के स्थायिभाव के विषय में भी मतभेद है।

उद्भट ने शान्त का स्थायिभाव शम कहा है[42], किन्तु सर्वमान्य नहीं है। अभिनव ने शम और शान्त को एक-दूसरे का पर्याय कहा है।[43] रुद्रट ने सम्यग्ज्ञान को शान्तरस का स्थायिभाव माना है।[44] मम्मट निर्वेद मानते हैं[45], वे निर्वेद को संचारिभावों में इसीलिए प्रथम स्थान देते हैं, कि वह स्थायिभाव भी है।[46] रामचन्द्रगुणचन्द्र मम्मट का विरोध करते हैं[47] और उन्होंने 'शम' को शान्तरस का स्थायिभाव कहा है। निस्पृहता ही शम है।[48] इन्हीं का अनुकरण आचार्य विश्वनाथ ने भी किया है।[49]

मम्मट का निर्वेद और रामचन्द्रगुणचन्द्र का 'शम' दोनों (स्थायिभाव के) पर्यायों का तात्पर्य संसार से पूर्ण विरक्ति ही है। इस प्रकार शान्त रस की सत्ता स्थापित हुई, और 'शम' स्थायिभाव को मान्यता मिली।

जैसा पहले कहा जा चुका है--प्रकृत काव्य का अंगीरस शान्त है। इसके सातों नायक जीवन की उत्तरावस्था में संसार से विरक्त होकर तपश्चरण करते दृष्टिगत होते हैं, और जीवन का वास्तविक लक्ष्य निर्वाण को मानते हैं।

तीर्थंकर महाप्रभुओं की सांसारिक वस्तुओं के प्रति विरक्ति का निदर्शन करते हुए कवि ने शान्त रस की अभिव्यक्ति इस प्रकार करायी है--

स विषयो विषयोजनभक्ष्यवत्
सुमनसां मनसां भयकारणम्।
भुविदितो विदितोऽपि तदाभया-
शवरसंवरसंकलितोऽभवत् ॥ —सप्त० ८/२५

सांसारिक विषयों की अभिलाषा विषमिश्रित भोजन के सेवन करने के समान है, अतः विषयेच्छा विचारशील व्यक्तियों के हृदय में भय उत्पन्न करती है। संसार में प्रसिद्ध होने पर या अनेक जन सेवित होने पर भी वह विषय-भोग खण्डित हैं, और उस समय अर्थात् विषय दोष को देखने के समय मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले महान् पुरुषों सदृश उत्कृष्ट संयमी अपनी तीव्र वैराग्य भावना से विषयोपभोग का सर्वथा निरोध करते रहे।

यहां विषयाभिलाषा का त्याग और उत्कृष्ट संयमपूर्वक वैराग्य भावना की जागृति के कारण शान्तरस की अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त शान्तरस के अनेक सुन्दर दृष्टान्त दर्शनीय हैं।[50]

सप्तसन्धान में कलापक्ष की प्रधानता रहने से कवि की दृष्टि अलंकार योजना में विशेष रूप से लगी हुई है, किन्तु यत्र-तत्र भावपक्ष की भी योजना सहज रूप

से सुलभ हो जाती है। जिस प्रकार रस प्रधान प्रबन्ध काव्यों के निर्माण में समाहित चित्त रहने वाले महाकवियों की रचनाओं में भी गुणीभूत व्यंग्य और चित्रशैली के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार अलंकार-प्रधान काव्य-कृतियों की रचना में रस भाव आदि के उदाहरण भी सुलभ हो जाते हैं। इसी सामान्य विचारधारा से प्रकृत काव्य भी प्रभावित है और इसके प्रमुख रस शान्त के साथ ही अन्य शृंगारादि रसों के भी दृष्टान्त परिलक्षित होते है—

शृंगार—शृंगार भावना जीवन में व्यापक अस्तित्व रखती है। इसका स्थायिभाव 'रति' है। शृंगार की सरसता और कमनीयता ही प्राणी में आकर्षण का भाव जागृत करती है। मेघविजय ने कुन्ती और माद्री के साथ पाण्डु की रति का चित्रण करते हुए इस रस की योजना निम्न प्रकार से की है—

यत्पीवरस्तनावतिगुरुस्वरूपा हिमाद्रो,
कान्ता पृथावतिशयेऽस्य मनोनुरागे।
दृष्टाधरा-सुरपतेरपि राज्यलक्ष्म्य,
सर्वं सुपर्वभवगर्वमपाचकार॥ —सप्त० ४/१८

जिनके स्तन दीप्ति से अत्यन्त विशाल अथवा बिल्व फलों को तिरस्कृत करने वाले हैं, ऐसी कुन्ती और माद्री महाराज पाण्डु की भार्याएं अत्यधिक मात्रा में पति की मानसिक प्रसन्नता के लिए तत्पर रहकर उनकी राजलक्ष्मी के द्वारा अभिषिक्त होती रहीं अथवा जिस पाण्डु की मानसिक प्रसन्नता होने पर चुम्बन के लिए जिनके अधरोष्ठ का निरीक्षण किया जा चुका है, ऐसी कुन्ती और माद्री को पाकर पाण्डु ने इन्द्र की राजलक्ष्मी से संवलित दिव्य सुधारस को भी तिरस्कृत कर दिया।

यहां पर पाण्डु आलम्बन विभाव, रति का आश्रय कुन्ती और माद्री, सौन्दर्यातिशय का वर्णन उद्दीपन विभाव, चुम्बन के लिए अधर आदि का निरीक्षण अनुभाव, सुरपति की राजलक्ष्मी को नीचा दिखाना मद आदि संचारिभाव होने के कारण शृंगार रस की प्रतीति हो रही है। इसके अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य हैं।[51]

वीर—राजाओं की विजय प्रसंग और उनके द्वारा अर्जित कीर्ति-कीर्तन करते हुए कवि ने वीर-रस की योजना की है।

क्षोणीधवे जयति भूदिवमाजुहाव,
वाद्यैर्गम्भीरनिनदैः स्वविभुप्रसाद्यैः।
हित्वा सुधाशन रसान्न रसार्थगोष्ठ्यां
स्वास्थ्येन तस्थुरमराः क्रमरागिणोऽत्र॥ — सप्त० ४/१२

अपने राजा के विजयी होने पर उसको प्रसन्न करने के लिए बजाये जाते हुए गम्भीर ध्वनि वाले वाद्यों (अनेक प्रकार के बाजों) द्वारा मानों पृथ्वी ने देवलोक को चुनौती दी, ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण से देवता लोग अमृतास्वादन के आनन्द को छोड़कर चक्रवर्ती राजा के देश में आचार एवं गति में अनुराग करके जनसमुदाय में सुखपूर्वक निवास करने लगे।

यहां पृथ्वी के द्वारा स्वर्ग को पराजित करने का उत्साह व्यंजित होने से वीर-रस की प्रतीति होती है।

जिनेन्द्र प्रभु के समवशरणकालिक वाद्यों ने गर्जना करने वाले कामदेव आदि को क्षुब्ध कर दिया। इस प्रकार के वर्णन के अवसर पर भी वीर-रस की अभिव्यक्ति होती है।[52]

ध्वनि

विगत पृष्ठों में जिन रसों का उल्लेख किया गया है, वे वस्तुतः ध्वनि के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। अतएव इस प्रसंग में ध्वनि का संक्षिप्त निर्देश भी अपेक्षित प्रतीत होता है। ध्वनि का काव्य में वही स्थान है, जो किसी सुन्दरी के शरीर में लावण्य[53] का। जैसे लावण्य विरहित सुशरीर भी नगण्य होता है, उसी प्रकार ध्वन्याभाव के कारण काव्य की कमनीयता भी हृदयावर्जक नहीं हो पाती। इस प्रकार रस एवं ध्वनि में अभेद है और प्रकृत ग्रन्थ में भी उसका निर्वाह लगभग उसी रूप से हुआ है। ऊपर रस प्रसंग में उद्धृत उद्धरणों द्वारा रस-ध्वनि का आस्वादन किया जा सका है। किन्तु अलंकार एवं वस्तु-ध्वनियां अवशिष्ट रह जाती हैं। अतएव उनके भी दृष्टान्त उद्धरणीय हैं—

अलंकार से वस्तुध्वनि :

अथ कुवलयोद्भासी राशीभवद्गुणसेवधिः,
परिणतहृदारामः कामं जगाम न वामधीः।
जिनपवृषभः स्वैरं वैरं त्यजन्न परे परे,
सितरुचिरिवोदीचीमञ्चन् दिशं हरिणाश्रिताम् ॥[54]

"दीक्षा ग्रहण के अनन्तर भूमण्डल पर चमकने वाले पुंजीभूत दया-दाक्षिण्य आदि गुणों में आकर, अत्यन्त निर्मल हृदय में विहार करने वाले, अपने आप में सन्तुष्ट रहने वाले, दयादि गुणों से युक्त, ऋजु प्रकृति, अपने और पराये की बुद्धि को छोड़कर विद्वेषरहित, श्रेष्ठ जिनेन्द्र उत्तर दिशा की ओर जाने वाले चन्द्रमा की तरह स्वेच्छा से प्राची दिशा में विचरण करने लगे अथवा सूर्य की भांति उत्तरायण होते हुए विचरण करने लगे :"

प्रकृत उद्धरण में सूर्य और चन्द्रमा को उपमान बनाने से निरतिशय तेजस्विता और मृदुता तथा धार्मिकता और मांगलिकता के प्रयोजक वस्तु की व्यंजना उपमा अलंकार से हो रही है। अतः यहां अलंकार से वस्तु व्यंजित है।

अवस्तु से अलंकारध्वनि :

जानन्ति दानविधिमत्र न देववृक्षाः,
शाखाश्रयं फलमलं दधते यदेते।
वृष्टं कदाचन सपक्षगणेन लभ्यं,
नामीषु तत्फलबलं प्रतिपात्रमिष्टम् ॥[55]

इस लोक में देववृक्ष सत्पात्रों को दान देने की विधि नहीं जानते क्योंकि ये कल्पवृक्षादि फलों को स्वयं धारण नहीं करते बल्कि वे फल उनकी (वृक्षों की) स्कन्धों (शाखाओं) के आश्रित रहते हैं। फलतः फल के स्वाधीन नहीं रहने से वे किसी को स्वयं प्रदत्त होने में कैसे समर्थ हो सकते हैं। पक्षियों और आत्मीयजनों को प्राप्त करने योग्य फल को किसी समय इन(वृक्षों में) नहीं देखा गया।इसीलिए सम्भावना है कि इन कल्पवृक्षों में फल सम्पत्ति है, वह प्रत्येक योग्य याचक जनों को प्राप्त होने योग्य नहीं है, जबकि जिनेन्द्र स्वामी ही योग्य व्यक्तियों को दान देते रहते हैं।

प्रस्तुत पद्य में दान-विधि के अभाव रूप इस वस्तु के द्वारा उत्कर्ष रूपी व्यंग्य व्यञ्जित हो रहा है अर्थात् देववृक्षों की अपेक्षा जिनेन्द्र महाप्रभु प्रत्येक के लिए अधिक दान देते हैं। यहां देववृक्ष की अपेक्षा जिनेन्द्र का उत्कर्ष बताया गया है, अतएव व्यतिरेक (अलंकार) की व्यंजना हो रही है।

वस्तुध्वनि से वस्तुध्वनि :

मरालबालः स्वत एग वक्त्रे,
रक्तप्रसक्तश्चरणेऽपि तद्वत्।
स राजहंसः कविना स्वकार्ये,
स्मार्यः स वृद्धाम्नपि नद्विवेकात् ॥[56]

'काव्य निर्माता अपने कविकर्म (काव्यादि) में लोक प्रसिद्ध राजहंस को सार-ग्राही बना देता है। सारग्राही हंस के समान राजा भी सारग्राही होने से तथा पवित्र और विचित्र चरित्र युक्त होने के कारण वर्णनीयता के आधार पर स्मरणीय होता है। हंस शावक पाद और चञ्चु में स्वाभाविक रक्तता को धारण करने के कारण गुणवानों की चर्चा में गणनीय हो जाता है एवं नीर क्षीर के विवेक में दक्ष सिद्ध होता है। राजा काजल की तरह काले या चिकने वालों को धारण

करता है अथवा खलों को दुष्प्रवृत्तियों से रोकता है, तथा युक्तियुक्त भाषण करने वाले व्यक्ति में अनुरागवान् होता है, अथवा सत् और असत् के विवेक में प्रसिद्ध होता है।"

प्रस्तुत स्थल में 'राजहंसः' इस पद का 'राजा हंस इव' अथवा 'राजा एव हंसः' इन व्युत्पत्तियों से उपमा और रूपक अलंकारों के द्वारा कवि का कर्त्तव्य सदाचारी (पुरुष) का चित्रण करना है, यह वस्तु व्यंग्य है। इस व्यंग्य वस्तु के द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि मेरे द्वारा रचित इस काव्य में सद् पुरुषों का ही चित्रण किया गया है, यहां वस्तु ध्वनित हो रही है। अतएव मम्मट के 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानांव्यंजकत्वमपीष्यते'[57] इस सूत्र की व्याख्या से उपर्युक्त व्याख्यान की संगति बैठ जाती है। ध्वनित वस्तु से एक अपर वस्तु ध्वनित हो रही है।

अलंकार से अलंकार ध्वनि :

अस्या व्यवस्येयमहं वयस्यां
द्यामेव पद्यां नयसंशयाब्धौ।
पतिः सुधावज्जयवाहिनीशः
श्रेयान् निवासः सुमनो बिलासः ॥[58]

इस नगरी में कैसी नीति है, इस विचार के पारावार में निमग्न मैं (मेघविजय) स्वर्ग को चित्त में रखकर स्वर्ग के सदृश ही यहां की नीति है, ऐसा निश्चय करके अपनी शंका दूर कर रहा हूं।

स्वर्ग पक्ष—सुधायुक्त देवों की जयवाहिनी के अधिपति इन्द्र हैं, इसलिए यहां के निवासी अतिशय प्रशस्य हैं, क्योंकि प्रशस्तचित लोगों का विलास अर्थात् आनन्द यहां हुआ करता है अथवा पुष्पों से विलास यहां हुआ करता है। अथवा कोविदों का विलास होता है, ऐसा यह नगर है और देवताओं का विलास जहां होता है, ऐसा स्वर्गलोक है।

यहां कवि स्वर्ग और नगर की समानता की उद्भावना कर रहा है। वाचक शब्द के अभाव में दोनों स्वर्ग और नगर के सादृश्यमूलक सौन्दर्य की प्रतीति होने से उपमा ध्वनित हो रही है अथवा कोविदों का विलास जहां हुआ करता है, ऐसा यह नगर है और जहां देवताओं का विलास होता है, ऐसा स्वर्ग लोक है। यहां इन दोनों की साम्यमूलकता के आधार पर उपमा अलंकार व्यंग्य है।

भावध्वनि :

भवति स महान् क्रोधस्त्यागतो गतिमानये,
दशमबहुधादाने शत्रुज्जये स्तुतीर्थराट्।

त्वमसि बलतः पूर्णस्तूर्णं नवा-जिनमाश्रितः
प्रभवसि कथं नागारोहे न राजरयावृतः ।।[59]

हे प्रभु जो व्यक्ति क्रोधरहित होता है, वह महत्त्व प्राप्त करता है। सांसारिक विषय-वासना के परित्याग से ज्ञानवान् होता है, क्योंकि त्याग ज्ञान पुरस्सर ही होता है अर्थात् जो सबका परित्याग करता है वही यथार्थज्ञानवान् होता है अथवा संसार के परित्याग करने से देवत्व और मोक्षत्व की प्राप्ति होती है अथवा त्याग से जन्म मरण से रहित होता है। दशम नाम के तपो विशेष का बहुधा ग्रहण करने पर आभ्यन्तरिक कामादि शत्रुओं के विजय के सम्बन्ध में प्रशंसित शास्त्रज्ञान बलों में सुशोभित होता है अथवा सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, सर्वभूतदया तथा आर्जव के ग्रहण से सुशोभित होता है अथवा दशम दशक में पहुंचने पर शत्रुंजय नाम के विमल पर्वत पर स्तुति का विषयीभूत बनकर प्रशंसित होता है, अर्थात् बुढ़ापे में भी तीर्थंकरों से प्रशंसित होता है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रजा, बल उपाय और दौत्य इन दश युद्ध बलों के संग्रह करने से बाह्याभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके स्तुत्य और पवित्र देश में विराजमान होता है। इस तरह तुम आत्मबल से पूर्ण होओ। जिस तरह चन्द्रमा उदयाचल पर आरोहण करके विद्योतमान् होता है उसी तरह आप भी नगरारोहण से दैदीप्यमान हैं।

यहां भक्तनिष्ठ भगवद् विषयक रति-भाव व्यंग्य है अर्थात् जिनेन्द्रप्रभु की भक्त स्तुति कर रहा है। स्तुति का तात्पर्य यह है कि उनके प्रति कवि का अनुराग है। इसलिए कविनिष्ठ जिनेन्द्र विषयक रति-भाव ध्वनित हो रहा है। यहां भावध्वनि है। अन्यत्र भी भावध्वनि के उदाहरण प्राप्त होते हैं।[60]

(ङ) गुण दोष विवेचन

गुण—भावों को सजाने और उन्हें रमणीय बनाने के लिए सुन्दर भाषा की आवश्यकता होती है। रसों के आन्तरिक आस्वादन में जिस प्रकार चित्त की वृत्ति होती है, उसी प्रकार पदों की योजना होनी चाहिए। वह ऐसी हो कि बिना अर्थ बतलाये ही अपने भाव और ध्वनि से अर्थ को व्यक्त कर दे। काव्य में यह कार्य गुणों और रीतियों द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि गुण और रीति का पारस्परिक सम्बन्ध है। प्रत्येक कवि भावों में सजीवता और प्रभविष्णुता लाने के लिए काव्य में सुन्दर-सुन्दर रसोत्कर्षक शब्दावली का नियोजन करता है। काव्य में शब्दावली के ही आधार पर माधुर्य आदि गुण परिलक्षित होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में शौर्य आदि विशिष्ट गुण होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी माधुर्य आदि विशिष्ट गुण आत्मसात रहते हैं।

गुण काव्य के शोभाकारक और अपरिहार्य धर्म हैं।[61] आनन्दवर्धन ने गुणों

को रस का धर्म माना है ।[62] इसलिए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि काव्य में गुणों की स्थिति अपरिहार्य रूप से रहती है, ऐसे गुणों के ज्वलन्त उदाहरण माधुर्य, ओज एवं प्रसाद हैं ।

यद्यपि प्रकृत महाकाव्य श्लिष्टकाव्य का एक सुन्दर निदर्शन है तो भी, काव्यकार मेघविजय की भाषा में मनोरम प्रवाह की स्थिति दर्शनीय है। इस काव्य की शब्दयोजना सुन्दर बन पड़ी है, जिसमें माधुर्य, ओज और प्रसाद प्रायः तीनों ही गुण परिलक्षित हैं । यह बात अलग है कि इसमें प्राधान्य प्रसाद गुण और वैदर्भी[63] रीति का ही है ।

माधुर्य चित्त को पिघलाने (द्रवीभूत करने) वाले आनन्द प्रधान गुण को माधुर्य कहते हैं । यह संभोग-शृंगार, करुणा, विप्रलम्भ और शान्तरस में क्रमशः अधिक मधुर होता जाता है ।[64]

माधुर्य गुण के अभिव्यंजन में 'ट ठ ड ढ' को छोड़कर अपने वर्गों के अन्तिम वर्णों से युक्त वर्ण, लघु रेफ णकार और समास रहित, अल्पसमास वाली रचना सहायक होती है ।[65]

सप्तसन्धान में माधुर्य गुण का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है । कवि ने भरतक्षेत्र रूप राजा की प्रथम परिणीता वनिता के समान गंगा का वर्णन करते हुए माधुर्य गुण की संयोजना की है—

गंगाऽनुषंगान्मणिमालभारिणी,
सुरद्रसेकामृतपूरसारिणी ।
क्षेत्रक्षमेशस्य रसप्रवारिणी,
साप्रागुदूढा वनितेव धारिणी ॥ —सप्त० १/१७

प्रस्तुत पद्य 'मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः' इत्यादि नियम के अनुसार ही 'ट ठ ड ढ' को छोड़कर क से लेक रम पर्यन्त व्यंजक वर्ण शिर पर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त, ह्रस्व स्वर रेफ और णकार युक्त, अल्पसमास और मध्यमसमास के समावेश से युक्त हैं । अतएव माधुर्य गुण व्यंजक सभी नियम होने से माधुर्य गुण का उदाहरण है ।

ओज—चित्त का विस्तार रूप दीप्तत्व ओज कहलाता है वीर बीभत्स, और रौद्र-रस में क्रमशः अभिवृद्धि को प्राप्त होता है ।[66]

सप्तसन्धान शान्त रस प्रधान रचना है । इसमें ओजगुण का अभाव सा परिलक्षित होता है । ओज गुण प्रायः वीर रस और गौड़ी रीति के साथ निबद्ध रहता है । सम्पूर्ण काव्य में दत्तावधान होने पर भी यत्र-तत्र वीर रस की छटा तो दिखायी पड़ती है, किन्तु गौड़ी रीति का सम्यक् निर्वाह नहीं हो पाया है । अतएव

संघटना का लक्षण घटित न होने से ओजगुण विशिष्ट उदाहरण दृष्टिगत नहीं होते हैं। फिर भी ओजगुण की किंचित् अभिव्यक्ति करने वाले उद्धरण द्रष्टव्य हैं।[67] यहां ओजगुण विशिष्ट शब्दावली के आधार पर एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

साम्राज्यमित्थमनुनीय निजप्रजानां,
नित्योदयेन बुभुजे मनुजेश्वरेण।
लोकाग्रजेषु ऋषभेण महाभुजेन,
धर्मोन्नतिं विदधताऽनुजेऽनुजेवा॥ —सप्त० ४/३३

यद्यपि प्रस्तुत पद्य में ओजगुण का सम्यक् लक्षण घटित नहीं होता है तो भी, इसके वर्णों द्वारा ओजगुण की किंचित् अभिव्यक्ति हो रही है।

प्रसाद—जैसे सूखे ईंधन में अग्नि शीघ्र ही व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार चित्त में जो शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। वह सम्पूर्ण रसों और सभी रचनाओं में रह सकता है। जिन शब्दों के श्रवण मात्र से अर्थ की प्रतीति हो जाए, ऐसे वर्ण इसके अभिव्यंजक हैं।[68]

श्लिष्ट रचनाओं में अर्थाबोध दुरूह हो जाता है, किन्तु मेघविजय का यह वैशिष्ट है कि इन्होंने सात कथाओं के एक साथ संयोजन में भी प्रसाद गुण युक्त पदावली का व्यवहार किया है। प्रसाद गुणयुक्त रचना करने में कवि सिद्धहस्त प्रतीत होता है।

दिवानिशं केलिकलाकलापै,
रालीषु तालीविधिनोपजापैः।
सत्या सुदत्या दिवसाः सुखेन,
सूर्यः सतूर्या गमयाम्बभूवुः॥ —सप्त० २/९

द्वितीय उदाहरण :

शान्तासु सर्वासु दिशासु रेणु-
न रेणुवाघां तु मनाग् व्यधासीत्।
दध्वान देवाश्चनि द्वन्द्वभीनां,
नादः प्रसादो नभसोऽभसोऽभात्॥ —सप्त० २/११

उपर्युक्त उद्धरणों में अल्पसमास तथा समासाभाव होने के कारण अर्थावबोध में जरा भी दुरूहता नहीं प्रतीत होती है। अतएव इनमें प्रसाद गुण का सम्यक् सद्भाव है।

दोष :

काव्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा में दोषों का निराकरण एकमत होकर किया है, क्योंकि दोष रसापकर्षक होते हैं।[69] अतएव काव्य में दोष किसी को भी स्वीकार्य नहीं है। दण्डी ने कहा है कि जिस प्रकार सुन्दर से सुन्दर शरीर श्वेत कुष्ठ के एक दाग से भी अपनी कमनीयता खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य कितना भी रमणीय क्यों न हो, किन्तु उसका उत्कर्ष थोड़े से दोष से भी नष्ट हो जाता है।[70] अभिनवगुप्त ने भरत द्वारा वर्णित दोषों की व्याख्या करते हुए कहा है— यदि काव्य दोष विहीन, श्रुति मधुर और रस की दीप्ति कराने वाला है तो गुण और अलंकारों से रहित होने पर भी काव्य ही कहा जायेगा।[71] वाग्भट प्रथम ने गुण अलंकार आदि के पूर्व दोष का निरूपण किया है। इसके लिए वे तर्क देते हैं कि केवल दोषहीन काव्य कीर्ति को प्रदान करने वाला है। वह स्वर्ग सोपान श्रेणी भी है, अत. दोषों का परिहार आवश्यक समझकर आरम्भ में उन्हीं का उल्लेख किया गया है।[72]

उक्त समीक्षकों की दृष्टि से काव्य में दोष सर्वथा हेय हैं, किन्तु यह भी निश्चित है कि कवि दोषों से सर्वथा नहीं बच सकता। काव्य में कुछ प्रसंग ऐसे होते हैं जहां कवि के प्रयत्न करने पर भी दोष आ जाता है। कभी-कभी कोई साधारण-सा दोष गुण समुदाय में भी मिल जाता है। इतना होने पर भी कवि का प्रयास दोषरहित काव्य निर्माण में ही होना चाहिए।

प्रकृत रचना एक श्लिष्ट महाकाव्य है। श्लिष्ट काव्यों में दोषों की गणना अकिञ्चितकर ही मानी गयी है, किन्तु दोष ऐसा बाधक तत्त्व है कि उस पर बिना ध्यान दिये नहीं रहा जा सकता। सप्तसन्धान का जब हम दोष की दृष्टि से पर्यालोचन करते हैं तो इस काव्य में यत्किंचित् दोष ही दिखायी पड़ते हैं। जिनका निरूपण निम्नांकित रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है।

अवाचकत्व—जहां किसी पद के द्वारा ऐसा अर्थ उपस्थापित हो, जिसकी वाचकता नहीं रहती वहां अवाचकत्व दोष होता है।[73] यथा—

क्षेत्राऽवनीशोऽब्धिदुकूलवास-
स्तत्र प्रभासो मगधाधिवासः।
पाद्यो, वराद् दामगिरिर्नितम्बः,
क्षेत्रस्य नास्त्येव ततोऽस्य बिम्बः॥ —सप्त० १/२०

प्रस्तुत पद्य में 'वराद् दामगिरिः' पद के द्वारा वरदामगिरि अर्थ को अभिव्यक्त किया गया है। यहां वर शब्द के पञ्चम्यन्त पद प्रयोग की किसी भी प्रकार की संगति नहीं बैठती है, किन्तु वराद् के स्थान पर 'वरः' पद को रखने से

किसी तरह की संगति लग भी सकती है। अतः वरः के अर्थ को वराद् से अभिव्यक्त करने के कारण कवि की अक्षमता प्रतीत हो रही है। फलतः अवाचकत्व दोष अनिवार्य रूप से प्रतीत हो रहा है।

अप्रयुक्तत्व— व्याकरण आदि के नियमों से शुद्ध होने पर भी कवियों ने जिन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है, ऐसे शब्दों का प्रयोग करना अप्रयुक्तत्व दोष का परिचायक है।[74]

उद्दीप्य दीपानपराः परेश-
श्चक्रुश्च बालध्यजनेन वातम्।
मणीमयादर्शकराः परास्ताः,
पुरस्सरा गीतविधिं वितेनुः॥ —सप्त० २/२२

इस पद्य में 'परेश' पद को षष्ठी के एक वचन में रखना शीघ्रतया षष्ठ्यन्त समझना सहृदयों के लिए कठिन सा प्रतीत होता है। 'इष्टे इति इक् परश्चासौ इक् परेक तस्य परेशः अर्थात् परेशितुः। पद सिद्ध होता है, इसके अतिरिक्त भी यह दोष प्राप्त होता है।[75]

अक्रमत्व :

पूर्वापरौ तोयनिधी च बाहू,
तन्मध्यदेशः स तु मध्यभागः।
नाभिः कुशावर्तपदेऽदसीया-
स्याज्जंगलस्तद्गलनालदेशः॥ —सप्त० १/२२

इस पद्य में बाहू से आरम्भ कर नाभि तक का वर्णन करके पुनः कण्ठ का वर्णन किया गया है, जो अक्रम का सूचक है, अतएव अक्रमत्व दोष विद्यमान है। साथ ही तन्मध्यदेशः, अदसीया नाभिः, तद्गलनालदेशः इत्यादि पदों में तत् और अदस् शब्द से तत् तत् अंगों के सार्वनामिक विशेषण प्रयुक्त हैं, किन्तु बाहू के पहले कोई भी सार्वनामिक विशेषण न होने से न्यूनपदत्व दोष की भी स्थिति है।

अपुष्टार्थत्व :

रागं पुपोषभगवद्वपुषा गुणेन
रूपश्रियातिशयिनं जयियं विमृश्य।
कन्यास्वयम्वरमहं सततो गवेशः,
प्रारब्धवान् विहित सहित सन्निवेशः॥ —सप्त० ३/२९

इस श्लोक में प्रयुक्त 'सततो' पद किसी भी अर्थ का पोषक नहीं है। यदि इस

पद का ग्रहण न किया जाए, तो भी अर्थप्रतीति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है, इसलिए 'सततो' पद का प्रयोग अपुष्टार्थत्व दोष का सूचक है। यहां सततः के स्थान पर 'सततम्' इसी शब्द का प्रयोग होना चाहिए था।

च्युतसंस्कृति—व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध पद के प्रयोग का नाम च्युतसंस्कृति दोष है।[76]

क्षितिः प्रिया सर्वराज्ञां तस्याः प्रियतमा-सुताः।
यस्याः कृते क्षतिः पुंसां सा वै-देही-रणोचित्ता॥ —सप्त० ६/७६

यहां पर सर्व शब्द के साथ राज् शब्द का समास करने पर 'राजाहः सखिभ्यष्टच्'[77] इस सूत्र के टच् करने पर अदन्त शब्द का षष्ठ्यन्त बहुवचनान्त 'सर्वराजानाम्' होना चाहिए था किन्तु 'सर्वराज्ञा' पद के प्रयोग से च्युतसंस्कृतित्व दोष परिलक्षित सा हो रहा है। यद्यपि 'सर्वराज्ञां' पद भी किसी तरह से सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु यह क्लिष्ट कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। अन्यत्र भी यह दोष देखने को मिलता है।[78]

क्लिष्टत्व—जहां किसी पद के द्वारा विवक्षित अर्थ की प्रतीति में व्यवधान अथवा विलम्ब होता है, वहां क्लिष्टत्व दोष की कल्पना की जाती है।[79]

मोहोऽवमोहकरणं ककुभां शुभांशु-
व्यावर्तनं नयननर्तनमेव जज्ञे।
क्षोभो मनस्सु सुमनस्सु हरेश्चिरेण
चक्रे दरेण वसतिर्लसतिः प्रकम्पे॥ —सप्त० ३/३५

यद्यपि श्लिष्ट काव्य में क्लिष्टत्व दोष को नही माना जाता है, तथापि इस पद्य में 'लसतिः जज्ञे' इस अन्वय में 'लसतिः कर्ता का जज्ञे क्रिया के साथ दूरान्वय होने के कारण तत्प्रयुक्त क्लिष्टत्व दोष स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है। यहां श्लेष प्रयुक्त क्लिष्टत्व न होकर दूरान्वय प्रयुक्त क्लिष्टत्व दोष है।

निरर्थकत्व—जब श्लोक के चरण की पूर्ति मात्र के लिए किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसका कोई प्रयोजन नहीं होता तो निरर्थकत्व दोष की स्थिति होती है।[80]

कायेन वाचा मनसा विशुद्धः,
सपक्षमध्यस्थित एव हंसः।
ब्रह्माऽमुना बाह्यधियापि बाह्यः,
प्रियोविधिस्तन्ननु सज्जनस्य॥ —सप्त० १/१३

प्रकृत श्लोक में 'ननु' पद की निरर्थकता के कारण कवि का प्रमाद परिलक्षित हो रहा है। 'ननु' इस पद से अर्थ की प्रतीति नहीं हो रही है, अतएव अनावश्यक है। यहां निरर्थकत्व दोष की स्पष्ट स्थिति है।

विरुद्धमतिकृत्व :

अर्हद्विहारा विविधोपहारा-
द्युसद्विहाराद्दुरिताऽपहाराः ।
दिवोविमाना वसुधांवतेरु-
स्तत्पूर्वदेवैरिव संगमाय ॥ —सप्त० १/४४

श्लेषयुक्त काव्य में रूढ्यर्थ को छोड़कर यौगिक अर्थ का ग्रहण होता है, किन्तु इस पैद्य में श्लेषालंकार की स्थिति नहीं है। अतएव यहां का 'पूर्व देवैः' यह पद 'रूढियोगापहारिणी' इस न्याय से रूढ्यर्थ दानव ही पहले गृहीत होगा। 'पूर्व देवाः' इस विग्रह से यौगिक अर्थ रूढ्यर्थ से तिरोहित हो जाता है और दानव अर्थ गृहीत होने पर विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होने लगती है, अतएव यहाँ विरूद्धमतिकृत्व दोष दिखायी पड़ता है।

विसन्धित्व—जहां पर सन्धि में वैरूप्य अर्थात् असन्धि, अश्लीलता, और उच्चारण का कष्ट हो वहां विसन्धित्व दोष होता है।[81]

श्रीअर्हदाद्यः कृतशान्तिसर्गः,
समुद्रजन्मानवराजवर्गः ।
श्रीपार्श्वनाथः शुभवर्द्धमानः,
श्रियाऽभिरामस्तमिह स्मरामः ॥ —सप्त० १/२

प्रस्तुत पद्य के प्रथम चरण के पूर्वार्ध में 'श्री अर्हदाद्यः' इस स्थल पर संहितैक-पदे नित्यः' इस नियम से यहां समास होने पर सन्धि करना अनिवार्य था, किन्तु कवि ने ऐसा नहीं किया, अतएव यहां पर विसन्धित्व नामक दोष का अवसर उपस्थित है।

सन्दर्भ :

१. द्र० काव्यालंकार, परि० १, श्लोक १९-२३
२. द्र० काव्यादर्श १/१४-१९
३. द्र० काव्यालंकार—रुद्रट १६/२-१९
४. द्र० साहित्यदर्पण ६/३१५-३२८
५. काव्यालंकार १/३६

६. काव्यं कल्पनान्तरस्थायी जायते सदलंकृतिः। —काव्यादर्श १/१६
७. काव्यालंकार सूत्राणि १/१/१
८. चन्द्रालोक १/१०
९. सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः। —काव्यप्रकाश सूत्र संख्या १०६
१०. एकस्याप्यसकृत्परः। —काव्यप्रकाश सूत्र १०७
११. वही सूत्र ९९६
१२. पदार्थानां प्रस्तुतानांमन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता॥
—साहित्य दर्पण १०/४७ उत्त०, १०/४८ पू०।
१३. वही, १०/४८, उत्त० १०/४९।
१४. उक्ता व्यजस्तुतिः पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुति निन्दयोः॥
—साहित्यदर्पण १०/५९-६०।
१५. पुष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत्कथ्यते क्वचित्तुल्यम्।
अन्यत्र तु सदाभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या॥ —काव्यालंकार ७/७९
१६. तद्भूषानुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः। —काव्यप्रकाश १०/१३८
१७. उदात्तं वस्तुतनः सम्मत्। —काव्यप्रकाश १०/१७६
१८. अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं संकरः।—काव्यप्रकाश १०। सू० २०७
१९. प्रबन्धः सुतरां भाति यथास्थानं निवेशिते।
निर्दोषैर्गुणसंयुक्तैः सुवृत्तमौक्तिकैरिव॥
काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्॥ —सुवृत्ततिलक ३/१७
२०. शृंगारालम्बनोदार नायिकारूपवर्णनम्।
वसन्तादि तदंगं च सच्छायमुपजातिभिः॥ —सुवृत्ततिलक ३/१
२१. औदार्यरुचिरौचित्य-विचारेहरिणीमता॥ —वही, ३/२०
२२. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। उपेन्द्रवज्राजस्जास्ततोगौ॥
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः॥
—वृत्त रत्नाकर ३/२८-३०
२३. सप्तसन्धान, १/१
२४. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः। —वृत्त रत्नाकर ३/२८
२५. उपेन्द्रवज्राजस्जास्ततो गौ। —वृत्त रत्नाकर ३/२९
२६. वही, ३/४७
३२. वसन्ततिलका तभजा जगौगः। —वृत्त रत्नाकर ३/७९

३३. रसयुगहयैर्न्सोभ्रौ स्लौ गौ यदा हरिणीतदा । —वृत्तरत्नाकर ३/९३
३४. श्लोके षष्ठं गुरुगेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ।।
पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
षष्ठं गुरुं विजानीयादेतत्पद्यस्य लक्षणम् ।। —छन्दप्रभा, पृ० ६
३५. स्वागतेतिरनभाद्गुरुयुग्मम् । —वृत्तरत्नाकर ३/४०
३६. रसैरुद्रैश्छिन्नायमनसभलागः शिखरिणी ।
—वही, ३/९३
३७. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुद् संज्ञौ चैत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।।
—काव्यप्रकाश ४/२९
३८. प्रतीयत एवेति । मुनिनाप्यंगीक्रियत एव 'क्वचिच्छमः' इत्यादि वदता ।
—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ३९१
३९. दुःखार्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ।।
—नाट्यशास्त्र १/१११, ११२
धर्मकामोऽर्थ कामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगौ, यः कामः स तु संस्मृतः ।।
—नाट्यशास्त्र २४/९१
४०. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ।।
—काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ४९
४१. अनुयोगद्वारसूत्र भाग १, पृ० ८२८ तथा भाग 2, पृ० ८
४२. द्र० काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० ३५९
४३. द्र० अभिनवभारती भाग १, पृ० ३३५
४४. समग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छ नायको भवति ।
सम्यग्ज्ञानं विषयेतमसो रागस्य चापगमात् ।।
—काव्यलंकार १५/१५-१६
४५. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।
—काव्यप्रकाश ४, सूत्र ४७
४६. काव्यप्रकाश, पृ १३८
४७. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे: निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां 'प्रतिकूल विभावादि परिग्रह' इत्यत्र तमेव प्रति व्याभिचारितां च ब्रुवाण:

स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति ।—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३३२

४८. निस्पृहत्वं शमः । वही—पृ० ३१७

४९. शान्तः शमस्थायिभावः ।

—साहित्यदर्पण ३/२४५

५०. सप्तसन्धान ८/१४, २३ इत्यादि ।

५१. सप्तसन्धान, ४/२१

५२. समुद्रविजयं मेघनादं सानक-दुन्दुभिः ।
गर्जितैस्तर्जयामास बृहद्रथमतंगजम् ॥ —सप्तसन्धान ६/३४

५३. द्र० ध्वन्यालोक, १/४

५४. सप्तसन्धान, ५/१

५५. वही, ३/४५

५६. सप्तसन्धान, १/१४

५७. काव्यप्रकाश २/सूत्र ८

५८. सप्तसन्धान १/४७

५९. सप्तसन्धान ५/५०

६०. वही, १/२

६१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । —काव्यालंकारसूत्राणि ३/१/१

६२. द्र० ध्वन्यालोक २/६

६३. माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ —साहित्यदर्पण ९/२-३

६४. चित्तद्रवीभावमयो ह्लादोमाधुर्यमुच्यते ।
संभोगे करुणे विप्रलंभे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ —साहित्यदर्पण ८/२

६५. मूर्धनि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विता ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ॥ —वही ८/३, ४ का पूर्वार्ध ।

६६. ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिकमस्य तु ॥
—साहित्यदर्पण ८/४ का पूर्वार्ध, ५ का उत्तरार्ध

६७. सप्तसंधान ४/९

६८. चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्कैन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तदव्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥
—साहित्यदर्पण ८/७ का उत्तरार्ध एवं ८/८

६९. काव्यप्रकाश ७/१

७०. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन ।
स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ।।—काव्यादर्श १/६

७१. एतद्दोषविहीनं श्रुतिसुखदीप्तिरसं च यदि भवति तावता गुणान्तरैरलंकारैश्च हीनमपि काव्यं योगाव्यभिचारीत्युक्तम् । —अभिनवभारती, पृ ८३

७२. अदुष्टमेव तत् कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङक्तये ।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ।। —वाग्भटालंकार २/२५

७३. साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ५६५

७४. अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिर्नादृतम् ।
—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० २६८

७५. सप्तसन्धान ५/४८

७६. व्याकरण लक्षण हीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम् ।
—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ५७७

७७. अष्टाध्यायी ५/४/९१

७८. सप्तसन्धान ३/८

७९. क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम् ।
—साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ५६५

८०. निरर्थकं पादपूरणमात्र प्रयोजनं चादिपदम् ।
—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० २६९

८१. विसन्धिसन्धेर्वैरूप्यम्विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च ।
—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० ३०४

वर्णन कौशल

महाकाव्य के विशाल परिसर में वर्णन कौशल का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। वस्तु-स्वरूप यथार्थ वर्णना की न्यूनता के कारण काव्य-चारुता में भी न्यूनता परिलक्षित होने लगती है। इसीलिए कवि वस्तु विवेचन के प्रसंग में विशेष रूप से सावधान रहता है और इस बात का प्रयास करता है कि वह जो वर्णन करे, उसका सांगोपांग स्वरूप पाठक या श्रोता के समक्ष प्रस्तुत कर सके। प्रकृत सप्त-सन्धान महाकाव्य के वर्णन विविध अलंकारों के प्रयोग से भरपूर हैं और उनमें भी प्रधानता श्लेषालंकार की ही है। ऐसी काव्य-कृतियों में कलापक्ष का प्राधान्य होता है। इसलिए इनमें वस्तु-वर्णनों को प्रायः वह स्थान नहीं मिल पाता, जो रस-प्रधान काव्यों में प्राप्त हुआ करता है। यह सप्तसन्धान महाकाव्य यद्यपि एक कला-पक्षप्रधान श्रेष्ठ रचना है, तो भी इसमें काव्यात्मकता का अभाव कहीं भी परिलक्षित नहीं होता है। क्योंकि काव्य के सौन्दर्याधायक नाना चित्रणों में (भरतक्षेत्र, नगर, नदी वन, पर्वत, षड्ऋतु. दिग्विजय आदि) सभी वर्णनीय विषयों का विवेचन यथास्थान समुचित रूप से हुआ है। ऐसे चित्रणों का निदर्शन अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भरतक्षेत्र

संस्कृत जैन काव्यों की परम्परा में भरतक्षेत्र का वर्णन सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रकृत सप्तसन्धान में मेघविजय ने जम्बूद्वीप के मध्य विराजमान भरतक्षेत्र

का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

सर्वप्रथम भरतक्षेत्र का ऐश्वर्य बतलाते हुए कवि कहता है कि—भरतक्षेत्र वह है जहां पुष्पों के समान मणियों की भव्य पंक्तियां, सुशोभित हो रही हैं। पर्वतों या वृक्षों के समूहों से विकासशील जम्बूद्वीप में प्रकृष्ट भरतवंशीय राजाओं का निवास होता आ रहा हो (ऋषभपुत्र, दुष्यन्तपुत्र, और दशरथपुत्र इन तीनों वंश के राजाओं ने जहां शासन किया, वह भरत क्षेत्र है) अथवा जिसमें भरतमुनि प्रोक्त देदीप्यमान नाट्यशास्त्र विराजमान है अथवा जहां सदैव निवास करने वाला प्राणिवर्ग उसकी प्रभा से प्रभासित करता है, वह भरतक्षेत्र है।[1]

इसमें गंगा और सिन्धु नाम की नदियां सदा प्रवाहित होती है।[2] इसका प्रधान भाग आर्यखण्ड है। वैताढ्य पर्वत से अलंकृत इसका चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

तत्रार्यभागो वदनं खगानां,
श्रेण्यौपुनश्चौष्ठपदं दधाने।
क्षेत्रावनीशस्य तु सिन्धु-गंगे,
तेशमश्रुणीभात इव प्रसिद्धे ॥—सप्त० १/१६

अर्थात् षड्खण्ड वाले भूभाग में आर्यखण्ड स्वामी आदिनाथ तीर्थंकर के कारण सुशोभित होता है और वह वैताढ्य पर्वत से युक्त होने के कारण भरतक्षेत्र *रूप राजा के मुख के समान है। विद्याधरों की श्रेणियां वैताढ्य पर्वत की दक्षिण* और उत्तर की श्रेणियों में औष्ठस्थानीय हैं। सिन्धु और गंगा नदियां पुरुष की दाढ़ी मूँछ की भांति सुशोभित होती हैं।

भरतक्षेत्र का मानवीकरण करते हुए कवि की कल्पना रूपक का अपूर्व दृष्टान्त प्रस्तुत करती है। जिस भरतक्षेत्र का समुद्र दुकूल है, प्रभास और मागध तीर्थ ये दोनों उसके दोनों चरण हैं, वरदाम नाम का श्रेष्ठ पर्वत इसका नितम्ब है, इसलिए इस क्षेत्र का सादृश्य अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होता है।[3]

इसी सन्दर्भ में कवि कल्पना करता है कि भरतक्षेत्र का सिर हेमपर्वत है और हेमपर्वत से प्रवाहित होने वाली रोहिता नाम की नदी इसकी चूड़ा (शिखा) है। आकाशगंगा वामभ्रू और सिन्धु दक्षिण भ्रू है। नदी निर्गम नलिका जिह्वा है तथा गंगा और सिन्धु के ऊपरी भाग दोनों नेत्र हैं।[4] पूर्व और पश्चिम समुद्र जिसकी दोनों भुजायें हैं। प्रसिद्ध मध्यप्रदेश जिसका मध्य भाग है। कुशावर्ती जिसकी नाभि है। गहन कान्तार (जंगल) बहुलप्रदेश जिस देश का कण्ठभाग है, ऐसा वह भरतक्षेत्र अद्वितीय है।[5]

इस भरतक्षत्र को कवि ने उल्लेख के माध्यम से धर्म, कर्म और मोक्ष तीनों

के एक अनुपम निलय के रूप में वर्णित किया है—

स्कन्धांशुकं श्रीभरतस्य गंगा,
यज्ञोपवीतं शुचि तस्य सिन्धुः।
नास्मिंस्ततो वैषयिको विकारः,
सिद्धं शिवं ब्रह्मपदं तदेतत्॥ सप्त० १/२३

अर्थात् गंगा जिसके कन्धे पर लहराता हुआ दुपट्टा है और सिन्धु जिसके बाएं कन्धे पर लटकने वाला यज्ञोपवीत है। इसलिए इस भरतक्षेत्र में निवास करने वाले लोगों का मन, ध्यान, साधना आदि में लीन रहता है और भोग साधन स्रक्, चन्दन, वनिता आदि जिसमें विषय रूप से निरूपित हैं, उस विषय से उत्पन्न होने वाला विकार किसी को नहीं होता है। विषयजन्य विकारों के अनुसन्धान न करने के कारण इसी भरतक्षेत्र की योग आदि में सिद्धियाँ हैं। यह कल्याणकारी ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा तथा आनन्दमय मोक्ष के साधन स्थान रूप से पूर्ववर्ती विद्वानों के द्वारा वर्णित है। अर्थात् यह भरतक्षेत्र स्वर्ग आदि की भांति भोग-भूमि, पुण्यकर्मों के अनुष्ठान साधन होने से कर्मभूमि और मोक्ष का साधन होने के कारण ब्रह्म-भूमि है।

यह लक्ष्मी का लीला निकेतन है, इसलिए यहां के निवासियों को किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है, वे सदैव सत्कर्मों में दत्तचित रहते हैं।

भरतक्षेत्र के विषय में अत्यन्त समृद्धिशाली होने के कारण कवि कल्पना करता है कि कुवेर इसकी वैभवसम्पन्नता को देखकर ही दक्षिण दिशा में स्थित हुआ है—यह भरतक्षेत्र पृथ्वी का विश्राम स्थान या उपवन स्थान बनकर समग्र ऐश्वर्य रूप को धारण करने वाला हो गया है, ऐसी उद्भावना की जाती है। जिस भरतक्षेत्र की भूमि हल से जोती जाने पर भी रत्नप्रभा नाम से विख्यात है, उस भरतक्षेत्र की रत्नप्रभा भूमि से अपने में न्यूनता का अनुभव करके दक्षिण दिशा में चला गया।[6]

भरतक्षेत्र में स्वर्णाचल पर्वत विराजमान है, यह स्वर्णाचल सुमेरु पर्वत) भरतक्षेत्र के प्रति पक्षपाती है, क्योंकि अन्य ऐरावत आदि क्षेत्रों के प्रति ईर्ष्या भाव रखता है। इसके कारण भरतक्षेत्र का गौरव अत्यधिक बढ़ जाता है।

इस प्रकार भरतक्षेत्र की समृद्धि का चित्रण करते हुए कवि ने जो उसकी भूमि की रमणीयता का चित्र खींचा है, वह सर्वश्रेष्ठ रूप में सर्वत्र स्तुत्य माना जायेगा।

नगर

प्रकृत महाकाव्य में वर्णनीय नायकों के जन्मस्थान, देशों के वैभव, युद्ध और विहार आदि के प्रसंगों में विविध नगरों के नामों का उल्लेख तो मिलता ही है, साथ ही, नगरों का प्रशस्त और सुन्दर वर्णन भी प्राप्त होता है। ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर, राम और श्रीकृष्ण के जन्म के समय अयोध्या, हस्तिनापुर, शौर्यपुर, वाराणसी, कुण्डग्राम और मथुरा की शोभा का एक समान वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि 'जो सदा शत्रुओं के लिए दुर्गम है, ऐसे दुर्ग जहां शैल के समान विराजमान हैं, उन दुर्गों में रमणियां भी आश्रय ग्रहण करती हैं तथा वे क्षत्रियों से युक्त होने के कारण अच्छी तरह से रक्षित हैं। जहां बहुत बड़ी संख्या में उत्सवों का आयोजन होता रहता है, जो अनेक शुभ लक्षणों से आढ्य हैं और जो सारस पक्षियों से युक्त हैं। जहां मदिरा बुढ़ापा, मौर्वी (धनुष की डोरी) एवं भय का सम्बन्ध नहीं है। जहां वाम-विधि से दैवी की आराधना करने वाले ब्राह्मण रहते हैं और अच्छे राजा का शासन प्रबन्ध है, वहां के प्रासाद आदि अपने मनोहर और दर्शनीय सिंह द्वारों की उच्चता से शोभित होते रहते हैं, ऐसे वे नगर हैं[7]।

जिनमन्दिरों से शोभायमान उन नगरों में मनुष्यों से मिलने के लिए देवता स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरते हैं।[8] उन नगरों में जिनेन्द्रप्रभु से अभयदान को प्राप्त करके कामदेव निर्भय होकर निवास करता है।[9]

वे नगर धनधान्य से परिपूर्ण थे, क्योंकि लक्ष्मी ने उनमें स्थिरता धारण कर ली थी। अर्थात् लक्ष्मी ने चान्चल्य का परित्याग करके उसी नगर में अपना निवास बना लिया था।[10] वे नगर अनेक शोभाकारक वस्तुओं से विभूषित हैं। उन नगरों में देवत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि उनमें सदैव देवों का आवागमन बना रहता है। वे नगर शृंगार आदि रस हर्ष आदि के आधारभूत लोगों से, पृथ्वी के आश्रित हैं, जिनकी ऐसे वृक्षों से तथा मनोज्ञ जलाशयों से युक्त स्थान भूमियां हैं, वे पण्डितों से सेवित, रत्न स्वर्ण आदि सम्पत्तियों से समृद्ध राजलक्ष्मी अथवा वसुन्धरा की विभूति से विभूषित हैं। कुबेर की समृद्धि से कल्याणमय हैं। कवि स्वर्ग और नगरी की समानता की उद्भावना करता हुआ कहता है —

अस्याव्यवस्येयमहं वयस्यां,
द्यामेव पद्यां नयसंशयाब्धौ।
पतिसुधावज्जयवाहिनीशः,
श्रेयान् निवासः सुमनोविलासः ।।[11]

'नीति विषयक शंका सागर में निमग्न मैं (मेघविजय) इस नगरी की सदृशता

के लिए स्वर्गपुरी को ही मार्गभूत निर्धारित करता हूं। इस नगरी का अधिपति शीघ्रगामी लोगों की जयवाहिनी सेना का शासक है। सुधायुक्त, देवों की जय-वाहिनी के अधिपति इन्द्र हैं, इसलिए यहां के निवासी अतिशय प्रसन्न हैं क्योंकि यहां प्रशस्तचित लोगों का विलास (आनन्द) हुआ करता है। नगर कोविदों के विलास से सम्पन्न है और स्वर्ग देवताओं के विलास से युक्त है।

कवि नगरवासी लोगों के शौर्य, औदार्य आदि गुणों की सत्ता का प्रगटन करता हुआ नगरों की सार्थकता की अभिव्यंजना प्रस्तुत कर रहा है। 'इस नगर के लोग लक्षवेध में अभ्यस्त हस्त वाले अर्थात् सुशिक्षित वाण विद्या वाले हैं। अत्यन्त समृद्धिशाली होने के कारण यहां के निवासी लाख रुपयों को भी मन में नहीं लाते। धान्य के प्रकरण में प्रवृत्त होकर अपनी समस्त वस्तुओं को अथवा धन को और स्वयं को परोपकार के लिए ही मानते हैं। दूसरों के धन के सम्बन्ध में अपने धन और स्वयं को निष्फल समझते हैं, अर्थात् दूसरों का धन नहीं लेते हैं।[12]

उन नगरों में साक्षात् इन्द्र निरीक्षण हेतु आया करते हैं। वहां बुद्धिमानों के द्वारा श्लाघ्य संगोष्ठियां सतत चलतीं हैं। जो साधारण जन हैं, उनके लिए भी सरसता आवश्यक होती है, तो उन नगरों में रहने वालों के लिए सदैव सर्वजन प्रिय रसिक आयोजनों का क्रम चलता रहता है। उन नगरों में कोई भी व्यक्ति मन वचन काय से किसी भी प्रकार दुःखी नहीं रहते, न कोई भी झूठ ही बोलता है। उन नगरों में 64 कलाओं का प्रदर्शन निरत होता रहता है। वहां के लोग कलाओं से ही मनोविनोद करते रहते हैं। इसी बात को कवि कह रहा है—

कला विलासा मनसाऽवधार्याः,
कला विलासा न कदापि कार्या।
सभाजनैः स्वैरसभाजनै र्वा
सदा न भोगैरिवदानभोगैः ।।—सप्त० 1/50

नगर निवासियों का नृत्य गीत वाद्य आदि 64 कलाओं से विनोद हुआ करता है। वचन से कला को आबद्ध नहीं किया जा सकता है। पात्र सहित स्वेच्छाचारी लोगों के साथ सम्बद्ध और हमेशा योग्य व्यक्तियों को वस्त्रादि और फलादि का दान करने वाले लोगों के साथ अथवा वहां के लोगों की सूद लेकर धन बढ़ाने की मलिन तृष्णा नहीं रहती है। उन नगरों में रहने वाले व्यक्तियों को अभयदान प्राप्त है, अतएव वे सदैव निर्भीक रहते हैं। जिनेन्द्र में अनुरागवान हैं और सम्यग्ज्ञान आदि से सम्पन्न हैं।[13] जहां प्रत्येक स्थान पर सुन्दर उपदेश उपलब्ध हैं और विविध प्रकार के स्वर्ण आदि योगक्षेम के लिए सुलभ हैं, ऐसे

वे नगर हैं। प्रत्येक व्यवसाय आदि के प्रसंग में धनाधिपति कुवेर के सम्बन्ध की आख्यायिकाएं जिनमें सुनने को मिलतीं हैं, ऐसे वे नगर आह्लादकारी वातावरणों को बनाये रखते हैं। अन्त में कवि ऋषभ आदि के मोक्ष चले जाने पर कान्तिरहित नगरी का वर्णन करता हुआ कहता है—

सकमलाकमलाशयभूरभू—
न्नरमणी रमणीललनै श्रिया।
असुरभिः सुरभिप्रसवेऽपि सा
नरचिता रचिताद्वधूमतः॥ —सप्त० 8/24

नागरिक जनों से परिपूर्ण होने पर भी लक्ष्मी (शोभा) के सहित लक्ष्मी (सम्पत्ति) के निवास करने योग्य भूमि अथवा कमल की उत्पत्ति भूमि से उद्भूत दावानल की भूमि से वसन्त के प्रकट हो जाने पर भी उत्तम गन्ध से रहित हुयी। लक्ष्मी रूपी सुन्दरी के प्रियतम (ऋषभ आदि) होने से लक्ष्मी (शोभा) से युक्त भी वह नगरी रूपी रमणी मनोह्लादिनी नहीं हुयी।

कवि के द्वारा उपर्युक्त सभी नगरों का एकसाथ जो वर्णन किया गया है, यद्यपि वह (नगर-वर्णन) प्रशस्त नहीं हो सका है, तो भी काव्य की चारुता की दृष्टि से सुन्दर न बन पड़ा हो, ऐसी बात नहीं है।

वन

तीर्थंकरों के विहार काल एवं श्री रामचन्द्र के वनवास के प्रसंग में ग्रन्थकार ने अनेक वनों का उल्लेख तो अवश्य किया है, किन्तु कोई भी ऐसा स्थल उपस्थित नहीं किया, जिसके द्वारा वन वर्णन का विशद चित्र उपस्थित किया जा सके, तो भी कतिपय वनों का वर्णन यहां समुचित होगा। कवि ने भद्रशाल, सौमनस, नन्दन, और पाण्डुक वनों की स्थिति सुमेरू पर्वत पर मानकर उनके सौन्दर्य का वर्णन किया है—सुमेरू पर्वत पर भद्रशाल वन पवित्र और श्रेष्ठ है। जिसमें चित्र विचित्र वृक्षों से प्रसूत पुष्प और फल आदि है, ऐसा सौमनस वन है। आनन्दकारी होने से आनन्दयुक्त, नन्दन वन है अर्थात् नन्दन वन सबको अत्यन्त हर्ष प्रदान करता है। सातिशय सौगन्ध्यशाली पाण्डुक नामक वन है जो महत्त्वपूर्ण सुगन्धि युक्त वृक्षों को धारण करने वाला है।[14] ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर ने तपश्चर्या के लिए वनों में निवास करके अथवा जीवरक्षा की परायणता से तपोवनों का आश्रय लिया है। गहन वृक्षों के परिपूर्ण वनों में शयन करने के कारण कीचक वृक्षों के नीचे अत्यधिक शीत और सन्ताप आदि को सहन किया।[15] जिनेन्द्र महाप्रभुओं ने कर्मों के नाश के लिए वन और पर्वतों के भ्रमण रूप कष्टों

को सहन किया ।[16]

पर्वत

सप्तसन्धान में बाल तीर्थंकरों के जन्माभिषेक के समय सुमेरु पर्वत का मनोरम वर्णन प्राप्त होता है, क्योंकि जैनधर्म की मान्यता है कि तीर्थंकर के जन्म लेते ही देवराज इन्द्र का सिंहासन हिलता है। वह अन्तर्ज्ञान से जानता है कि तीर्थंकर महाप्रभु ने जन्म लिया है। वह अपनी शची (इन्द्राणी) के साथ माता के पास पहुंचता है, जिसने तीर्थंकर बालक को जन्म दिया है! माता से बालक को लेकर और ऐरावत हाथी पर बैठाकर देवताओं के साथ सुमेरु पर्वत पर ले जाता है। सुमेरु पर्वत पर क्षीरसागर के जल से 1008 कलशों को भरकर तीर्थंकर बालक का अभिषेक करता है। जन्माभिषेक के समय बालक के सातिशय तेज से सम्पूर्ण सुमेरु पर्वत दीप्ति को प्राप्त करता है।

सुमेरु पर्वत को मेघविजय ने भरतक्षेत्र के वर्णन प्रसंग में वर्णित किया है, क्योंकि जम्बूद्वीप में सबसे अधिक गौरव भरतक्षेत्र का है और भरतक्षेत्र में सुमेरु पर्वत का अत्यधिक महत्त्व है। स्वर्णमय कान्ति से सम्पन्न सुमेरु पर्वत को भरत-क्षेत्र के मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

दाक्षिण्यमामृश्य यदस्य मेरू:
स कांचनाचिर्विबुधैर्धृतार्च:।
महाविदेहं पुरतश्च पश्चा—
दस्यादिशद् दक्षिणभागमेव ।।—सप्त० 1/26

जिस स्वर्णाचल (सुमेरु) ने सर्वानुकूलता अथवा यज्ञादि विधान का विचार करके विशालकाय स्वयं को पूर्व पश्चिम दिग्भागों में स्थिर करके इस भरतक्षेत्र को अपने से दक्षिण दिशा में ही स्थिर किया; वही स्वर्णाचल (सुमेरु पर्वत) स्वर्ण की कान्ति से दैदीप्यमान देवताओं से पूजित है।

सुमेरु पर्वत की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कवि ने कहा है—'सुमेरु पर्वत भरतक्षेत्र में दाक्षिण्य आदि अनेक गुणों के होने से इसके साथ दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकने के कारण ईर्ष्या को धारणा करता हुआ रक्त (लालिमा) की अभिलाषा करने वाला है। इसीलिए ऐरावत नाम के विशेष क्षेत्र को अपने बांये भाग में बैठाकर वह शौर्यसहित और कान्तिमत्ता के कारण भव्यता को प्राप्त अथवा दयालुता के कारण भव्य सुमेरु पर्वत भरतक्षेत्र के दक्षिण भाग में स्थित है।[17] जब देवराज इन्द्र तीर्थंकर बालक को जन्माभिषेक के लिए सुमेरु पर्वत पर ले गये उस समय सुमेरु पर्वत पर सभी ऋतुओं के पुष्प एकसाथ पुष्पित हो गये।[18]

इसी सन्दर्भ में कवि देवांगनाओं के स्वरों से युक्त सुमेरु की रमणीयता का चित्रण करते हुए कहता है—

यस्मिन्नलं फललल्लदलशालिशाल—
वृन्दावनीसुरजनी रजनीश्वरास्या।
गीतस्वरैः सुरमणी रमणीप्रणीतै।
स्तन्तन्यते तनुभृतामतनूदयं सा॥—सप्त० 3/3

जिस सुमेरु पर्वत पर अत्यधिक फलों एवं वायु से हिलने वाले शोभायमान पत्तों से युक्त वृक्षों का समूह है। उस (सुमेरु) पर चन्द्रमुखी देवांगनाएं आनन्दित करने वाले रमणीय गीत स्वरों से प्राणियों में कामोद्रेक अथवा प्रचुर आनन्द समृद्धि को बढ़ा रही हैं। आगे श्लेष के माध्यम से कवि ने सुमेरु, अष्टापद एवं गोवर्धन पर्वतों की शोभा का मनोरम चित्रण किया है।[19] इसी प्रसंग में पंचतीर्थंकरों से सम्बन्धित सुमेरु पर्वत, बलदेव (राम) से सम्बद्ध अष्टापद और श्रीकृष्ण से सम्बद्ध गोवर्धन की शोभा को एक साथ प्रस्तुत करते हुए कवि ने कहा है— 'जिसमें आठों धातुओं का निवास है अथवा जिसकी आठ धातुओं में प्रतिष्ठा है, ऐसा वह स्वर्ण का सर्वोच्च शैल (सुमेरुपर्वत) तीर्थंकरों के अभिषेक महोत्सव का आधारभूत होने के कारण महिमा को प्राप्त कर रहा है और अपने आश्रितजनों का अभ्युदय कर रहा है। आठों दिशाओं में व्याप्त इन्द्र भगवान् जिनेन्द्र को जन्म के अनन्तर क्षण में ही सातिशय ज्ञान के भाजन उन ऋषभ आदि तीर्थंकर बालकों को निश्चय रूप से सुमेरु पर्वत पर ले गया। राम की अष्टापद पर्वत पर जन्माभिषेक क्रिया सम्पन्न हुयी तथा श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव गोवर्धन पर्वत पर मनाया गया था।'[20]

गृहस्थावस्था के अनन्तर ऋषभ आदि महाप्रभुओं ने दीक्षा ग्रहण की। संसार से विरक्त हुए उन महापुरुषों का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था। मुक्ति के प्रधान साधन तप और साधना हैं। तप और साधना के लिए एकान्त स्थान की आवश्यकता होती है। एकान्त स्थान गहन वन और भूधर आदि ही होते हैं। इसलिए जिनेन्द्र महाप्रभु ने अपनी साधना के अधिष्ठान दुर्गम पर्वतों को बनाया। ये पर्वत शीत ताप एवं भयंकर जन्तुओं से युक्त होते हुए भी जिनेन्द्र महाप्रभुओं के विहार काल में सहायक रहे। इन पर्वतों का सामान्य वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जिनेन्द्र महाप्रभु ने दीक्षा के अनन्तर अनेक दुर्गम पर्वतों में भ्रमण किया। राम ने अपने बनवास काल में दण्डकारण्य आदि वन और पर्वतों का भ्रमण किया तथा श्रीकृष्ण ने बहुत समय तक रैवतक गिरि पर विनास किया है।[21]

जिनेन्द्र प्रभु ने अपने विहार काल में हिमालय पर्वत पर निवास करके उसे

दर्शन के योग्य बनाया अर्थात् शोभा सम्पन्न कर दिया। जिस प्रकार शंकरजी के निवास से हिमालय शोभा से युक्त था, उसी प्रकार तीर्थंकर महाप्रभुओं से भी विभूषित हुआ।[22] कवि ने वैताढ्य पर्वत पर भगवान् आदिनाथ के वंशज 'नमि' और 'विनमि' के निवास का चित्रण किया है। राजगिरि आदि भूधरों पर जिनेन्द्र प्रभुओं की कायोत्सर्ग मुद्रा आदि का सुन्दर विवेचन किया है।[23] इसके अनन्तर कवि ने जिनेन्द्र महाप्रभु के अधिष्ठान रूप में पवित्रित शैलों का चित्रण करते हुए, उन शैलों पर जाने के लिए उत्सव मनाने वाले लोग संसार से विरक्त होकर पहुंचे। इस प्रकार पर्वतों को शान्ति और वैराग्य भावना का उद्बोधक सिद्ध किया है।[24] अन्त में कवि ने वर्णनीय महापुरुषों के मोक्षप्राप्ति के अधिष्ठान-भूत विविध पर्वतों का श्लेष के माध्यम से वर्णन किया है अर्थात् ऋषभनाथ ने कैलाश पर्वत (अष्टापद), शान्ति और पार्श्वनाथ ने सम्मेद शिखर अरिष्टनेमि ने गिरनार तथा श्री राम ने कोटिशिला पर केवलज्ञान को प्राप्त कर शत्रुञ्जय पर्वत से मुक्तिरमा (मोक्ष) का वरण किया था।[25] इस प्रकार कवि के द्वारा तीर्थंकर आदि के विहार काल में तप और साधना के आश्रयभूत और मोक्ष प्राप्ति के अधिष्ठान रूप पर्वतों का समुचित वर्णन हुआ है।

नदियाँ

प्रकृत काव्य में नदियों का वर्णन भरत-क्षेत्र के सौन्दर्यवर्धन के रूप में किया गया है। भरतक्षेत्र में गंगा और सिन्धु नाम की नदियां प्रवाहित हैं। कवि के लिए भी इन्हीं दो नदियों का वर्णन अभीष्ट है। अन्य नदियों का नाम मात्र का उल्लेख किया है।[26] कवि ने गंगा का वर्णन भरतक्षेत्र की प्रथम परिणीता के रूप में किया है। गंगा सतत प्रवाहमान भरतक्षेत्र की शोभा सम्पादिका और प्राणियों के सम्पूर्ण पापों को धोकर उनका उद्धार करने वाली चित्रित की गयी है—

गंगाऽनुषगान्मणिमालभारिणी,
सुरद्रुसेकामृतपूरसारणी।
क्षेत्रक्षमेशस्य रसप्रचारिणी,
सा प्रागुढा वनितेव धारिणी ॥—सप्त 1/17

भरतक्षेत्र रूप राजा के द्वारा प्रथम परिणीता पत्नी की भांति गंगा नाम की महानदी सुशोभित है, जो वैताढ्य पर्वत के सम्बन्ध से मणियों की माला को धारण करने वाली है। अथवा प्राणियों की माला की भांति दीप्ति को धारण करती है, जिसका जल प्रवाह कल्पवृक्षों (देवदारु वृक्षों) के सिंचन में नहर की

भांति प्रवहमान् रहता है। जो वर्ष पर्वत के प्रस्ताव से हिमवान् पर्वत पर रस प्रचार करने वाली है अर्थात् समुद्र पर्यन्त विस्तृत है। दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को संभालने वाली गंगा त्रिभुवन पावन जीवन के अवगाहन अवलम्बन देने वाली है। क्षेत्रपति (भरतक्षेत्र) की प्रथम परिणीता वनिता के रूप में गंगा का वर्णन करने के अनन्तर उसकी द्वितीय वनिता के रूप में पश्चिमाभिमुखी सिन्धु नाम की नदी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

सिन्धुर्द्वितीयाब्जमुखानुसारिणी,
जड़प्रसंगाद्वृतचारुवारुणी।
इतस्ततो नौ निभृतार्थतारिणी,
वसुप्रकाशैः सुरविप्रतारिणी॥ सप्त० १/१८

अर्थात् क्षेत्रपति की द्वितीय वनिता के समान रूपवती सिन्धु नाम की द्वितीय नदी बहती है, वह सिन्धु नदी पद्महृद से निकलकर आगे की ओर बढ़ती जाती है और अपने जल प्रवाह के प्रसंग से वारुणी अर्थात् सुन्दर पश्चिम दिशा को स्वीकार करती है, जिस प्रकार कोई नायिका मूढ़ता के प्रसंग से मदिरा पीना स्वीकार कर लेती है। यह नौका से धन को इधर-उधर पहुंचा देने वाली है। यह नदी सूर्य अथवा वसुदेवताओं अथवा मणियों के प्रकाश से देवताओं को ठग लेने वाली है अर्थात् प्रकाशवान् जल के द्वारा दिव्य पुरुषों और ब्राह्मणों को संसार सागर से पार कर देने वाली है। उक्त नदियों का वर्णन भौगोलिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का है, क्योंकि कवि द्वारा वर्णित दोनों नदियां पौराणिक है। इनका वर्तमान गंगा और सिन्धु से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनका भौगोलिक विवरण षष्ठ परिच्छेद में भौगोलिक शब्दावली के प्रसंग में द्रष्टव्य है।

ऋतु वर्णन

प्रकृति चित्रण महाकाव्य का एक अविभाज्य अंग है और ऋतु वर्णन का उसमें विशेष महत्त्व है। सप्तसन्धान का ऋतु वर्णन विस्तृत और प्रशस्त है। मेघ-विजय का षड् ऋतुओं का चित्रण महाकवि माघ के ऋतु वर्णन के साथ पूर्णतया साम्य रखता है। महाकवि माघ ने वसन्त ऋतु से शिशिर ऋतु तक का सुन्दर चित्रण उपस्थापित किया है। इसी क्रम से सप्तसन्धान के रचयिता ने भी षड्-ऋतुओं का सजीव और सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। यद्यपि ऋतु-परिवर्तन नियत समय से होता है, किन्तु दिव्य नायकों की अलौकिक प्रभुता प्रगट करने के लिए षड् ऋतुओं का एक साथ होना प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत के अनेक उत्कृष्ट काव्यों में उक्त अवतारणा दृष्टिगोचर होती है। इस प्रसंग में दृष्टान्त के

रूप में शिशुपाल वध का चित्रण लिया जा सकता है। माघ ने श्रीकृष्ण की समाराधना के लिए रैवतकगिरि पर समस्त ऋतुओं की एक साथ उपस्थिति का वर्णन किया है,[7] इसी प्रकार मेघविजय ने भी तीर्थंकर (ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व, महावीर) के जन्माभिषेक के समय सुमेरू पर्वत पर समस्त ऋतुओं की एक साथ अवतारणा की है,[28] जो वस्तुतः अलौकिकता की प्रतीक है।

वसन्त—कवि प्राणीमात्र के हर्ष को बढ़ाने वाली वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कहता है—"समस्त व्यक्तियों के सहन करने योग्य समशीतोष्णता, रहने से इस मधुर ऋतु के दिन ललित हो गए हैं। यही कारण है कि सुकुमार शरीर वाले भी उद्यान में वायु के कारण हिलते हुए वृक्षों के नीचे विचरण करने बाले मृगों या किन्नरों की पान-गोष्ठी के दर्शन का आनन्द प्राप्त कर रहे हैं।[29] उत्प्रेक्षा द्वारा फाल्गुन मास की समशीतोष्णता का सुन्दर चित्रण करते हुए कवि ने कहा है—

सा फाल्गुनस्य यशसां जगति प्रशस्तिः,
प्रादुर्बभूव महसा जितसौरभासः।
मन्ये तदर्क तनुजन्म विभाविनोद-
स्तत्याजमौढ्यमचिरान्न तथा प्रसह्य॥ सप्त० ७/६

फाल्गुन मास के यश की प्रशस्ति संसार में व्याप्त है क्योंकि सूर्य भी इसमें अपनी कान्ति से अधिक तेज को प्राप्त नहीं कर सकता है। सूर्य के शरीर से उत्पन्न विभा बलपूर्वक इस फाल्गुन मास में सहनशीलता का त्याग नहीं करा सकी है। मैं ऐसा मानता हूं कि ये दिन मधुर और सुहावने होते हैं और सभी को प्रिय लगते हैं। प्रकृति के साथ मनुष्य का उत्साह भी वृद्धिगत हो जाता है। वसन्त ऋतु में कामदेव के बाण के लिए पुष्प विकसित होने लगे—

सिद्धोपदेश वचसा कृतकर्णभेदं;
श्वेताश्व वाहनबलं स्वनृपानुमत्या।
शुद्धैषणादिविधिना सुरपुष्पवृष्टिरुच्चै-
र्युक्तानुयुक्तकरणैर्जनयाम्बभूव॥—सप्त० ७/७

जिसमें स्वाभाविक कोकिल की वाणी से कर्णिकार के पुष्प का विकास हो गया है। सूर्य के तेज ने सूर्य की आज्ञा से पुष्प बाण को दिए जाने वाले बाण को शाण पर चढ़ाकर तेज किये जाने वाले विधान से पुष्पवृष्टि अर्थात् जिनमें कुछ पुष्प विकसित हो चुके हैं और कुछ पुष्प विकासोन्मुख हैं, ऐसे पुष्प अत्यधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगे। वसन्त में होने वाले भ्रमर गुंजार पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है—"भ्रमर अपने गुंजन के व्याज से मानो लोगों को शराब छोड़ने का विधान बतला रहा है क्योंकि शराब पीने से स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर भटकना निर्भय

होकर विहार करना आदि स्वाभाविक हो जाता है। इसलिए उसे (दुष्प्रवृत्ति) को रोकने के लिए इस वसन्त में भी मद्यपान रूप भोजन के व्यसन को छोड़ दो। ऐसे मद्यजनित भ्रान्त वचन की भ्रमर इस वसन्त ऋतु में बुद्धिपूर्वक परस्पर बात सी कर रहे हैं।[30]

वसन्त की सुषमा एवं उसमें विकसित होने वाले पुष्पों का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

तत्रोद्बभूव सुरभिः सुरभित्प्रसंगी
पद्मप्रबोधविधिनाभुवनानुरागी।
चक्रे निशाचरबलक्षयतोवियोगं,
भिन्दन् शिलीमुखबहुप्रसरोपयोगात्॥—सप्त० ७/१४

ऋतुओं के प्रसंग में पुष्पों की समृद्धि से सम्पन्न वसन्त आ गया। वह कमलों को विकसित करने की विधि से भुवन का अनुरागी बन गया एवं भ्रमरों के अत्यधिक संसर्ग के उपयोग से चन्द्रमा के दौर्बल्य के कारण कमल और भ्रमर के वियोग को तोड़ता है अथवा उल्लू नामक पक्षियों के बल विनाश होने से कोकिल पक्षियों के सम्बन्ध का सम्पादन किया (काक और पिक के वर्ण समान होने पर भी वसन्त ने कोकिल को उल्लषित किया।) अथवा सर्पों के विलों का वसन्त में गिरे हुए पत्तों से आच्छादित हो जाने से सर्पों का विवर वियोग हो जाता है। आगे कवि वसन्त की शोभा का वर्णन करता हुआ कहता है— 'जिस वसन्त ऋतु में आतप की श्रीवृद्धि हो गयी। पत्तों के गिर जाने में अथवा शुक पक्षी के आकाश में लीन हो जाने पर अथवा शोकादि के विनस्ट हो जाने से मृग के सम्बन्ध की कला से अथवा रमणी के संगम के आकलन से प्रचुर सुगन्ध से हर्ष उत्पन्न करके विषाद को पराभूत करने से चित्रा नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा के पहुंच जाने पर अत्यन्त उत्कृष्ट जो शासन उससे उपलक्षित अर्कसूति अर्थात् मान्दर पुष्पों का उद्गम हो गया।[31] वसन्त ऋतु से प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

धारां पुपोष विपरीततया न राधां,
राजांगजाभ्युदयितां दयितांगरागात्।
उक्तिः प्रिया पवनशालिवनप्रियाणां,
कामं जनेषु विनयाज्जनयाम्बभूव॥ सप्त० ७/१७

अत्यन्त प्रिय अंगराग से चन्द्रमा की शीतलता की समृद्धि से विभूषित अतिशय शीतल जलधारा का सेवन किया अथवा प्रेयसी के अंग के स्पर्श सुख से

चन्द्रमा से उत्पन्न शीतलता का सेवन किया। विपरीत रति के कारण रमण की इच्छा का अनुभव नहीं किया क्योंकि गर्मी बहुत बढ़ गयी थी अथवा 'धारा' पद गत अक्षरों के उलट कर उच्चारण करने से बनी राधा अर्थात् हाथी के मदस्राव ने उसको पुष्ट नहीं किया। पवन से आन्दोलित वन के कोकिलों का पंचम स्वर से किया गया अलाप लोगों को प्रिय लगने लगा। उस कोकिल की काकली ने लोगों में विनय से अनुराग उत्पन्न करके मदन को जन्म दिया। इस प्रकार कवि ने वसन्त की सुषमा, शीतलता एवं उसमें विकसित होने वाले विभिन्न पुष्पों का वर्णन किया है। वसन्त में लोगों का कामदेव के प्रति अनुराग दृढ़ हुआ। इस वर्णन के माध्यम से कवि ने लोगों को व्यसनों से परांगमुख होने का उपदेश भी दिया है।

ग्रीष्म—ग्रीष्म ऋतु का वर्णन मात्र दो-तीन पद्यों में किया है। भयंकर ग्रीष्म के ताप ने हरे-भरे वनों की श्री समाप्त कर दी और छोटे-छोटे सरोवरों के जल को सुखा दिया। इसका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

ग्रीष्मर्तुराड् भुवि ददाह न शाखिनोऽन्यान्
स्वैः पत्रवाह निवहैः परपत्रवाहान्।
व्याशोषयन्नवजड़ाशय पंकभागान्.
मुक्त्वैवमेव सहकारमुखं स भीष्मः॥ सप्त ०७/१८

वह भयंकर तापप्रद ग्रीष्म ऋतु अपने समय के पत्रों को विकम्पित करने वाले पवन के दावानल आदि के संसर्ग से उत्तम पत्र वाले दूसरे वृक्षों—सहकार आदि प्रधान वृक्षों को छोड़कर ही नहीं जलाया यह बात नहीं अर्थात् जला ही दिया और न इन जलाशयों (छोटे सरोवरों) के कीचड़ों को भी सुखा दिया, ऐसा नहीं। ग्रीष्म कालीन आतप से पीड़ित होकर जन पृथ्वी पर सोते हैं और बार-बार जल में डुबकी लेते हैं। इसी बात को कवि कहता है। शीत के विनाश कारक इस ग्रीष्म ऋतु में अतिशय गर्मी के कारण भूमिशय्या का आश्रय ग्रहण करने वाले पुरुष ग्रीष्म के सन्ताप से आतंकित हो तपोवन जाने या श्रमण दीक्षा का सेवन नहीं कर सकते हैं। ग्रीष्म के दाह के कारण नाव पर सवार होकर भ्रमण करते है अथवा जल में डुबकी लगाकर स्नान करते हैं। इस प्रकार कवि ने प्रचण्ड ग्रीष्म का वर्णन संक्षिप्त रूप में कहकर भी ग्रीष्म ऋतु का यथार्थ चित्रण कर दिया। कला पक्ष में कवि का ध्यान केन्द्रित है, अतएव सभी वर्णनों का उपयुक्त फैलाव नहीं है, फिर भी कवि संक्षिप्त रूप में वस्तुतत्त्व की उपस्थिति कर देता है।[३]

वर्षा—ग्रीष्म ऋतु के समाप्त होते ही वर्षा ऋतु का आगमन होता है। कवि वर्षा ऋतु के आगमन की सूचना देता हुआ कहता है—"मेघाम्बर से प्रवर्तित

जलवृष्टि द्वारा आन्तरिक सन्ताप को शमन करने वाले आषाढ़ महीने के प्रभात काल को देखकर, कुटज के अत्यधिक विकास और केवड़े के खिले हुए पुष्पों को देखकर वर्षा काल के आगमन को किसने नहीं कहा, अर्थात् सभी ने कहा।[33]

वर्षा के आगमन के साथ ही आकाश में द्रोण नाम के बादल आ गये, उन्होंने वनिताओं को प्रसन्न चित्त कर दिया। कवि इसी बात को चित्रित करते हुए कह रहा है—"नीचे की ओर आने वाले द्रोण नाम के बादलों ने महिलाओं को दुःखहीन बना दिया, क्योंकि वर्षाऋतु के आ जाने से लोगों का आना जाना बन्द हो जाता है। अतएव महिलाएं अपने-अपने पतियों से वियुक्त नहीं होती हैं और लोकमंगल के पराधीन चित्त वाले प्रत्यक्ष सूर्य के द्वारा मुक्त वृष्टि से स्नान करने वाले जल के द्वारा मेंढक ताप रहित कर दिए गये।[34] द्रोणि नाम के बादल अपने नाम को यथार्थ बना रहे हैं—

द्रौणिः स्फुटं विघटयन् शिखरेषुवाहा—
वार्यं स्ववीर्यमधिगम्य स साम्यमाधात्।
निस्तन्द्रसान्द्रपरवासविनाशनाय
स्वंनाम नामपरिणाममवेक्ष्य सद्यः॥—सप्त ७/२६

द्रौणि नाम का कोई बादल पर्वतों के शिखरों पर नदियों के वेग को रोक सकने में असमर्थ पाषाण खण्डों को पाकर अपने सामर्थ्य की प्रतीति से सम्मिलित जनों को विघटित करता हुआ आलस्यहीन और घनीभूत दूसरों के घरों या कलत्रों के विनाश करने में योग्य अपने नाम का यौगिक अर्थ को समझकर उसने हिंसा परायण व्यक्ति के साथ अपने वाच्यार्थ का विचार करके हिंसकों की समता को धारण कर लिया।

वर्षाऋतु में अनुकूल वर्षा होने के फलस्वरूप स्थावर और जंगम प्राणियों में उत्पन्न हुए हर्ष का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

वर्षाधिकामितफलाधिगमेनशल्यं-
भित्त्वाऽभजद् विभुवने भुवने जयश्रीः।
नित्यानुकूलपवनांगसप्रयोगं,
धर्मात्मजः सविजयस्तत एव राजा॥—सप्त० ७/२७

वर्षाकाल में अभिमत फल देकर लोगों के अवृष्टि जनित दुख को मिटा दिया। समस्त भुवनों ने विजयश्री को प्राप्त किया और दिन-रात चलने वाले पवन के वेग की अनुकूलता को प्राप्त किया। (क्योंकि अनुकूल पवन से ही वर्षा होती है, उसी को मानसून कहा जाता है) ऐसे अनुकूल पवन से प्रेरित वर्षा के कारण प्राणी विजयी हुए अथवा सामान्य जीव भी राजा की भांति विजय को प्राप्त हो गये,

क्योंकि जल की वृष्टि से ही स्थावर और जंगम जीवों में प्रसन्नता होती है। वर्षा ऋतु में जलवृष्टि के कारण चारों ओर की प्रकृति हरी-भरी हो जाती है। अपूर्व आनन्दित होने के कारण मेंढक टर्र-टर्र की आवाज और मयूर आदि हर्षोन्मत्त होकर नृत्य करने लगते हैं। ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप के कारण प्रकृति का कण-कण मुरझा गया था। किन्तु वर्षा काल से सर्वत्र नव चेतना और नयी स्फूर्ति परिलक्षित होने लगी, इसी दृश्य का कवि उपस्थापन कर रहा है—श्रावण मास में धूलि का नाम भी दिखलायी नहीं पड़ रहा है। पृथ्वी पर चारों ओर जल भर गया है। मेघ गर्जन कर रहे हैं तथा मेंढक जल में डुबकी लगा-लगाकर हर्षोल्लासपूर्वक टर्र-टर्र की ध्वनि कर रहे हैं। मयूर मेघों का गर्जन सुनकर नृत्य कर रहे है। वानर शिविर में हर्ष ध्वनि करते हुए किलकारियां भर रहे हैं। राक्षसों की सेना वानरों की सेना से आतंकित हो जाने के कारण घर से नहीं निकल रही है।[35]

कवि के द्वारा किया गया वर्षा ऋतु का वर्णन यथार्थ और सुन्दर है। वर्षा ऋतु जीवमात्र के लिए सुखदायक है। यह जीवन में नया परिवर्तन लाती है। इससे प्रकृति का वास्तविक सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य श्री की अभिवृद्धि करता हैं। इन सम्पूर्ण बातों का चित्रण कवि ने सजीव और सुन्दर किया है।

शरद्—वर्षा ऋतु में प्रकृति में नवीन परिवर्तन अवश्य आ जाता है, साथ ही सर्वत्र जल भर जाने के कारण मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। जल में मलिनता आ जाती है। वर्षाऋतु के बाद शरद् काल में लोगों में एक नया मोड़ आ जाता है। मनुष्य अपने रुके हुए कार्यों को प्रारम्भ कर देते हैं। अवरुद्ध मार्ग खुल जाते हैं। व्यापारी लोग व्यापार को निकल जाते हैं। वर्षाऋतु में रुके हुए पथिक अपने-अपने वाहनों को तैयार कर यथेष्ठ स्थानों की ओर रवाना हो जाते हैं। चारों ओर मार्ग में आवागमन दिखायी पड़ता है। यह शरद् ऋतु लोगों में आनन्द की अभिवृद्धि करती है। कवि ने शरद् ऋतु का सुन्दर चित्रण करते हुए कहा है—

पद्मोदयः सरसि निर्मलता प्रयुक्ता-
संपत्त्रकम्पनगतिर्मधुराध्वराजम्।
नैपुण्यपुण्यचरिताद् दुरितान्निवृत्तिः,
किं किं शरन्न तनुते स्म सुखं जनेऽस्मिन्॥—सप्त० ७/३१

शरद् ऋतु के आते ही कमल विकसित हो गए हैं। जल में निर्मलता आ गई है। पथिकों के बाहनों की सुन्दरता सुशोभित हो रही है। वर्षा के कारण पथिकों ने रास्ता चलना बन्द कर दिया था, अब पुनः वे अपने वाहन तैयार करके जाने लगे है। पाप के रुक जाने से पवित्र पुण्याचरण की लोगों में प्रवृत्ति देखी जाने लगी। यह शरद् ऋतु इन लोगों में संसार के किस-किस सुख को नहीं बढ़ा रही

है ? शरद् ऋतु सौभाग्यशाली मनुष्यों को नाना प्रकार की सम्पत्ति प्रदान करती है। लोगों के अनुकूल वातावरण को उपस्थित करती है। कवि ने इसी तथ्य को उपस्थित करते हुए कहा है—

प्राप्ताश्विनेयसुभगक्रियया जनाग्रे,
गर्जन्महासुरघटा गतिरंजना सा।
यस्या नु बृंहितरवश्रियमाददाति,
तस्याः सतः प्रतिपदं शिवसंपदेति ॥—सप्त० ७/३०

मनुष्यों के सामने आश्विन महीने से युक्त शरद् ऋतु के सुन्दर सम्पर्क को प्राप्त करके गरजती हुई विशाल असुरों की घटा जिसमें दिखायी दे रही है ऐसी अंजना नाम की हथिनी गति प्राप्त करके अपने गर्जन के शब्द से लोगों के मन में अनुकूलता का आधान करती है। उसका प्रत्येक क्रम सौभाग्यशाली सज्जनों को कल्याणकारी सम्पत्ति प्रदान करती है। इस प्रकार मनुष्यों को सुख प्रदान करने वाली शरद् ऋतु का वर्णन अत्यन्त सुन्दर रूप से किया गया है।

हेमन्त—कवि ने शरद् ऋतु के वर्णन के अनन्तर हेमन्त ऋतु का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होते ही हंस मान-सरोवर में चले जाते हैं वहां चार महीने रहते हैं इसके अनन्तर हेमन्त ऋतु में पुनः मान सरोवर से पृथ्वी तल में लौट आते है। हेमन्त ऋतु में सर्वत्र हर्ष का वातावरण फैल जाता है। इसका वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

पक्षः पुरः सुरसमागम रागदक्षः,
साक्षाद्दशाननरुचिज्वलनेन मोदः।
सीतान्तरप्रणयिता नृपतिप्रयोगः
संजात एव नृपलक्ष्मणसन्नियोगः ॥—सप्त० ७/३२

माह का शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष अथवा पक्ष-सेना, पक्ष-खग, पक्षराज कुञ्जर के सामने मार्गशीर्ष मास के होने से उसके समागम के अनुराग में दक्ष अथवा सामने सुरापान करने वालों के समागम का जो राग उसमें समुत्सुक अथवा जिसमें शोभन जल समा जाता है उस सरोवर में हंस आदि पक्षियों का मानसरोवर से लौट आने की दक्षता से युक्त (मार्गशीर्ष मास) है। इसमें समग्र दिशाओं में प्रकाश फैलाने वाले सूर्य की रुचि तथा अग्नि में आनन्द प्राप्त होने लगता है। दूसरे शोभा सम्पत्ति के अथवा मदिरान्तर के प्रेम, सूर्य की अन्य राशि पर गमन, राजा के गमन अथवा उत्तर दिशा में यात्रा अथवा सारस पक्षियों का इधर-उधर जाना शुरू हो गया।

हेमन्त ऋतु में कुछ शीत के आ जाने के कारण लोग कामकेलि में तत्पर हो जाते हैं और सूर्य का आतप सेवनीय हो जाता है। इन्हीं तत्वों को प्रकट करते हुए कवि ने कहा है—"मार्गशीर्ष मास में होने वाली प्रवृत्ति उचित ही है क्योंकि रास्तों का प्रवर्तन निर्बाध हो गया और अपनी सम्पत्ति का सम्पादन कर लिया गया। लोग कामकेलि में स्वेच्छा से रमण करने लगे। घर में वास्तविक कमल सदृश नेत्र वाली सुन्दरियों का आगमन होने लगा और स्नेह से घरों में मित्रों के भोजन आसन आच्छादन आदि की व्यवस्था होने लगी अथवा सूर्य का आगमन आतप सेवन आदि के द्वारा प्रशस्त माना जाने लगा।"[36]

शिशिर—हेमन्त ऋतु के अनन्तर कवि ने दो पद्यों में शिशिर (शीत) का वर्णन किया है। शिशिर ऋतु में शीताधिक्य के कारण मनुष्यों की उष्ण पदार्थों के सेवन की रुचि हो जाती है। कवि उपदेश प्रधान शैली में शिशिर का श्लिष्टात्मक वर्णन प्रस्तुत करते हुए कह रहा है—

उष्णभोजनरसः परकान्तासंगमेन बहुधा लयभावः।
कृष्णवर्त्मरुचिरप्यति जाड्यात्सैष तैष नववेष विशेषः॥—सप्त० ७/३४

मनुष्यों का गरम भोजन में अनुराग हो गया। असाधारण सत्पुरुषों की संगति से बहुधा लय भाव अर्थात् उनके साथ मन की एकाग्रता प्राप्त होने लगी अथवा अनुपम मुक्तिरूपी अंगना के संगम से अत्यन्त उपरति होने लगी अथवा परस्त्री संसर्ग के परित्याग से बहुधा कर्म निवृत्ति होने लगी और अत्यन्त शैत्य के कारण अग्नि में प्रीति बढ़ गयी। अत्यन्त जड़ता के कारण बुरे कर्मों में प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी, यह पौष मास का नवीन स्वरूप विशेष है। माघ मास में शीत-जनित संताप के दुःख जनक होने के कारण कवि ने शीत को ताप के रूप में वर्णित किया है। 'चन्द्रमा के शीत संवर्धन के समान माघ मास के शीत उत्पादक होने में मौन धारण करने से वानरराज के शीताधिक्य के नैपुण्य से दुःख निवारक समिति प्रज्ज्वलित अग्नि प्रवेश उचित प्रतीत हुआ और मनुष्य के नेत्र के फैलाव मात्र से कान्ति आने लगी। समुद्र में गिरते हुए हिमों के आवरण से दर्शक की आंखें जैसे कुण्ठित हो जाती हैं, उसी तरह कुहरा गिरने से सम्पूर्ण संसार सन्तप्त हो गया। सभी लोग आपादमस्तक वस्त्र धारण करने के कारण निर्लज्जता को छोड़ चुके हैं। विलास को प्राप्त हो जाने वाले पवित्रात्मा सूर्य के आतप का आदर करने लगे हैं।[37] उक्त षड् ऋतुओं का वर्णन काव्य की दृष्टि से मनोज्ञ और आह्लादक है। इसमें कवि ने यथार्थ और सुन्दर चित्रण करके काव्य की चारुता का सम्बर्धन किया है।

दिग्विजय

कवि ने दिग्विजय वर्णन के प्रसंग में केवल भरत की दिग्विजय को प्रस्तुत किया है। यहां पर कवि का एक दोष परिलक्षित होता है कि वर्णनीय सात नायकों की दिग्विजय का वर्णन न कर मात्र ऋषभदेव पुत्र भरत की दिग्विजय प्रस्थान का ही वर्णन किया है। कवि ने इस प्रसंग में विविध स्थानों और राजाओं का उल्लेख भी किया है। भरत के दिग्विजय प्रयाण काल में घोड़ों की टापों से खुदी हुई पृथ्वी की धूल को उत्प्रेक्षा के द्वारा प्रस्तुत किया है। जो रघुवंश महाकाव्य में चित्रित रघु के रथों के चलने से उड़ी हुई धूलि का स्मरण दिला रहा है। यहां कवि की कल्पना कालिदास से भी प्रभावशाली परिलक्षित हो रही है। 'सम्राट भरत के दिग्विजय प्रयाण में तीव्रगामी घोड़ों की टापों से खुदी हुई पृथ्वी से आकाश की ओर उड़ने वाला धूलि पुंज मानव स्वर्ग में पहुंचकर ब्रह्मा की सभा में भरत के चक्रास्त्र और महान उदय के प्रभूत आधिपत्य को कह रहा है।[38]

इसी प्रकार वर्णन करते हुए कवि ने एक मनोरम कल्पना की है, कि धूलि-समूह अम्बर को ढंक लेने के बाद सूर्य के सारथि अरुण के पास पहुंच कर सन्ध्या-कालीन धूलिकणों से भिन्न प्रकार का भासित होता हुआ अद्वितीय कान्ति को धारण कर रहा है।[39] इसके बाद भरत ने अपने चक्र नामक अस्त्र को प्राची दिशा में प्रविष्ट कराया, जहां चक्र था वहीं सेना का पड़ाव डालने का आदेश दिया। उस विजय कार्य में रत, रागविमुख सम्राट भरत को भूतल के चक्रवर्तियों में प्राथम्य माना गया।[40] चक्रवर्ती भरत के पश्चिम दिशा में प्रयाण का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—पहिले देवताभिमानी मगध तीर्थेश को विनत बनाकर हर्षकारक अथवा अत्यन्त गर्वीले प्रसिद्ध वरदाम के राजा को झुकाकर और फिर उन्हें स्वाधीन करके प्रभा और प्रताप से त्रस्त पश्चिम दिशा में (भरत ने) गमन किया, अर्थात् आरम्भ में शत्रु रूपता को प्राप्त हुए राजा मैत्री से प्रणत हो गये।[41] आगे वर्णन करते हुए कवि ने कहा है— पृथ्वी वल्लभ (भरत) ने अपनी सेना को ठहरने के लिए समुद्र के तट पर सेना के रक्षक रूप प्राकार से युक्त उपनिवेश बनाया। तेज और उत्सवों से श्रेष्ठ महान् नृप ने अपने बन्धु-बान्धवों सहित अथवा तेजस्वी और महान् बलवान राजाओं के साथ सिन्धु नाम की नदी को पार किया।[42]

दिग्विजय के मध्य जब भरत कोटिशिला पर पहुंचे तो उन्होंने कोटिशिला को उठाया। इसी को प्रस्तुत करते हुए कवि ने कहा है—'जिस कोटिशिला से करोड़ों संख्या में मुनिवरों को मोक्ष प्राप्त हुआ, उस महत्त्वपूर्ण शिला को चक्रवर्ती भरत ने शीघ्र ही उठा लिया अनन्तर प्रजाओं को सन्तुष्ट करने वाली कल्याण

सम्पादिका जिनेन्द्रों की प्रतिमाओं को प्रणाम किया।[43] अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ तमिस्रा नाम की गुफा की ओर जाते हुए चक्रवर्ती भरत ने मार्ग में पण्डितों द्वारा वर्णित अपने पूर्व पुरुषों के चरितों को सुना[44] भरत के प्रभाव का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जगति यः सविता भविताऽग्रिमः,
स नु गुहां सवहां नवपद्यया।
ध्रुवमतीत्य गिरेस्तदुदग्दिशो,
वशमवाच्छमधीरणया-जनम्॥—सप्त ८/६

जो (चक्रवर्ती भरत) प्रताप से सूर्य के रूप में सम्पूर्ण संसार में विख्यात होगा, मानो इसीलिए (भरत ने) नवीन सेतुरूप पद्धति (मार्ग) में उन्मग्ना और निमग्ना नाम की दो नदियों के साथ वैताढ्य पर्वत की तमिस्रा नाम की गुफा को लांघ कर उसकी उत्तर दिशा में स्थित म्लेच्छादि लोगों को अपनी शान्त बुद्धि के प्रयोग से अपने वश में कर लिया। प्रत्येक चक्रवर्ती दिग्विजय के बाद ऋषभकूट (कैलास-पर्वत की श्रेणी विशेष) पर अपना नाम लेखन कराता है। अतः भरत ने भी अपना नाम लेखन कराया। इसी का वर्णन करते हुए कवि कहता है—'उस चक्रवर्ती राजा ने शत्रुओं के आपात, नागकुमार, हिमाद्रिकुमार के सैन्यत्रय को पराजित करते हुए अपनी सेना का संचालन करते हुए और पराजित राजाओं से धन संचय करते हुए, ऋषभकूट नाम के पर्वत पर अपने नाम का लेखन कराया और उसी समय महत्ता के स्थानभूत हिमालय पर्वत पर गये।[45]

इसके अनन्तर भरत ने विद्याधर पर्वत के निवासियों को जीतकर, 'खण्डप्रपातागुहा को पार करके ऐश्वर्य सम्पन्न होकर नव प्रकार की निधियों को[46] धारण किया।[47] अपनी दिग्विजय यात्रा को पूर्ण करके भरत अपने राज्य में पहुंच गये। इसी बात को वर्णित करते हुए कवि ने कहा —'उस चक्रवर्ती भरत ने गंगा के तटवर्ती राजाओं को पराजित किया। सूर्य का प्रकाश जिसमें क्षीण नहीं होता, ऐसे अपने राज्य की राजधानी में पहुंचकर बराबर उत्सवों से परिपूर्ण सरस समय को बिताया।[48] दिग्विजय वर्णन जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है, वर्णन की दृष्टि से प्रकृति प्रसंग रोचक और महत्त्वपूर्ण भी है इसमें प्रायः ऐतिहासिक स्थलों का वर्णन अधिक उपयोगी है। भरत उक्त दिग्विजय के अनन्तर भरत-क्षेत्र के सम्पूर्ण खण्डों के अधिपति हो गये और वे ही प्रथम चक्रवर्ती रूप में प्रख्यात हुए।

स्वप्न

स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के

क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति को जितना अधिक इन कर्मों का क्षयोपशम रहता है, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलता है। अतएव जिस व्यक्ति के ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम है, उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन सम्बन्धी चेतनता तथा ज्ञानावस्था अधिक रहती है। ज्ञान की मात्रा की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ दिखलायी पड़ता है, उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है। इसलिए यह कहा गया है कि जब तीर्थंकर का जीव माता के गर्भ में आता है तो वह चौदह शुभ स्वप्न देखती है।[49] दिगम्बर जैन सम्पप्रदाय में तीर्थंकर की माता सोलह स्वप्न देखती है, ऐसी मान्यता है। चक्रवर्ती की माता सात और बलदेव की माता चार स्वप्न देखती हैं। कवि ने तीर्थंकर माता की स्वप्नावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

अनल्पतल्पे सुमनो विकल्पे,
प्रसुप्तया दर्शिषतोन्निशान्ते।
स्वप्ना मणि क्षेणिमये निशान्ते।
तदा तया नर्तितया व्यवर्ति॥—सप्त० १/७०

मणि पंक्तियों से विराजमान हर्म्य पर पुष्पों की अनेकों प्रकार से बनायी गई विशाल शैया पर सोई हुई उस रानी ने रात्रि के अन्तिम भाग में विशेष स्वप्न देखे, जिनसे प्रभावित होकर वह तत्काल खुशी से नाच उठी। तीर्थंकरों की माताओं द्वारा दृष्ट चौदह स्वप्नों को बतलाते हुए कवि ने कहा है—'उत्तम हाथी, शोभायुक्त उत्तमवृषभ, श्रेष्ठसिंह, लक्ष्मीदेवी, फूल की माला, चन्द्रमा, सूर्य, पताका, पूर्णकुम्भ, सरोवर, समुद्र, विमान, रत्नराशि और अग्नि नामक इन चौदह स्वप्नों को तीर्थंकर माता ने रात्रि के अन्तिम पहर में देखा।[50] कृष्ण की माता ने सात स्वप्न देखे और बलदेव राम की माता द्वारा मात्र चार ही स्वप्न देखे गये।[51] इन शुभ स्वप्नों का फल जगत् कल्याणकारक श्रेष्ठ पुत्र प्राप्ति है, जो उन्हें (माताओं को) अपने स्वामियों (राजाओं) से पूंछने पर ज्ञात हुआ। यह जानकर रानियों का मन मोदमग्न हो गया। अर्थात् राजा से इन स्वप्नों का फल पुत्र-रत्न की प्राप्ति है यह सुनकर संशयनिवृत्त हो गयीं। तदनन्तर उत्तरप्राप्ति की सम्भावना से जनित अतिशय आनन्द से राजा का भी शरीर कदम्ब कुसुम के गुच्छे की तरह रोमांच से भर गया और रानी का शरीर भी रोमांच से परिपूर्ण रहा।[52] इस प्रकार कवि के द्वारा शुभ स्वप्नों का संक्षिप्त और सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया गया है।

नारी सौन्दर्य

प्राचीन काल से महाकाव्यों में सौन्दर्य चित्रण किया जा रहा है। कालिदास,

भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि कवियों ने प्रकृति सौन्दर्य के साथ-साथ नारी-सौन्दर्य का अनुपम चित्रण किया है। प्रकृत काव्य में भी कवि ने प्रकृति सौन्दर्य का मनोरम वर्णन तो प्रस्तुत किया ही है, किन्तु मर्यादित नारी सौन्दर्य वर्णन भी अनुपम है। कविकृत नारी वर्णन उत्कृष्ट कोटि का और मर्यादा लिए हुए है क्योंकि कवि अपने आराध्य तीर्थंकरों की माताओं के सौन्दर्य का वर्णन कर रहा है। तीर्थंकर माताएं जगत् वन्दनीय हैं अतएव उनका चित्रण पूज्यता को दृष्टि में रखकर किया जाना स्वाभाविक है।

कवि ने सर्वप्रथम सातों नायकों की माताओं का श्लेष के माध्यम से सामान्य वर्णन प्रस्तुत किया है।[53] इसके अनन्तर कवि रानी के मुख से ही कमल और चन्द्रमा की श्रेष्ठता की कल्पना करता हुआ कहता है—'कमल और चन्द्रमा ने रानी के मुख का सेवन करने से प्रसन्नता को प्राप्त करके लोक में महत्त्वपूर्ण महिमा को प्राप्त किया ऐसा मैं समझता हूं। कमल ने सुगन्ध रूप धन को एवं चन्द्रमा ने कलाओं में कौशल और अनुपम कान्तिमत्ता अथवा आह्लादकत्व को देकर इस प्रकार आनन्द प्राप्त किया। अर्थात् कमल और चन्द्रमा के गुण रानी के मुख में पूर्णरूप से दृष्टिगोचर हुए।

कवि ने रानी त्रिशला के अधर में अमृत और हाथ में कमल रेखा की कल्पना करते हुए कहा है—'इस रानी के अधर में अमृत निवास करता है और दूसरी जो सकलार्थ सिद्धि है, वह हस्त स्थित कमलरेखा से प्रसूत है। अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र में प्रसिद्ध है कि जिसके हाथ में कमल की रेखा है वह सभी अर्थों को सिद्ध कर लेता है, इसीलिए जीवलोक में उसके सादृश्य को कोई न प्राप्त कर सका, क्योंकि सादृश्य भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव होता है। तद्गत धर्मों के आधिक्य से सादृश्य सम्भव होता तो स्वर्ग की सुधा मर्त्य की रानी के अधर में विराजती हुई कैसे ज्ञात हुई?[54] त्रिशला के सौन्दर्य को सर्वोत्तम बतलाते हुए मेघविजय लिखते हैं—'सिद्धार्थराज की पत्नी त्रिशला सौन्दर्य-सत्स्वभाव, लावण्य, सम्यक्चारित्र और धन सम्पत्ति से सर्वोत्तमता को प्राप्त हुई, इसीलिए त्रिशला का घटक ककारोत्तरवर्ती अकार के विरक्त होने से और संज्ञार्थक प्रत्यय के हट जाने से त्रिशला यह नाम शास्त्र और लोक में प्रसिद्ध हुआ। यह त्रिशला स्त्रियों में उस रत्न की भांति थी, जो रूप इत्यादि से भूषित और विद्ध करने वाले अस्त्र को प्राप्त करने वाला एवं विकार रहित आकार धारण करने वाला था[35]।'

भूषण अंगों को विभूषित करते हैं, किन्तु रानी के अंगों से भूषण विभूशित हो रहे हैं, इसी बात को कवि ने कहा है—'रानी के स्तनों की शोभा मुक्ताहार में समायी हुई है। मयूरों के पिच्छ में इस रानी के केशों की शोभा व्याप्त है, और इसके नितम्ब की शोभा काञ्ची कलाप में छायी हुई है। इस तरह कवियों की

कल्पना शक्ति के विपरीत भासित हो रहा है। इसी सन्दर्भ में कवि ने उस रानी को उल्लेखालंकार के माध्यम से अनेक रूपों में चित्रित किया है—

नृपेन्द्रभावे जयवाहिनीयं,
तद्वैष्णवे साकमलाऽवतीर्णा।
तद्राजयोगे खलुरोहिणीव,
व्यावर्णनीया बहुलब्धवर्णैः ॥—सप्त० १/६८

वह रानी अपने पति को देव-राजत्व बोधन में जयन्त को धारण करने वाली शचीरूपा है, और विष्णुरूप में वह लक्ष्मीरूप धारण करने वाली है और चन्द्र-रूपता के सम्बन्ध में रूपवती रोहिणी है। इस प्रकार वह रानी विशेष वर्णनीय सिद्ध हुई। रानी के चरण आदि अंग श्रेष्ठता के सूचक थे और सभी के द्वारा पूजित थे—उस रानी का शरीर सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार उत्तम लक्षणों से युक्त था। उसका चरण स्वर्णरचित कच्छप की प्रतिमा के पृष्ठ देश के समान था। उस रानी के विषय में भूलोक के नीचे भुवनों में बसने वाले देवताओं का प्रणाम सुलभ था। भाग्यशालीनता सूचक श्रेष्ठ मस्तिष्क और गुह्यांग की उत्तमता से उर्ध्वलोक में रहने वाले देवताओं का प्रणाम ज्ञापित होता रहता था, क्योंकि तीर्थंकर को जन्म देने वाली यह माता होगी, इसलिए सभी प्रणत थे।[56]

वर्णनीय वस्तु की सादृश्य कल्पना में नवीन उपमान की योजनाएं करना कवियों का सहज धर्म है किन्तु इस रानी के अनन्य असामान्य सौन्दर्य का सादृश्य तीनों लोकों में खोजने पर भी कवियों को प्राप्त न हो सका।[57] रानी के गुणों का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—इसके असाधारण गुणों का उत्कर्ष करोड़ों लोगों में भी खोजने पर मिलना दुर्लभ है, उस रानी के चरण कमल में सादृश्य गुणों की कल्पना नूपुर के रूप में विद्यमान है। इसमें सौशील्यादि गुणों की शतकोटि संख्या थी। इसीलिए शतकोटि वज्रधारी इन्द्र अथवा सैकड़ों करोड़ सम्पत्ति के अधिपति प्रभृति प्रवण थे। अन्य लोगों का कहना ही क्या?[58] गुणवती उस रानी के अंग गुणों के कारण ही औनत्य और कृशता को धारण किए हुए थे—

उच्चैर्दशा स्यान्नु परोपकाराद्
युक्ता तदुच्चैस्तनतास्तनांगे।
सतां न चात्मम्भरिताकदाचित्,
तनुस्त्वमध्यं तत एव तस्याः ॥—सप्त० १/७१

इस रानी के स्तनों की उच्चता समुचित ही है, क्योंकि दूधरूप अपने धन से पराये शिशुओं के शरीर पोषण रूप उपकार करने से उसका औनत्य युक्त है। सज्जनों की अपने पेट पालने की प्रवणता कभी प्रशंसित नहीं है, इसीलिए मानों

उसका उदर कृश था। अर्थात् स्तनों की उन्नतता परोपकार का फल है और पेट का कृश होना सज्जनता की कसौटी है। इस बात की शिक्षा उसका अंग (शरीर) दे रहा है। उक्त वर्णन काव्य की उत्तमता का सूचक है, यदि कवि श्लेष की सीमा में बद्ध न होता, तो इसका वर्णन क्षेत्र व्यापक और सौन्दर्य की चरम परिणति को प्राप्त होता।

दुर्जन निन्दा-सज्जन प्रशंसा

काव्य में सज्जन दुर्जन का वर्णन देने की परम्परा का प्रथम उल्लेख महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश[59] महाकाव्य में मिलता है। महाकवि बाण ने कादम्बिरी[60] में सज्जन दुर्जन स्वभाव को सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया और कथा प्रारम्भ करने से पूर्व उनका स्मरण किया है। यह परम्परा काव्यों में चली आ रही थी, इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण[61] में महाकाव्य की परिभाषा के अन्तर्गत दुर्जन निन्दा और सज्जन प्रशंसा के होने का निर्देश कर दिया। इनके पूर्व किसी भी काव्यशास्त्री ने महाकाव्य की परिभाषा में खलनिन्दा और सज्जन प्रशंसा का निर्देश नहीं किया, किन्तु महाकाव्यों में वर्णन अवश्य प्राप्त होता है। ग्रन्थकार मेघविजयगणि के सामने काव्य और काव्यशास्त्र दोनों खल निन्दा और सज्जन प्रशंसा के वर्णन के लिए प्रमाण रूप में उपलब्ध थे। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने प्रकृत महाकाव्य में दुर्जन और सज्जन वर्णन को सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। कवि सर्वप्रथम समान विशेषणों द्वारा सज्जन और दुर्जन का वर्णन करता हुआ कहता है कि—

मुखेन दोषाकरवत् समानः,
सदा-सदम्भःसवने सशौचः।
काव्येषु सद्भावनयानमूढः,
किं वन्द्यते सज्जनवन्न नीचः?—सप्त० १/५

"नीच अर्थात् दुर्जन सज्जन की तरह वन्दनीय क्यों नहीं है? जबकि सज्जन और दुर्जन दोनों में पूर्ण समानता है। सज्जन अपने मुख से चन्द्रमा के समान सम्मानयुक्त है और दुर्जन भी अपने मुख से दोष की खान के समान और साहंकार रहता है। सज्जन सत्यरूप जल में अवगाहन करने से निर्मलता युक्त होता है, अर्थात् सज्जन सदा सत्य निष्ठा से संबलित है और दुर्जन दम्भ सहित मद्यपान आदि के सम्बन्ध से सदैव अशुचि (अपवित्रता) से युक्त रहता हैं। सज्जन पुरुष काव्यों में उत्कृष्ट भावना से अनभिज्ञ नहीं रहता और दुर्जन काव्यों के सद्विचारों में गति-हीन होने से अपटु रहता है। इस तरह से सज्जन और दुर्जन यदि दोनों समान हैं,

तो दोनों की तुल्य वन्दना क्यों नहीं होती ?

दुर्जन के रहने से सज्जनों का जीवन कण्टकाकीर्ण हो जाता है। इसलिए दुर्जन व्यक्तियों का राजसभा अथवा राजभवनों में होना हेय समझा गया है। दुर्जनों के रहते सभा की शोभा प्रकाशित नहीं होती, क्योंकि दुर्जनों के रहने से विवाद के उत्पन्न होने की आशंका रहती है। अतः शासक के द्वारा ऐसे दुर्जन राजधानी, राष्ट्र, नगर और घर से निकाल देने योग्य होते हैं, क्योंकि जिस प्रकार पुष्पवाटिका इत्यादि में कटीले वृक्षों के कारण प्रवेश पाना कठिन होता है, उसी प्रकार उन दुर्जनों के रहते राजभवन में प्रवेश पाना दुष्कर बना रहता है।[62] सज्जन का वर्णन करते हुए कवि सज्जन को साक्षात् हंस ही मान लेता है, क्योंकि हंस शरीर वाणी और मन से पवित्र तथा पंखों के मध्य रहने वाला होता है उसी प्रकार सज्जन वादी प्रतिवादी के विरोध में मध्यस्थ रहता है। किसी एक का पक्षपाती नहीं बनता, इसीलिए निष्पक्ष होने का गौरव प्राप्त करता है—

कायेनवाचामनसाविशुद्धः, स पक्षभेदव्यस्थित एव हंसः।
ब्रह्माऽमुनाऽवाह्याधियापिवाह्यः, प्रियोविधिस्तन्नुसज्जनस्य ॥—सप्त० १/१३

"वह सज्जन हंस ही है, क्योंकि जैसे हंस नामक पक्षी शरीर वाणी और मन से अवदात और पवित्र, पंखों के मध्य में रहने वाला है, उसी प्रकार जो व्यक्ति वादी और प्रतिवादी के विरोध में मध्यस्थ रहता है अथवा वादी और प्रतिवादी के प्रश्न और उत्तर की कोटिओं में मध्यस्थता का अवलम्बन करता है। किसी एक का पक्षपाती नहीं बनता, इसलिए निष्पक्ष होने का गौरव प्राप्त करता है। द्वितीय साम्य-हंस पक्षी के द्वारा हार्दिक अनुराग से अथवा मेरे द्वारा ये वहन करने योग्य हैं, इस संकल्प के बिना भी स्वभावतः अपनी पीठ पर ब्रह्मा जी को ढोता रहता है। अतः सज्जन का शास्त्रोक्त क्रिया कलाप प्रिय होता है।"

सज्जन राजा और हंस एक समान होते हैं, क्योंकि दोनों समान-धर्मी हैं। सज्जन पवित्र और विचित्र चरित्र युक्त होने के कारण वर्णनीयता के आधार पर स्मरणीय होता है। हंस भी पाद और चंचु में स्वाभाविक रक्तता धारण करने के कारण गुणवानों की चर्चा में गणनीय हो जाता है। राजा काजल की तरह काले या चिकने काले बालों को धारण करता है तथा खलों को दुष्प्रवृत्तियों से रोकता है। युक्ति-युक्त भाषण करने वाले व्यक्तियों का अनुरागी होता है। श्रेष्ठ आचरण अथवा शील में लीन रहता है। हंस भी उत्कृष्ट गुणों से युक्त होता है। सत् और असत् के विवेक में दक्ष होता है अर्थात् नीर-क्षीर का विवेकी होता है। इसीलिए ये दोनों समाज में समादर के पात्र होते हैं।[63] इस प्रकार दुर्जन और सज्जन के वर्णन में कवि ने श्लेष का निर्वाह भली-भांति करते हुए दुर्जन निन्दा और सज्जन प्रशंसा को पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया है।

सन्दर्भ :

१. श्रेणीभवद्भव्यमणीवकै र्वरैरगानां निकरैर्विकस्वरे ।
द्वीपेऽस्ति जम्बूपपदे प्रभारतं, श्री भारतं भारतवित् स भारतम् ।।
—सप्तसन्धान, १/१६

२. वही, १/१७-१८ ।

३. क्षेत्राऽवनीशोऽब्धि दुकूलवासस्तत्र प्रभासो मगधाधिवासः ।
पादौ, वराद् दामगिरिर्नितम्बः क्षेत्रस्य नास्त्येव ततोऽस्यबिम्बः ।।
—सप्तसन्धान, १/२०

४. सप्तसन्धान, १/२१

५. पूर्वापरौ तोयनिधी च बाहू, तन्मध्यदेशः स तु मध्यभागः ।
नाभिः कुशावर्तपदेऽदसीया स्याज्जंगलस्तद्गलनालदेशः ।।—वही, १/२२

६. मन्ये तदा रामपदं जगत्याः, साम्राज्यरूपं भरतं यतः सा ।
श्री दे-वरत्वाश्रितलक्ष्मणाशां, सीतापिलेभे-धरणीप्रतीता ।।
—सप्तसन्धान, १/२५

७. सदारण्याश्रित दुर्गशैलं, सक्षत्रियत्वाद्बहुलक्षणाढ्यम् ।
सुराजराज्यादरविप्रयुक्तं, रम्यैर्गृहाणामुदयैर्विराजत ।।-सप्तसन्धान, १/४२

८. वही, १/४४

९. चैत्येषु नित्या भयदातुरर्चा, प्रसंगतो ऽनंगतयाऽभिधानात् ।
श्मशानवेश्मान-मबेत्यरुद्र, स्मरोभियातत्पुरमध्युवास ।।—सप्तसन्धान, १/४५

१०. वही, १/४६

११. वही, १/४७

१२. लक्षेजनोऽस्मिन् कृतहस्तएव, लक्षे पुनर्नो मनसा दधाति ।
स्वं मन्यते दानविधौ परार्थं परार्थं संगे मनुते ह्यनर्थम् ।। सप्तसन्धान, १/४८

१३. सप्तसन्धान, 1/53

१४. श्रीभद्रशालवनमप्यतिपावनं तद्, यत्रास्ति सौमनसमद्भुत शाखिजन्यम् ।
सान्नदनन्दनवनं बहुसौरभाढ्यं सापाण्डुकम्बलशिलाग्रमिला विभर्ति ।।
— सप्तसन्धान, ३/२

१५. वही, ४/३०

१६. सप्तसन्धान, ४/३१

१७. स्पर्धा दधच्चैरवतं यदस्य, विन्यस्य वामं कृतरत्नकामम् ।
स शूरतं प्राप्तघृणित्व भव्यं, मेरूर्दधौ तद्भरतंत्वसव्यम् ।।—सप्तसन्धान, १/२७

१८. वही, ३/१

१९. वही, ३/३

२०. अष्टापदोन्नतगिरिर्वहतेमहत्वम् गोवर्द्धनोऽपि धनवानिव दिक् प्रसारी।
तत्राऽऽनिनाय किलवासवनामदेव स्तं जातमात्रमयिमात्रविबोधपात्रम् ।।
—सप्तसन्धान, ३/६

२१. वही, ४/३१

२२. सप्तसन्धान, ५/८

२३. वही, ५/१४-२५

२४. वही, ५/५७

२५. भृशमये समये किल केवलं, स कलयन् वलयन्नगमाश्रयत् ।
अधिकृताधिकृतानशननेवे, शिवरमां वरमांगलिकीं दधो ।।—वही, ८/१६

२६. सप्तसन्धान १/२१

२७. द्र० शिशुपाल वध ६/१

२८. सप्तसन्धान ३/१

२९. जातातपस्य बलिता ललिता दिनस्य, श्रीनीतिशीतमधुरा मधुरांगभाजाम् ।
आपानमप्युपवते पवनेरितेषु, यूनां दुमेषु चरणाद् रमणान्मयूनाम् ।।—वही ७/५

३०. सीतापहारविधिरेष तवोपहार व्याहारनिर्भयविहार विनाशनाय ।
तेनाधुमापि मधुनाशनतां जहीही त्याहेव रावणमिह स्वधियालिजन्यम् ।।
—सप्तसन्धान ७/८

३१. यत्रार्कसूतिरभवद् बहुलातपश्री, रामाभियोगकलया विलयात् शुकादेः ।
आमोदमोदक रसादवशाशनेन, चित्रातिशायिनि विधौ परशासनेन ।।
—सप्तसन्धान ७/१५

३२. दुर्योधनान्तकरणं धरणं क्षमाया, भीतस्य तस्य ननु पश्यत एव पुंसः ।
इष्टा तवोवन कथा जिनसेवना वा, नावाधिरूह्य यदिवाम्बुधिमज्जनावा ।।
—सप्तसन्धान ७/११

३३. शौचं प्रभातसमयं शमयन्तमन्त- र्दाहं घनाघनघटा प्रकटाम्बुवृष्ट्या ।
व्यालोक्य चारूकुटजातिशयेन केन, साकेतकेश्वरदृशोदयतीति नोचे ।।
—सप्तसन्धान ७/१९

३४. वही, ७/२०

३५. द्र० सप्तसन्धान, ७/२८

३६. मार्गप्रवृत्तिरुचितानिचितात्मलक्ष्मी- निर्माणनर्मणि जनो रमते मतेन ।
निश्छद्मपद्मनयना नयनानि गेहे, स्नेहेन मित्त्रवसनाद्यशनासनादि ।।
—सप्तसन्धान ७/३३

३७. स— सीतासंतापम्तपसि जपसिद्धेः कपिपतेः,
विशिल्याकौशल्यात्समिति रुचिता भारत भुवि ।

नृचक्षोविक्षोभाद्धिमकरविधौ कान्तिरुदधौ,
निलीना शालीना विलसदमलीनाहततपाः ॥ —सप्तसन्धान, ७/३६

३८. हयरयक्षुरभिन्नमहीतलाद्, दिवि समुद्गमनेन रजोव्रजः।
किमिव वक्ति स शक्ति महोदयं स्वरपितारपितामहसंसदि ॥
—सप्तसन्धान, ८/२

३९. वही, ८/३

४०. वही, ८/४

४१. अभिनमय्य पुरः सुरमागधं, तदनु तद्वरदाम मुदः पदम्।
वरुणदिक्प्रभयासमयाऽमुना, परिगताऽरिगतासुहृता कृता ॥—सप्तसन्धान, ८/५

४२. वही, ८/६

४३. शिवमगु : किलकोटिमुनीश्वरा, यदिह तां स शिलां सहसा दधे।
प्रतिकृती : प्रणनाम ततोऽर्हतां, व्रजनतो जनतोषकरीनृपः ॥ वही, ८/७

४४. वही, ८/८

४५. परदलत्रितयं दलयन् बलं, प्रचलयन् कलयन् सततो धनम्।
ऋषभकूटनिजाह्वयलेखने, महिमभूहिमभूभृतमभ्यगात् ॥ सप्तसन्धान, ८/१०

४६. महापद्मश्च शंखो मकरकच्छपौ।
प्रकुदर्कुदनीलश्च खर्वश्च निधयो नव ॥

४७. सप्तसन्धान, ८/११

४८. सुरधुनीतटगानधुनीत स, क्षतपरातपराज्यपरिग्रहः।
स्वपुरमाप्य समास्त पुनः पुना, रसमयान् समयाननयन्महैः ॥
—सप्तसन्धान, ८/१२

४९. तीर्थंकर माता द्वारा दृष्ट स्वप्नों की संख्या में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय वाले स्वप्नों की संख्या १६ निर्धारित करते हैं, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मात्र १४ ही स्वप्न माने गये हैं।

५०. गजादिमश्रीवृषभादिसिंहा, दिमेन्दिरा-दाम-मृगांक-सूर्याः।
ध्वजोल्लसत्कुम्भसरःपयोधिविमानरत्नोच्चय वह्नयोऽमी ॥
—सप्तसंधान, १/७३

५१. सप्तसंधान, १/७४-७५

५२. राज्ञे निवेद्याऽऽ शयसंशयाप्ति मेषा निमेषाद्विनयाद्वयनैषीत्।
जहर्ष हर्षातिशयात्कदम्ब, कदम्बकश्रीर्वपुषा नृपोऽपि ॥—सप्तसन्धान, १/७७

५३. वही, १/६१

५४. सप्तसन्धान, १/६४

५५. रूपेणकान्त्याचरणेनलक्ष्म्या प्राप्ताशलाकां त्रिषु विष्टपेषु ।
ततः प्रसिद्धा त्रिशलाकनाम्ना- कारविकारा द्रमणीमणीव ।।—वही, १/६५
५६. सप्तसन्धान, १/६६
५७. वही, १/६९
५८. गुणाधिरोहः परमस्तुकोटौ, तस्यास्तुलाकोटिरपि क्रमाब्जे ।
यस्माद् गुणानां शतकोटिरस्यां, मन्ये नतोऽस्मात् शतकोटिशाली ।।
—सप्तसंधान, १/७०
५९. रघुवंश, १/१०
६०. कादम्बरी, पृ० ५-६
६१. क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तिनम् ।
—साहित्यदर्पण परि० ६, श्लोक ३१८
६२. सप्तसन्धान, १/८
६३. सप्तसन्धान, १/१४

तुलनात्मक विवेचन

सन्धान काव्यों की परम्परा में धनंजयकृत द्विसन्धान महाकाव्य, कविराज रचित राघवपाण्डवीय और मेघविजय विरचित सप्तसन्धान ये तीन श्लिष्ट महाकाव्य ही सम्प्रति लोकप्रिय हैं। अन्य श्लिष्ट रचनाएं महाकाव्य कोटि के अर्न्तगत नहीं आती हैं। अतएव यहां सप्त सन्धान की द्विसन्धान महाकाव्य और राघवपाण्डवीय के साथ संक्षिप्त तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है।

सप्तसंधान तथा द्विसंधान महाकाव्य

द्विसंधान महाकाव्य संधान परम्परा का प्रारम्भिक रूप है। इसमें जिस प्रकार से धनंजय ने रामचन्द्र और पाण्डवों के भिन्न चरितों को एक साथ उपस्थित किया है, उसी प्रकार मेघविजय ने पांच तीर्थंकर (ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर) रामचन्द्र और श्रीकृष्ण जैसे सात महापुरुषों के जीवनवृत्त को एक साथ संयोजित किया है, जिसके द्वारा संधान साहित्य की महती अभिवृद्धि हुई है। द्विसंधान का रचना समय आठवीं शती है और सप्तसंधान १८वीं शती के प्रारम्भ में लिखा गया है।[1] इस दश वर्ष के काल में अनेक संधान रचनाएं हुईं, जिनमें शब्दचित्र आदि का ही प्राधान्य परिलक्षित होता है। किन्तु सप्तसंधान महाकाव्य शब्दचित्र से युक्त न होकर काव्य के सभी गुणों से अलंकृत है। द्विसंधान में सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा अति संक्षेप में की गयी है।[2] किन्तु सप्तसंधान में इसे अलंकृत शैली में विस्तार से वर्णित किया है।[3]

द्विसंधान में गौतम गणधर श्रेणिक राजा को कथा सुनाते हैं, उसी से काव्य का प्रारम्भ होता है[4] किन्तु इस क्रम को सप्तसंधान के रचयिता ने नहीं अपनाया है।

द्विसंधान में जम्बूद्वीप में भरतक्षेत्र की स्थिति का उल्लेख करते हुए अयोध्या और हस्तिनापुरी का वर्णन किया गया है।[5] किन्तु सप्तसंधान में सर्वप्रथम भरतक्षेत्र का वैभव वर्णित किया गया है।[6] इसके अनन्तर अन्य देशों के अन्तर्गत विविध जनपद और नगरों का विस्तृत विवेचन है।[7] इसमें सातों नायकों के अधिष्ठानभूत नगरों का मनोरम चित्रण कवि की काव्यात्मकता को सिद्ध करता है। द्विसंधान आकार की दृष्टि से सप्तसंधान से ठीक दुगुना है। सप्तसंधास में द्विसंधान के वर्णनीय विषय के अतिरिक्त पंच तीर्थंकरों के इतिवृत्त को भी संजोया गया है। इस प्रकार विशिष्ट वर्णन की दृष्टि से सप्तसंधान द्विसंधान से महत्वपूर्ण है। द्विसंधान में जो वर्णन धनंजय ने विस्तार से किया है वही मेघविजय ने संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हुए, साथ में अन्य वर्णनों की भी योजना सफलता से की है, और यही ग्रन्थकार के कौशल का सूचक है। द्विसंधान के प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्लिष्ट धनंजय शब्द प्रयुक्त है, किन्तु सप्तसंधानकार ने विषय (अवतार, जन्म आदि) वर्णन के आधार पर सर्गों का नामकरण किया है।

यद्यपि दोनों महाकाव्य श्लिष्ट हैं तो भी मेघविजय पर धनंजय का प्रभाव परिलक्षित होता है किन्तु सप्तसंधान में द्विसंधान की अपेक्षा शब्द-चमत्कृति, विशिष्ट पदरचना और उक्तिवैचित्र्य अधिक है। यदि धनंजय का श्लेष दो अर्थों का निष्पादन करने में प्रशस्त है, तो मेघविजय का श्लेष सात अर्थों की समुचित निष्पत्ति में प्रशस्त है। इसमें यत्र-तत्र दुरूहता का दर्शन अवश्य होता है, किन्तु काव्यात्मकता का अभाव नहीं है। दोनों महाकाव्यों से श्लिष्ट पद योजना के दृष्टान्त दर्शनीय हैं। द्विसंधान में प्रयुक्त श्लेष—

प्रभाविरामस्य सपत्मसन्ततेः, शरासनाभ्यासपदंकिरीटिनः।
बहिर्यतोऽद्यापि निचाय्य, दूरगं मदं विमुंचन्ति शरं न धन्विनः॥[8]

रामपक्ष—आज भी जिस अयोध्या के बाहर मुकुटधारी राम के धनुर्विद्या के सीखने के स्थान को दूर से ही देखकर धनुषधारी लोग अहंकार को छोड़ देते हैं, शत्रुओं पर आतंक जमाने वाले बाण को नहीं चलाते हैं। पाण्डव पक्ष—आज भी जिस हस्तिनापुरी के बाहर के मैदान में शत्रु-समूह के प्रताप के अन्तक अर्जुन के धनुष विद्या सीखने के दूर तक विस्तृत स्थान को देखकर धनुषधारी योद्धा मद को छोड़ देते है, तीर को नहीं छूते हैं। द्विसंधान की अपेक्षा श्लिष्ट पदरचना अधिक महत्वपूर्ण है। यथा—

अवनिपतिरिहासीद् विश्वसेनोऽश्वसेनो-
प्यथ दशरथ नाम्नाः यः सनाभिः सुरेशः।
बलिविजयिसमुद्रः प्रौढ़सिद्धार्थ संज्ञाः,
प्रसृतमरुणतेजस्तस्य भूकश्यपस्य॥[9]

यहां वर्णनीय सातों नायकों के जनक राजाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम पक्ष—इस नगर में विश्वसेन नाम का राजा रहता था, जिसकी उच्चवंशीय घोड़ों की सेना थी और जो दशों दिशाओं में कीर्तिरूपी वाहन पर आरूढ़ होकर घूमा करता था अथवा दशरथ के समान सुप्रसिद्ध नाम है जिसका, जो देवताओं पर भी प्रभुत्व रखता था और ऐश्वर्य आदि के कारण जो इन्द्र के तुल्य था। पराक्रमशाली लोगों को जीत लेने वाली मुद्राओं (मुहर) से युक्त था। जो समस्त उद्देश्यों को सम्पादित करने वाली निपुण बुद्धि से युक्त था और भूतल का कश्यप (प्रजापति) था, जिसका सूर्य के समान प्रताप सर्वत्र व्याप्त था। इसी प्रकार अश्वसेन, दशरथ, समुद्रविजय, नाभिराय, सिद्धार्थ और वसुदेव को कर्ता मानकर सभी पक्षों में पृथक्-पृथक् अर्थों की संगति बैठती है। इस प्रकार एक दोनों महाकाव्यों के श्लिष्ट पदों की संगतिपूर्ण विवेचना की गयी, जिससे स्पष्ट है कि उक्त काव्यों की लक्ष्यानुसार संगति सफल एवं समुचित है।

धनंजय ने अनुप्रास यमक आदि से अलंकृत काव्य रचना तो की है, साथ ही सम्पूर्ण १८वें सर्ग में चित्रालंकार के विविध भेदों को चित्रित किया है। मेघविजय की रचना में चित्रालंकार का सद्भाव नहीं है। अन्य सभी शब्दालंकार एवं अर्थालंकार की योजना प्रायः समान रूप से हुई है। दोनों ही काव्य अलंकार के धनी हैं और दोनों के अलंकार मनोरम हैं। इनके कारण ही काव्य में अर्थ गरिमा की अभिवृद्धि हुई है। दोनों काव्यों में उपदेशों की प्रधानता है किन्तु द्विसंधान में दशरथ अथवा पाण्डु ने अपने ज्येष्ठ पुत्रों को राज्यभार समर्पित करते समय उपदेश दिए हैं, जबकि सप्तसंधान में तीर्थंकरों ने केवलज्ञान' की प्राप्ति के अनन्तर समवशरण में प्राणी वर्ग के हित के लिए उपदेश दिये। द्विसंधान में दशरथ अथवा पाण्डु अपने पुत्रों के प्रति उपदेश देते हुए इस प्रकार कहते हैं—

क्षणभंगुरभंगभंगिनां न गता यौवनिका निवर्तते।
विभवास्तृणवारिचंचला निचयाममंरपत्रसन्निभाः॥
द्विषि मित्रमति हितप्रिये रिपुबुद्धि जनयन्ति जन्तवः।
विपरीततया तनूभृतामिह तत्रापि दवीयसीमतिः॥[10]

देहधारियों की देह ही देखने-देखते क्षण भर में नष्ट हो जाती है। यौवन बीत जाने पर फिर वापिस नहीं आता है। घास के अग्रिम भाग पर पड़ी ओस की बूंद के समान संपत्ति चंचल और रमणीय है और पुत्र कलत्र आदि सगे संबंधी सूखे पत्तों के डेर के समान एक झोंके में बिछुड़ जाने वाले हैं। संसारी प्राणी संसार के कारण अतएव शत्रुभूत भोगादि में मित्र की कल्पना करता है और कल्याणकारी संयमादि को दुःख (शत्रु) मानता है। इस प्रकार विपरीत बुद्धि होने कारण देहधारी से इस लोक अथवा परलोक में भी सन्मति दूर ही रहती है। सप्तसंधान में कहा गया है

कि श्रेणिक रूप को प्राप्त होने वाले विद्वानों से अनुगत उन जिनेन्द्र ने पापियों के लिए भय उत्पन्न करने वाले लोगों को अमृतकल्पोपदेश दिया अथवा श्रेणि-बद्ध बैठे हुएराजाओं का उद्देश्य करके वाणी रूपी अमृत के सिंचन से किसी भी और से आने वाले भय को दूर करने वाले अमृतकल्पोंदेश को दिया ।[11]

जिनेन्द्र प्रभु ने गणधर आदि से विभूषित परिषद् में प्राणियों को संयमादि धारण करने का उपदेश दिया और चारित्र का महत्व बताया है ।[12] उन्होंने कहा है कि मद्यपान आदि का दुर्व्यसन जिस राजा को लग जाता है, तो वह शिकार आदि व्यसनों में शरसंधान की रुचि रखने लगता है । कमलों के संकुचित होने पर उसमें प्रेम व्यर्थ समझता है एवं मदमत्तावस्था में किसी को दर्शन भी नहीं देता, मित्रों के विषय में उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । इस प्रकार मद्य का प्रभाव इतने समर्थ लोगों पर भी बहुत बुरा पड़ता है, इसलिए विचार करके हे सज्जनो ! इससे मुख मोड़ लो ।[13] द्विसंधान में राम और युधिष्ठिर के प्रति दिये गये उपदेश जिस प्रकार से जन साधारण के लिए शिक्षाप्रद हैं, उसी प्रकार सप्तसंधान में विद्यमान उपदेश प्राणी मात्र के कल्याण के सम्पादक हैं । दोनों कवि उपदेश प्रधान वर्णन शैली में निपुण हैं ।

धनंजय ने कौरव पाण्डव युद्ध को विस्तार के साथ वर्णित किया, किन्तु मेघ-विजय ने उसे अतिसंक्षिप्त रूप में दिया है. जिसके साथ जिनेन्द्र महाप्रभु द्वारा कामशत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त करने का भी वर्णन है । द्विसंधान एवं सप्तसंधान दोनों महाकाव्यों में दार्शनिक तत्त्व विद्यमान हैं । धर्नंजय पंचपरमेष्ठी की स्तुति करते हुए ज्ञान दर्शन चारित्र की महिमा और मोक्ष के मूलभूत महाव्रतों को श्रेष्ठ कहते हैं ।[14] मेघविजय ने भी दर्शग ज्ञान चारित्र की विशेषता बतलायी है ।[15] सम्यग्ज्ञान का महत्व बतलाते हुए मेघविजय इस प्रकार कहते है—

> येन स्वयं संबोधेन स्वामिनश्च रणाश्रयः ।
> कृतस्तेनाद्वैतभावोऽन्वभाव्यत स्वनन्दनात् ।। —सप्त० ६/२३

जो बिना किसी के सिखाये अपने ही सम्यग्ज्ञान से भगवान जिनेन्द्र के चरण का आश्रय ग्रहण करता है, वह उसी रूप से सजातीय-विजातीय स्वगत भेदशून्य तत्व में अपना अनुभव प्राप्त करके अद्वैतभाव में स्थिर हो जाता है और अपने आपको कृतार्थ कर लेता है अथवा आत्मा में लीन होकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लेता है । इसी सन्दर्भ से चारित्र का महत्व बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

> मुक्ते मुक्तेऽविमृश्यैव बलमायोजयंजयम् ।
> लभेत् चेतः प्रसरं प्राप्य जाप्यस्थिराशयः ।। —सप्त० ६/२१

यह त्थाज्य है और यह ग्राह्य है । इस बात को भली-भांति विचार करके

अपनी शक्ति का संचय करता हुआ, अपने मनन में स्थिर चित्त होकर चित्त प्रकाश को प्राप्त करने वाला निश्चित रूप से विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नत्रय का महत्व दोनों में बतलाया गया है, किन्तु सप्तसंधान में आत्म प्राप्ति की श्रेणी विशेष गुण-स्थानों का भी महत्वपूर्ण ढंग से प्रतिपादन है। दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन द्विसंधान की अपेक्षा सप्तसंधान में अधिक किया गया है। काव्य के वर्णनीय अन्य विषयों के प्रतिपादन में धनंजय को अधिक सफल कहा जा सकता है क्योंकि द्विसंधान में सप्तसंधान की अपेक्षा सरलता है और विषयों का सामान्य चित्रण किया गया है, जिससे जन साधारण के लिए वह काव्य सरल प्रतीत होता है। सप्तसंधान महाकाव्य विद्वानों की कसौटी कहा जा सकता है। यह काव्य जन साधारण की अपेक्षा काव्यतत्ववेत्ताओं और चमत्कृतिपूर्ण रचना करने वाले मनीषियों के लिए अधिक उपादेय है। इस प्रकार सप्तसंधान गम्भीर विषयों से विभूषित है। अतएव वह 'विद्वत्समाज में अधिक समादर का भाजन है।

सप्तसंधान तथा राघवपाण्डवीय

संधान महाकाव्य की श्रेणी में ही राघवपाण्डवीय काव्य परिगणित किया गया है क्योंकि यह भी महाकाव्य की सभी विशेषताओं से युक्त है। कविराज सूरि (१२वीं शती) के सामने संधान काव्य का प्रशस्त मार्ग विद्यमान था। उन्होंने उसे अधिक परिष्कृत एवं संशोधित कर लोकप्रिय बनाया है। राघवपाण्डवीय में रामचन्द्र और पाण्डवों का वर्णन किया गया है, जो सप्तसंधान में भी प्राप्त होता है किन्तु राघवपाण्डवीय का सम्पूर्ण कथानक रामायण और महाभारत से लिया गया है, जबकि सप्तसंधान में रामचन्द्र और श्रीकृष्ण से संबंधित कथानक त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित नामक पुराण काव्य से लिया गया है, इसलिए दोनों के वृतान्तों में कुछ भिन्नता अवश्य दिखलायी पड़ती है।

राघवपाण्डवीय में महाकाव्य के सभी लक्षण प्राप्त होते हैं जो सप्तसंधान में भी उपलब्ध हैं। कविराजसूरि दो कथाओं के एक साथ संयोजन में सफल तो रहे किन्तु उन्होंने कुछ स्थलों पर विपरीत क्रम अपनाया है। यथा-रावण के द्वारा जटायु की दुर्दशा से मिलाकर भीम के द्वारा जयद्रथ की दुर्दशा का वर्णन किया गया है। मेघनाद के द्वारा हनुमान् के बंधन से अर्जुन के द्वारा विराट नगर में दुर्योधन के अवरोध को मिलाया गया है। रावण के पुत्र देवान्तक की मृत्यु के साथ अभिमन्यु के निधन का वर्णन हुआ है। सुग्रीव के द्वारा कुम्भराक्षसवध से कर्ण के द्वारा घटोत्कच वध को मिलाया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वत्र उपक्रम का निर्वाह पूर्ण रूप से किया गया है। सप्तसंधान में ऐसा कोई स्थल नहीं है, जहां कवि को

घटना का विपरीत क्रम अपनाना पड़ा हो। केवल महावीर से सम्बन्धित गर्भहरण घटना को कवि ने सभी पक्षों के साथ अद्भुत सूझबूझ के साथ उपस्थित किया है—

देवावतारं हरिणेक्षितं प्राग्,
द्राग् नैगमेषी नृपधाम नीत्वा।
तं स्वादिवृद्धयाशुभवर्द्धमानं,
सुरोऽप्यनंसीदपहृत्य मानम्॥ —सप्त० १/७९

महावीर पक्ष-ऋषभदत्त के घर से सिद्धार्थ के घर में रखकर अर्थात् ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ को हरण कर सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला के गर्भ में आरोपित कर, धन धान्यादि की वृद्धि कर, नैगमेषी ने मान त्याग कर वर्द्धमानसंज्ञक ज्ञानादि गुण पूर्ण तीर्थंकर को नमस्कार किया।

अन्यपक्ष—इन्द्र ने पहले दिव्यांश से पूर्ण अवतीर्ण महापुरुषों को देखा और नैगमेषी नामक देव ने शीघ्र राजाओं के घरों में आकर धनादि की वृद्धि की। प्रारम्भ से ही ज्ञानादि गुणों से पूर्ण महापुरुषों को देखकर मान को त्याग कर अमरों ने भी नमस्कार किया।

अद्मुत नायक से संबंधित उक्त घटना को सभी पक्षों में सहज रूप से वर्णित किया गया है। सम्पूर्ण महाकाव्य में विधिवत् घटनाओं की संयोजना है, किन्तु कविराज सूरि ने विपरीत क्रम अपनाया है। इस दृष्टि से राघवपाण्डवीय से सप्तसंधान का स्थान महत्वपूर्ण है। राघवपाण्डवीय में सभी वर्णन सरल रीति से प्रस्तुत किये गये हैं। इससे यह काव्य जनप्रिय हो गया है। सप्तसंधान की रचना तीर्थंकरों के चरित को ध्यान में रखकर की गयी है, इसलिए 'राघवपाण्डवीय' से इसका विशेष साम्य नहीं है, मात्र एक परम्परा की कृतियां हैं। 'सप्तसधान' की फल प्राप्ति मोक्ष है, इसलिए इसका मुख्य रस शान्त है। 'राघवपाण्डवीय' का प्रधान रस वीर है। इन दोनों महाकाव्यों में यद्यपि भिन्न परम्पराश्रित (सप्तसंधान-जैन परम्पराश्रित तथा राघवपाण्डवीय—जैनेतर परम्पराश्रित) होने के कारण वैषम्य होने पर भी अपने-अपने अभीप्सित उद्देश्य में पूर्ण सफल हैं। इनके अतिरिक्त हरदत्त रचित राघवनैषधीय संध्याकरनन्दीकृत-रामचरित आदि काव्य भी श्लिष्ट काव्यों में विशिष्ट स्थान रखते हैं, किन्तु वे महाकाव्य की सीमा से परे हैं, इसलिए उनका इस तुलनात्मक विवेचन प्रसंग में वर्णन नहीं किया जा रहा है।

सन्दर्भ :

१. सप्तसन्धान ग्रन्थ प्रशस्ति, श्लोक ३
२. द्विसन्धान महाकाव्य, १/६-८
३. सप्तसन्धान, १/५-१५
४. द्विसन्धान, १/९
५. वही, १/१०-५०
६. सप्तसन्धान, १/१८-३८
७. वही, १/३८-५२
८. द्विसन्धान, १/१७
९. सप्तसन्धान, १/५४
१०. द्विसन्धान महाकाव्य, ४/६-७
११. सप्तसन्धान, ७/३८
१२. वही, ७/४०
१३. वही, ७/९
१४. द्र० द्विसन्धान, १२/४७-५०
१५. सप्तसन्धान, ७/३९

सहायक ग्रन्थ सूची

१. अनुयोगद्वारसूत्र भाग १-२, आर्यरक्षित, अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६७ ई०।

२. अनेकार्थरत्नमंजूषा, सम्पा० हीरालाल रसिकदास कापडिया, श्रेष्ठी देवेन्द्रलाल भाई पुस्तकोद्धार संस्था १९३३ ई०।

३. अनेकार्थसाहित्य-संग्रह, सम्पा० मुनिचतुरविजय, श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावली १९३५ ई०।

४. अभिज्ञानशाकुन्तल—कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १९७२ ई०।

५. अभिनव भारती (प्रथम तथा तृतीय भाग) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा।

६. अमरकोष अमरसिंह, सम्पा० श्री पं० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १९७० ई०।

७. अर्जुनपताका—श्री जिनदत्त सूरीश्वर श्री हेमकल्प भाषान्तर सहित, श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावली, वि०सं० १९९७ ई०।

८. अर्वाचीन संस्कृत साहित्य—प्रा० श्रीधर भास्कर वर्णेकर, नागपुर विश्वविद्यालय, मॉडर्न बुक स्टोर नागपुर, १९६३ ई०।

९. अलंकारचिन्तामणि—अजितसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७३ ई०।

१०. अलंकारसर्वस्व—रुय्यक, मोतीलाल, बनारसीदास, वाराणसी १९६५ ई०।

११. अलंकारमहोदधि—नरेन्द्रप्रभुसूरि, सम्पा० लालचन्द्र भगवानदास गांधी, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा १९४२ ई०।

१२. अष्टाध्यायी—पाणिनि मुनि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, १९६५ ई०।

१३. अर्हद्गीता—मेघविजयगणि, सम्पा० एस०के० जैन कोटेचा, महावीर ग्रन्थमाला धूलिया।

१४. आदिपुराण—जिनसेन, सम्पा० पं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९६३-१९६५ ई०।

१५. आत्ममीमांसा—भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशन संस्थान, काशी १९१४ ई०।

१६. आवश्यकनिर्युक्ति—भद्रबाहु स्वामी, आगमोदय समिति, मुम्बई १९२८ ई०।

१७. उत्तराध्ययनसूत्र, संशो० भगवान विजय, कलकत्ता, वि०सं० १९३६ ई०।

१८. उत्तररामचरित—भवभूति, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९७३ ई०।

१९. ऋग्वेद संहिता, सम्पा० पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, वसन्त सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला-वलसाड।

२०. ऐतिहासिक सज्झायमाला, सम्पा० विजयधर्मसूरि, श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थ-माला भावनगर, १९७३ ई०।
२१. कविरहस्यम्—हलायुध, निर्णय सागर प्रेस बम्बई।
२२. कादम्बरी—वाणभट्ट, सम्पा० श्री कृष्णमोहन शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, वि०सं० २०२८।
२३. काव्यादर्श—दण्डी, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, वि०सं० २०२८।
२४. काव्यकल्पलतावृत्ति—अमरचन्द्र अरिसिंह, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, वि०सं० १९८८।
२५. काव्यानुशासन—वाग्भट, सम्पा० पण्डित शिवदत्त, निर्णय सागर प्रेस मुम्बई १९१५ ई०।
२६. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र सूरि, निर्णय सागर प्रेस, १९३४ ई०।
२७. काव्यप्रकाश—मम्मट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी १९६० ई०।
२८. काव्यप्रकाश—मम्मट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि०सं० २०००।
२९. काव्यमीमांसा—राजशेखर, विहार भाषा परिषद्, पटना, १९६५ ई०।
३०. काव्यालंकार—भामह, विहार भाषा परिषद, पटना, १९६२ ई०।
३१. काव्यालंकार—सारसंग्रह—उद्भट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन—प्रयाग १९६६ ई०।
३२. किरातार्जुनीय—भारवि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १९६८ ई०।
३३. कुमारसंभव—कालिदास, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी १९५१ ई०।
३४. कुवलयमालाकहा—उद्योतनसूरि, सम्पा० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई १९५९ ई०।
३५. गोम्मटसार जीवकाण्ड—नेमिचन्द्राचार्य, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७ ई।
३६. चन्द्रप्रभा—मेघविजयगणि, जैन श्रेयस्कर मण्डल, म्हेसाणा १९२८ ई०।
३७. चरणानुयोग प्रवेशिका, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली १९७४ ई०।
३८. चन्द्रालोक—जयदेव, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी वि० सं० १९९३।
३९. चतुर्विंशतिसन्धानकाव्य—जगन्नाथ पाण्डुलिपि वि०सं० १६९९, ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला आरा में विद्यमान।
४०. छन्दप्रभा—श्री रामसम्मुख द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी, १९६० ई०।

४१. जम्बूदीवपण्णतिसंगहो—सम्पा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं प्रो० हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, १९५८ ई०।
४२. जिनरत्नकोश—श्री दामोदर सूनुहरि, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना १९४४ ई०।
४३. जैन आचार—डॉ० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी, १९६६ ई०।
४४. जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्यसंग्रह—सम्पा० जिनविजय, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, १९२६ ई०।
४५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, ५, ६ प्रका० पार्श्वनाथ शोध संस्थान, १९६७ ई०, १९६९ ई० एवं १९७३ ई०।
४६. जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास (गुजराती)—मुक्ति कमल जैन ग्रन्थमाला बड़ौदा, १९६८ ई०।
४७. संस्कृत साहित्यनो इतिहास—मैकडानल, गुर्जर अनुवादक—मोहनलाल पार्वती शंकर दवे, गुजराती साहित्य परिषद्, मुम्बई, वि०सं० १९७७।
४८. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग १-२, क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ १९७० ई०।
४९. जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग २,—हस्तीमल जी महाराज, जैन साहित्य इतिहास समिति जयपुर (राजस्थान) १९७४ ई०।
५०. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुर्जर)—मोहनलाल दलीचन्द देसाई, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फरेन्स ऑफिस मुम्बई १९३३ ई०।
५१. ज्ञाताधर्मकथा, त्रिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड पाथर्डी १९६४ ई०।
५२. तत्वार्थसूत्र—उमास्वामी, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी०नि०सं० २४७६।
५३. तत्वार्थसूत्र, विवेचक पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६ ई०।
५४. तिलोयपण्णती—यतिवृषभाचार्य, भाग १, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, वि०सं० २०००।
५५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग 1, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद् १९७४ ई०।
५६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (गुजराती अनुवाद) पर्व प्रथम, द्वितीय, श्री जैन धर्म प्रचारक सभा भावनगर, १९३३ ई०।
५७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (गुर्जर अनुवाद) पर्व ३-४-५-६ वि०सं० १९९७।

पर्व ७ वि०सं० १९९०।
पर्व १० वि०सं० १९८२ श्री जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर।
५८. दिग्विजय महाकाव्य—मेघविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, वि०सं० २००१।
५९. दिव्यावदान—सम्पा० डॉ० पी०एल० वैद्य, मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभंगा, १९५९ ई०।
६०. द्विसन्धानमहाकाव्य—धनंजय, सम्पा० प्रो० खुशालचन्द गोरावाला, भारतीय ज्ञानपीठ, १९७० ई०।
६१. द्वयाश्रयमहाकाव्य (कुमारपालचरित)—हेमचन्द्रसूरि, संशो० आवाजी विष्णु काक्षवटे, भाग १-२, निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९१५।
६२. देवागम (आप्तमीमांसा) वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट १९६७ ई०।
६३. देवानन्द महाकाव्य—मेघविजयगणि, सम्पा० पंडित वेचरदास, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, १९३७।
६४. धातुकाव्य—नारायण भट्ट, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई।
६५. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीका सहित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९९१।
६६. नाट्यशास्त्र—भरतमुनि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १९५५ वि०
६७. नाममाला—धनंजय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५०।
६८. नियमसार—कुन्दकुन्द, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९२६ ई०।
६९. नैषधीयचरित—श्री हर्ष, नारायणी टीकोपेतः, निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९३३ ई०।
७०. पद्मपुराण—रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८ ई०।
७१. पार्श्वनाथचरित—वादिराजसूरि, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई वि० सं० १९७३।
७२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—अमृतचन्द्रसूरि, परमसुख प्रभावक मंडल, बम्बई वी० नि० सं० २४३१।
७३. प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र, सम्पा० पं० महेन्द्रकुमार जैन, निर्णय सागर प्रेस वाराणसी, १९४१ ई०।
७४. प्राचीन भारत—राजवली पाण्डेय, नन्द किशोर एन्ड सन्स, चौक वाराणसी, १९६८ ई०।
७५. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल—विमल चरण लाहा, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ।
७६. भट्टिकाव्य—भट्टिकवि, भाग १-२-३, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस

बनारस १८५१-५२ ई० ।
७७. भविष्यदत्त कथा (चरित)—मेघविजय, दान दयामृत हिम्मत ग्रन्थमाला वि० सं० १९९२ ।
७८. भारतीयसाहित्यशास्त्र और काव्यालंकार—डॉ० भोलाशंक व्यास, चोखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९६५ ई० ।
७९. भौगोलिक विचारधाराएं एवं विधि तंत्र —डॉ० एस० डी० कौशिक, रस्तौगी बुक स्टोर, मेरठ १९७६ ई० ।
८०. महापुराण—जिनसेन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५१ ई० ।
८१. महाभारत—महर्षि व्यास, विराट उद्योत, भीष्म पर्व, चित्रशाला प्रेस पुणे शहर १९३१ ई० ।
८२. मेघदूत—कालिदास, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, वि० सं० २०२८ ।
८३. मेघदूतसमस्यालेख—मेघविजय, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७० ।
८४. युक्तिप्रबोधनाटक···मेघविजय, श्री ऋषभदेव केसरीमल जी श्वेताम्बर संस्था रतलाम, वि० सं १९८४ ।
८५. योगशास्त्र—हेमचन्द्रसूरि, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९२१ ।
८६. रघुवंशमहाकाव्य—कालिदास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी १९६१ ।
८७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—समन्तभद्र, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वी० नि० सं० २४९८ ।
८८. रसिकरंजक—लक्ष्मण भट्ट, काव्य माला चतुर्थ गुच्छक में प्रकाशित ।
८९. रामकृष्णविलोमकाव्य—देवज्ञ श्री सूर्यकवि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १९७० ।
९०. रामचरित—सन्ध्याकरनन्दी, सम्पा० हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता १९१० ई० ।
९१. राघवपाण्डवीय—कविराज, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी १९६५ ई० ।
९२. राघवनैषधीय—हरदत्त सूरि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी १९६९ ई० ।
९३. राघवयादवीय—वैंकटाध्वरि, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना ।
९४. रावणार्जुनीय—भट्टभौमिक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०० ।
९५. लघुसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी १९७१ ई० ।
९६. लघुत्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित (गुर्जर अनुवादक)—मफत लाल झवेरचंद

खैतरपालनीयपोल अहमदाबाद, वि० सं० २००४।
९७. वर्ष प्रबोध— मेघविजयगणि, अनु० पं० भगवानदास जैन, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी ।
९८. वाग्भटालंकार—वागभट, चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी, १९७०।
९९. वासवदत्ता—सुबन्ध, आशुबोध विद्याभूषण कलकत्ता, १९३३ ई।
१००. विजयदेवमहात्म्य विवरण—मेघविजय, जैन साहित्य समिति, अहमदाबाद वि० सं० १९९८ ।
१०१. विजय प्रशस्ति महाकाव्य, संशो० पं० हरगोविन्द वेचरदास, श्रेष्ठी भूराभाई हर्षचन्द्र यंत्रालय अहमदाबाद, वी० नि० सं० २४३७ ।
१०२. विविधतीर्थ कल्प—जिनप्रभसूरी, सम्पा० मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, १९३४ ई० ।
१०३. वीशायन्त्र विधि—मेघविजयगणि, महावीर ग्रन्थमाला, धूलिया ।
१०४. वृत्तरत्नाकर—भट्टकेदार, चौखम्भा संस्कृय सीरीज ऑफिस वाराणसी वि० सं० २९८४।
१०५. वृत्तमौक्तिक (दुर्गमबोध टीका युक्त) सम्पा० विनयसागर, प्रका० राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, १९६५।
१०६. व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस बनारस, वि० सं० १९९३ ।
१०७. शतपथ ब्राह्मण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९३७ ई० ।
१०८. शब्दकल्पद्रुम भाग २५, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६१ ई० ।
१०९. शब्दालंकार साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण—डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन १९७७ ई० ।
११०. शान्तिनाथचरित—मेघविजय, जैन विविध शास्त्र माला, वी० नि० सं० २४४४।
१११. शिशुपाल वध—माघ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई शाके १८१२ ।
११२. शृंगार प्रकाश—भोज, सम्पा० डॉ० बी० राघवन, मद्रास, १९६३ ई० ।
११३. सप्तसन्धानमहाकाव्य—मेघविजय, संशो० पं० हरगोविन्ददास, जैन विविध शास्त्रमाला ऑफिस बसारस, १९१७ ई० ।
११४. सप्तसन्धान महाकाव्य—मेघविजय, सारणी टीका सहित, श्री जैन साहित्यवर्धक सभा, सूरत वि० सं० २००० ।
११५. समयसार—कुन्दकुन्द, श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २५०१।

११६. सरस्वती कण्ठाभरण—भोज, चौखम्भा ओरियन्टलिया, वाराणसी १९७६ ई० ।
११७. सरस्वती कण्ठाभरण—भोज, वार्ड आसाम गोहाटी, १९६७ ई० ।
११८. संस्कृत कविदर्शन—भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी वि० सं० २०१७ ।
११९. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९६० ई० ।
१२०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर वाराणसी, १९६८ ई० ।
१२१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वी० वरदाचार्य, अनु० डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानोदय प्रेस इलाहाबाद, १९६२ ई० ।
१२२. सागारधर्मामृत—आशाधर, भंवरीदेवी चांदमल पाण्डया सुजानगढ़, १९७२ ई० ।
१२३. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ, सम्पा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्यमान वाराणसी, १९७० ई० ।
१२४. सुवृत्ततिलक—क्षेमेन्द्र, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९२७ ई० ।
१२५. सुश्रुत संहिता पूर्वार्ध, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी वि० सं० २०३३ ।
१२६. स्यादवादमंजरी—मल्लिषेण सूरि, श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल गुजरात १९३५ ई० ।
१२७. हलायुध कोश, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला १२, शक सं० १८०९ ।
१२८. हस्तसंजीवन—मेघविजय, हिम्मतराम साराभाई अहमदाबाद, वि० सं० २००४ ।
१२९. हिन्दी काव्यालंकार - रुद्रट, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९६६ ई० ।
१३०. हिन्दी काव्यालंकारसूत्राणि—वामन, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी ।
१३१. हिन्दी नाट्यदर्पण—रामचन्द्र गुणचन्द्र, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१ ई० ।
१३२. हेमशब्दचन्द्रिका—मेघविजयाणि, चापसी खीयसी कोठरा, (कच्छ) ।
१३३. A History of Sanskrit Literature—A B. Keith, Oxford University, 1953.
१३४. Ancient Geography of India—A. Kanigham, Calcutta, 1924.
१३५. Buddhist India—T. W. Rhys Davids, Publication Sushil

Gupta, Calcutta, 1950.

१३६. History of Classicol SansKrit Literature—M. Krishnamacharier, Motilal Brnaresidas, Delhi, 1907.

१३७. Prakrit Proper Name—Dr. Mohanlal Mehta & Dr. Rishabha Chandra, L. D. Institute of Indology, Ahemdabad, India. Part I, 1970 & Part II, 1972.

१३८. All India Oriental Conference Report, 28th Session, 1976, Kurkshetra University, India.

१३९. कादिम्बिनी, अप्रैल १९७१, दिल्ली।

१४०. पुराणम्, जनवरी १९६४, कलकत्ता।

१४१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १ जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

१४२. " " भाग ३, किरण २-३

१४३. " " भाग ५, किरण ४,

१४४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, वर्ष ५५, अंक ४।

१४५. संशोधन मुक्तावली, सर सातवां, विदर्भ संशोधन मण्डल ग्रन्थमाला ३।

१४६. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, सम्पा० पं० कैलासचन्द्र शास्त्री आदि, मंत्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद, सागर, १९६७ ई०।

१४७. श्री मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ, सम्पा० मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज, प्रका०; मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ, समिति जोधपुर, व्यावर १९३८ ई०।

इस पुस्तक को पढ़ने पर आपको कैसा लगा? आपके सुझाव हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, इससे भविष्य में हम आपकी अधिक सेवा कर सकेंगे। यदि आप चाहते हैं कि हमारे प्रकाशनों की सूचना नियमित रूप से आपके पास पहुंचती रहे तो हमें एक कार्ड पर अपना पता लिख भेजिए। साथ ही यह भी कि भविष्य में आप किस विषय की पुस्तक पढ़ना चाहते हैं, उस विषय की उत्तम संग्रहणीय, विश्वस्त सामग्री का चयन हमारा काम, वह भी बिलकुल आपकी पसन्द के अनुरूप।

—प्रकाशक

हमारे द्वारा प्रकाशित अन्य साहित्य

JAINA ASTRONOMY	Dr. S. S. Lishk.	Rs. 200/-
INTRODUCTION TO MYTHOLOGY	L Spence.	Rs. 250/-
THE TAO OF JVIN SCIENCES	Prof. L. C Jain.	Rs 300/-
SARASVATI IN JAIN ART & CULTURE	G. L. Amar	Rs. 450/-
विश्व साहित्य की झांकियां	डॉ० जगदीशचंद जैन	50·00 रु०
भारतीय नाट्य सौन्दर्य	डॉ० मनोहर काले	50·00 रु०
मैं अभी मौजूद हूं (ग़ज़ल)	अशोक वर्मा	25.00 रु०
मेमसाब का दस्ताना (व्यंग्य)	शरदेन्दु	25·00 रु०
महिलायें और संसद	डॉ० आर० के० जैन	150·00 रु०
जयेन्द्र योग प्रयोग	डॉ० रमेश कुमार	50·00 रु०
स्वास्थ्य और सौन्दर्य रक्षा	सं०—डॉ० अरुणा आनन्द	40·00 रु०
अनिष्ट ग्रह चिकित्सा	दीक्षित+पांडे	20·00 रु०
भुत विधा	डॉ० एम० यू० वहादुर	50·00 रु०
बहुकभैरव साधना	डॉ० रुददेब त्रिपाठी	40·00 रु०
श्री सिद्धचक्र मंडल विधान	सं०—आचार्य विमल सागर	75·00 रु०
जिनेन्द्र पूजांजलि	सं० –डॉ० श्रेयांसकुमार जैन	10·00 रु०
मध्य प्रदेश के प्राचीन कीर्ति स्थल	डॉ० रामनायणसिंह	10·00 रु०
तंत्रदर्शन (दो खंड)	पं० गोविन्द शास्त्री	65·00 रु०
साधना और संस्कार (दो खंड)	,,	80·00 रु०
अंक दर्शन	,,	25·90 रु०
प्रायोगिक तंत्र	,,	40·00 रु०

लेखकों से अप्रकाशित पांडुलिपियां/शोध प्रबंध प्रकाशनार्थ आमंत्रित हैं।

मेघप्रकाशन, बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-110053

बहुचर्चित जैन शोध पत्रिका

णाणसायर

The Ocean of Jaina knowledge

'णाणसायर' जीवन के दृष्टिकोण को विशाल बनाने वाला ठोस चिंतनमय श्रुतज्ञान लोगों के समक्ष प्रस्तुत करता है। —युवाचार्य डॉ शिवमुनि

'णाणसायर' सरल व सहज बुद्धिगम्य शैली में सत्य की परिभाषा ही नहीं अपितु सत्य की अनुभूति का उपाय भी दर्शाती है। —परमविदुषी मां कौशल

'णाणसायर' में दर्शन और धर्म की अनेक गुत्थियों को सरलता से सुलझाया जाता है। —प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

'णाणसायर' एक उत्कृष्ट पत्रिका है। इसमें बहुत ही अच्छे लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। —डॉ० दलसुख मालवणिया

जैन धर्म-दर्शन-इतिहास और साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए 'णाणसायर' अपने आप में वस्तावेज स्वरूप है। —डॉ० कमलचन्द सोगानी

'णाणसायर' में गम्भीर सामग्री, मौलिकता एवं शुद्धमुद्रण देखकर आश्चर्य-चकित हूं। आपने 'णाणसायर' में दुर्लभ सामग्री का भी प्रकाशन कर एक महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। —डॉ० राजाराम जैन

'णाणसायर' में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। सभी जैन अनुशीलन संस्थाएं इसका स्वागत करेगी। पूर्ण बिश्वास है कि 'णाणसायर' श्रमण संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की सुदृढ़ स्थापना में अवश्यमेव सफल होगी। —डॉ० रामचन्द द्विवेदी

सभी दृष्टियों से तथा सभी प्रकार के पाठकों के लिए 'णाणसायर' उत्तम कोटि की पत्रिका है। पूर्ण विश्वास है कि सामाजिक जागरण में यह पत्रिका अपनी अहं भूमिका निभायेगी। —डॉ० भागचन्द जैन

'णाणसायर' अमोघ संजीवनी की भांति ज्योतिपुंज है। 'णाणसायर' ने जैन शोध पत्रिकाओं में अपना शीर्षस्थ स्थान बना लिया है। —डॉ० फूलचन्द 'प्रेमी'

'णाणसायर' की सामग्री अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक है। अनुपम, अद्भुत, मौलिक। All in One —डॉ० प्रेमसुमन जैन

'णाणसायर' पत्रिका संक्रमण काल से गुजरने वाली एवं भटकी मानवता के लिए प्रकाश स्तम्भ बनेगी। —प्रो० डॉ० राय अश्विनी कुमार

'णाणशायर' 'होनहार विरवान के होत चिकनेपात' कहावत को चरितार्थ करता है। यथाकलित सामग्री की गुणात्मकता की दृष्टि से अपने ज्ञानसागर नाम को अन्वर्थ करता है। —डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

'णाणसायर' में रचनाओं का चयन बड़ी सूझ-बूझ से किया जाता है। सभी रचनाएं सजग अध्येताओं को संतुष्ठ करने में सक्षम हैं। —डॉ० अजितशुक्लदेव शर्मा

शुल्क : एक वर्ष : 50 रु०; पांच वर्ष : 200 रु०; दस वर्ष : 350 रु०

प्राप्तिस्थान : मेघप्रकाशन, बी-5/263, यमुना विहार, दिल्ली-110053

ANCIENT GEOGRAPHY OF AYODHYA

In this book a brief and pragmatic study of a crucial subject, the author has done yeoman's job in unearthing many things hither to unsurveyed. His contribution to the subject is of great importance to people working to throw light upon ancient city of Ayodhya. In the present context of Mandir and so called Masjid dispute the book deserves commendation because of its impartial representation of myth and truth, the author from time to time was personally involved in the debates and discussions organised at various places among world renowned scholars. By virtue of his being an eminent geographer in the field of ancient, histrical an cultural arena his study spans mythological kingdoms of yore and various principlities of suceeding periods in a congruent manner. In this way it will definitely help budding scholarsas as well as those who are intrested inthis work and also to those broad minded people bereft of political learning and prejudices.

I.S.B.N. 81-7277-024-3 Rs. 150

आप भी अनुभव कर होंगे, हमारा जीवन असुरक्षित होता जा रहा है, दानवी क्रूरता ने भय का पाश-जाल बिछा दिया है, जिसमें प्रत्येक जन उलझ-फंस गया है। हमारी आत्मरति परहन्ता की सीमा तक विकृत हो चुकी है, व्यक्ति मन से निर्बल और तन से निःसत्त्व होकर ऐसा जीवन जी रहा है जो उसकी विवशता अथवा मृत्यु की प्रतीक्षा मात्र बन गया है। इसका कारण है ? हमारा आस्थाहीन जीवन-दर्शन, मूल्यहीन सामाजिक चेतना, नीतिशून्य राजनैतिक चरित्र और लक्ष्यहीन शिक्षा।

और इनके समाधान/सफल मार्गदर्शन के प्रतीक रूप में—

'सहज-आनन्द' (त्रैमासिक पत्रिका)

सहज आनन्द ?

- एक विचार यज्ञ है जिसके सुवासित धूम्र से आपका मन मन्दिर-सा पवित्र हो जाएगा।
- एक शुभ संकल्प है जो समाज को आस्थावान बनाएगा।
- एक इन्द्रधनुषी स्वप्न है जिसका प्रत्येक रंग आपको सहज विश्वास से अनुप्राणित व उल्लसित करता रहेगा।
- एक सुदृढ़ प्रयास है जो भौतिक विज्ञान की चमक से हतप्रभ होते जा रहे देशीय गौरव को भास्वर रूप में स्थापित कर सकेगा।
- परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए रुचि सम्पन्न, ज्ञानवर्द्धक, मनोरंजक, पठनीय सामग्री से पूर्ण एक सम्पूर्ण पत्रिका।

मूल्य : एक प्रति २० रु० ; वार्षिक : ७५ रु०, तीन वर्ष : २०० रु०

संपादक : डॉ॰ [illegible]

अरिहन्त gyanmandir@kobatirth.org
२३९ गली कुंजस, दरीबा, दिल्ली-११०००६
फोन : 3278761